Prahladh Patrika

1984

G. K. V.

HARDWAR

प्रह्लाद

(त्रैमासिक हिन्दी-पत्रिका)

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार

[वर्ष—१९८४ (जनवरी से मार्च तक) अंक—१]

प्रधान संरक्षक

माननीय बलभद्र कुमार हूजा

अवकाश प्राप्त आई० ए० एस० कुलपति

संरक्षक

श्री रामप्रसाद वेदालंकार

आचार्य एवं उपकुलपति

सम्पादक

डा० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०

अध्यक्ष, हिंदी-विभाग

सहायक सम्पादक

डा० सत्यव्रत 'राजेश' एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रवक्ता, वेद-विभाग

डा० भगवानदेव पाण्डेय एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रवक्ता, हिंदी विभाग

डा० रामप्रकाश एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रवक्ता, संस्कृत-विभाग

डा० विजयपाल शास्त्री एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रवक्ता, दर्शन-विभाग

छात्र-सम्पादक

शिरोमणि भट्ट

छात्र एम०ए० (द्वितीय वर्ष)

पवन कुमार

छात्र एम०ए० (द्वितीय वर्ष)

महेन्द्र प्रसाद ध्यानी

छात्र-विद्यालंकार (द्वितीय वर्ष)

अनुक्रमणिका

क्रम संख्या	विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
१—	कविता	राधेश्याम 'आर्य' विद्यावाचस्पति	१
२—	आर्यसमाज में सत्यार्थप्रकाश का स्थान	महात्मा मुंशी राम जी	२
३—	स्वामी श्रद्धानन्द का शिक्षा दर्शन–३	माननीय बलभद्र कुमार हूजा	७
४—	वैदिक रश्मि	आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार	११
५—	मित्रता बड़ा अनमोल रत्न है	डा० विजयपाल शास्त्री एम.ए., पी-एच.डी.	१३
६—	गोहत्या और वैज्ञानिक	डा० त्रिलोक चन्द्र एम.ए., पी-एच.डी.	१८
७—	संविधान का पचीसवाँ अनुच्छेद	डा० विजयपाल शास्त्री एम.ए., पी-एच.डी.	२१
८—	पुस्तक समीक्षा	डा० विजयपाल शास्त्री एम.ए., पी-एच.डी.	२४
९—	प्रगतिवाद	शिरोमणि भटट्	२६
१०—	समस्याओं का देश-भारत	नामदेव दुधाटे एम.ए.	३१
११—	हिन्दी गद्यकाव्य : उद्भव और विकास	पवन कुमार	३८
१२—	भारतीय लोकगीतों की परम्परा	ज्ञानचन्द शास्त्री एम.ए.	४२
१३—	सत्यं-शिवं-सुन्दरम्	सभाबहादुर सिंह	४७
१४—	राष्ट्रीय एकता	महेन्द्र प्रसाद ध्यानी	५२
१५—	राष्ट्रीय एकता	भोपाल सिंह त्यागी	५७
१६—	पुस्तक समीक्षा	डा० विजयपाल शास्त्री	६१
१७—	सम्पादकीय वक्तव्य	सम्पादक	

प्रह्लाद

त्रैमासिक हिंदी पत्रिका

वर्ष : 1984 अंक : 1

कविता

ज्योतिर्मय हो वसुधा सारी

(रचयिता - राधेश्याम "आर्य" विद्यावाचस्पति)

फैले वेदों का प्रकाश फिर,
जगे धरा पर नवल आश फिर,
ऋषियों के निर्देशन में नव—
हो भारत का शुचि विकास फिर।

वैदिक धर्म ध्वजा लहराए,
भारत का नर देव कहाए,
पुनः पठन-पाठन वेदों का—
हो भू पर, नव स्वर गहराए।

आर्य बनें वसुधा के वासी,
जाग्रत हों सब भूमि निवासी,
सत्य-धर्म के लिए लड़ें हम,—
निर्भय होकर भारत-वासी।

दीप निरन्तर जले ज्ञान का,
आवाहन हो नव विहान का,
धर्म समन्वित अन्वेषण हो—
वसुधा पर फिर नव्य ज्ञान का।

ज्योतिर्मय हो वसुधा सारी,
नष्ट-विनष्ट रजनि हो कारी,
सत्य-शिवं सुदरन्ता पूरित—
जीवन पद्धति बने हमारी॥

("आर्य गज़ट" नवम्बर 1982 पृ०-11 से साभार)

आर्यसमाज में सत्यार्थप्रकाश का स्थान

(ले०—महात्मा मुंशी राम जी)

राजकर्मचारियों ने, ईसाईपादरियों और गुप्तचरों की रिपोटों पर, सत्यार्थप्रकाश को "आर्यसमाज की बाइबल" The Bible of (Aryasamajs) की उपाधि दी है। और है भी यही ठीक। "बाइबल" के अर्थ हैं पुस्तक के। और पुस्तक बना है पुस्त् पोसयति-ते) से जिसके अर्थ आप्टे के कोष में लिखे हैं—To bind, tie (बांधना, गूंथना)—प्रत्येक सम्प्रदाय के धर्मग्रन्थ का नाम पुस्तक (बाइबल, कुरान, ग्रन्थ—एकार्थवाची शब्द ही हैं) केवल इसीलिए नहीं कि उसे ग्रन्थित करके उसकी जिल्द बांधी गई है, प्रत्युत इसलिए भी कि साम्प्रदायिक आचार्यों के आदेश इस मत के अनुयायियों को एक दूसरे के साथ जोड़ते है।

सत्यार्थप्रकाश का आर्यसमाज में वही स्थान है जो ईसाई चर्च में इंजील (Bible) का, महम्मदी मत में कुरान का, तथा खालसा ग्रन्थ में ग्रन्थसाहब का है। यह व्यवस्था बृटिश राज्य की ओर से भी दी जा चुकी है। जब सं० 1908 ई०मेंब पंजाब के गुप्तचर दल ने रिपोर्ट की थी कि "जब तक सत्यार्थप्रकाश को जब्त नहीं किया जाता तब तक वह अमन के जिम्मेवार न होंगे, "उस समय बृटिश गवर्नमेन्ट ने पांच विचारशील उच्च पदाधिकारियों को इस विचार के लिए नियत किया था। उन महानुभावों ने सत्यार्थप्रकाश का भली प्रकार अनुशीलन करके व्यवस्था दी कि जब तक गवर्नमेन्ट बाइब्ल, कुरानादि का प्रचार रोकने का जिम्मा नहीं उठाता तब तक सत्यार्थप्रकाश को हाथ लगाना अन्याय होगा, क्योंकि इस ग्रंथ का आर्यसमाज में वही पद है जो बाइब्ल का ईसाईयों में। सत्यार्थप्रकाश पुस्तक है, इसके ग्रंथकर्ता को हम जानते हैं, वह आर्यसमाज के आचार्य थे। और इसलिए अपने सम्प्रदाय के आचार संगठन के लिए उन्होंने वह ग्रथ रचा। इसलिए जो मान एक सम्प्रदाय के धर्म ग्रंथों का होना चाहिए, उसका अधिकार सत्यार्थ-प्रकाश को भी है परन्तु इससे बढ़कर उसका मान करना मनुष्यों को धर्म के आदर्श से गिराना है।

बाइब्ल और कुरान के मुकाबिले में सत्यार्थ-प्रकाश की स्थिति कुछ ऊंची है। बाइब्ल ईसामसीह का लिखा हुआ नहीं, उसके शिष्यों ने उसके काम की समाप्ति के वर्षों बाद अपनी अपनी स्मरण शक्ति पर निर्भर करके उसके जीवन की घटनाओं और

उसके उपदेशों को एकत्र किया। यही व्यवस्था कुरान ग्रंथ साहब इत्यादि की है। परन्तु दयानंद ने अपना ग्रंथ स्वयं लिखवाया और छपाई के समय उसके कुछ फार्मों के प्रूफ भी देखे, इसीलिए उसके ग्रन्थ पर उस प्रकार का व्याघात दोष नहीं लग सकता जिस प्रकार अन्य मतों सम्बन्धी धर्म ग्रंथों पर। लिखने का तात्पर्य यह नहीं है कि जो परस्पर विरुद्ध तथा असम्भव लेख सन्तमेथ्यू, सन्त ल्यूक, सन्त जानादि ने लिखे हैं उनके लिए मसीह जिम्मेवार हैं। शायद मसीह के सामने ये लेख निकलते तो वह स्वयम् इनका संशोधन कर देता—तात्पर्य केवल यह है कि जहां सम्भव है, कि इन्जील, कुरानादि में बहुत से भाव उन साम्प्रदायों के आचार्यों के मन्तव्यों के विरुद्ध घुस गए हैं वहां सत्यार्थ प्रकाश के सम्बन्ध में ऐसी सम्भावना कम है।

क्या सत्यार्थप्रकाश निभ्रान्त ज्ञान है ?

तब क्या सत्यार्थप्रकाश को धर्म पंथ का निभ्रान्त मार्गदर्शक समझें? इस प्रश्न का ऊत्तर ग्रन्थकर्ता ही ठीक दे सकते हैं, हम इतर पुरुष इस प्रश्न का ठीक उत्तर नहीं दे सकते। ईसा तो शायद ऐसा कुफ्र का दावा न करता परन्तु उसके अनुयायियों ने उसे "शब्द ब्रह्म" का ही पद प्रदान कर दिया है। परन्तु ऋषिदयानन्द ने अपने अनुयायियों को भ्रम में नहीं डाला। उन्होंने स्पष्ट माना है कि धर्म का निर्णायक तो ईश्वरीय ज्ञान वेद है, वह तो केवल अपनी योग्यता और बुद्धयानुसार उस सच्चे प्रकाश की ओर निर्देष मात्र करने वाला है। ऋषि भूमिका में ही लिखते हैं—"इस ग्रंथ में जो कहीं 2 भूलचूक से अथवा शोधन तथा छपाने में भूल चूक रह जाये उसको जानने पर जैसा वह सत्य होगा वैसा ही कर दिया जायेगा और जो कोई पक्षपात से अन्यथा शंका व खंडन मंडन करेगा उस पर ध्यान न दिया जायेगा। हां जो मनुष्य मात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा उसको सत्य 2 समझने पर उसका मत संग्रहित होगा।"

जैसे सरल शब्द हैं! अपने से भूल चूक की संभावना भी स्वीकार करते हैं और शोधने छपवाने की अशुद्धियों को भी ठीक करने के लिए हर समय तैयार हैं। यह किस लिए? इसलिए कि वह सत्य वैदिक ज्ञान लाने आए थे न कि अपनी महिमा और यश फ़ैलाने की सकाम आकांक्षा से। मेरी अपनी सम्मति तो यह है कि—ईसादि महापुरुष भी ईश्वरीय ज्ञान के प्रचार और उसी को पुजवाने के लिए ही आये थे और उनके अनुयायियों ने उनके असली उद्देश्य को न समझ कर अपने आचार्यों की पूजा की स्थापना करदी। सन्त जान की पुस्तक का आरम्भ हो बतलाता है कि मसीह शब्द का प्रचार करने आया था। वह शब्द क्या है?—

In the beginning was the World, and the World was with God, and world was God. The same was in the beginning with God.

"आरम्भ में शब्द था और शब्द परमेश्वर के साथ था और शब्द ही परमेश्वर था वही आरम्भ में परमेश्वर के साथ था।"

ईसा ने शब्द ब्रह्म के प्रचार के लिए ही जन्म लिया था, उसके अनुयायियों ने उसी को ब्रह्म बना डाला। ऊपर के ईन्जीली उद्धत लेख को पढ़कर सिक्खों के अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह की श्रद्धामयी वाणी समझ में आ जाती है जहां उन्होंने यह दिखलाया क्योंकि जिन महापुरुषों को परमेश्वर ने संसार को ब्रह्मपूजा का मार्ग दिखाने के लिए भेजा था उन्होंने उसके स्थान में अपनी ही पूजा शुरू करादी अपने विषय में लिखा है—"मैं हूं परम पुरुष को दास।"

परन्तु स्वामी दयानन्द ने भ्रमयुक्त कोई वचन ही नहीं कहा। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया कि सारे सँसार का माननीय धर्म पथ प्रदर्शक वेद है, ब्रह्मा से लेकर जैमिनी पर्यन्त आचार्य उसी का प्रचार करते रहे और इसलिए जैसे उन का भी वेद विरुद्ध लेख प्रमाण नहीं हो सकता वैसा ही मेरा भी लेख, यदि वेद विरुद्ध हो तो उसे न मानो। ऐसे स्पष्ट लेखों की कुछ अधिक व्याख्या करने की आवश्यकता न थी परन्तु स्वार्थवश निर्बलमनुष्य बार बार सचाई को भूल जाते हैं और इससिए ज्ञान नेत्रों पर उनके अपने डाले हुए पर्दों के बारम्बार हटाने का यत्न करना पड़ता है।

सिद्धांत की ओट में स्वार्थ सिद्धि

आर्य समाज में जो नित्य नए बखेड़े जो खड़े हो जाते हैं उनका कारण अधिकत: स्वार्थ और अज्ञान ही है। अज्ञान को दूर करके भाइयों के पारस्परिक द्वेष को दूर भी किया जा सकता है, परन्तु स्वार्थ ऐसे यन्त्र के मार्ग में बड़ा भारी कंटक है। उस स्वार्थ को भी ज्ञान की किरणों द्वारा छिन्न भिन्न किया जा सकता है परन्तु उसके मार्ग में सिद्धान्तों का ढकोंसला रुकावट पैदा करता है। सिद्धान्त बिना तो कोई भी दार्शनिक धार्मिक सम्प्रदाय खड़ा नहीं रह सकता उस पर मेरा कटाक्ष नहीं। आर्य समाज में स्वार्थियों को सिद्धान्तों की उस समय सूझती है जब अपने किसी ऐसे भाई को नीचा दिखाना हो जिसके साथ किसी कारण से द्वेष हो गया हो। वह उपदेशक जो पौराणिक पण्डितों के इस चैलेन्ज का, कि वे सत्यार्थप्रकाश की अशुद्धियों पर शास्त्रार्थ करेंगे, यह उत्तर देता है कि हम वैदिक हैं और वैदिक सिद्धान्तों का मूल द्वारा समर्थन करेंगे जब अपने साथ न सहमति रखने वाले आर्य भाई से बदला लेना चाहता है तो उसमें यह छिद्र निकालता है कि उसने ऋषि दयानन्द के किस अर्थ के अतिरिक्त एक शब्द के और अर्थ कर दिए। सत्यार्थप्रकाश में ऐतिहासिक तथा अन्य साधारण घटनाओं पर जो कुछ भी छप गया है, यदि उसी विषय पर आन्दोलन करके कोई भाई अधिक प्रकाश डालने का प्रयत्न करे तो उसे सिद्धान्तों से गिरा हुआ समझा जाता है। चिरऋषिदया-

नन्द क्या मानते थे और उनके शब्दों का क्या अर्थ है, यह भी ऐसे भाई स्वयम् ही निर्णय करते हैं, दूसरों को उसमें ननुनच करने का अधिकार नहीं देते ।

केवल द्वेष वा स्वार्थ ही इस प्रकार की स्थापनाओं के कारण नहीं होते, कभी-कभी धर्म में पूर्ण श्रद्धा का अभाव भी ऐसी निर्बलता का कारण होता है । सोलह वर्ष हुए जब ऋषि दयानन्द के लेखों के निभ्रांत होने व न होने पर 'कल्चर्ड और महात्मा पार्टियों" में विवाद चल रहा था तो हमारे कल्चर्ड भाई अपने प्रतिपक्षियों पर यह दोषारोपण करते थे कि वे स्वामी दयानन्द को वेदवत् निभ्रन्ति मानते हैं । यह दूसरी बात है कि "महात्मा पार्टी" के सभ्य आक्षेप को अपने ऊपर अन्याय समझते थे क्योंकि उनकी प्रतिज्ञा केवल यह थी कि आचार्य दयानन्द का लेख, योगी होने के कारण, उस समय तक माननीय है जब तक कि वैसा ही कोई योगी पुरुष उसे वेद-विरुद्ध न सिद्ध कर दे ; परन्तु इसमें संदेह नहीं कि हमारे कल्चर्ड भाई ऋषि दयानन्द कृत सत्यार्थ प्रकाश तथा वेदभाष्य में भूलें अवश्य मानते थे । परन्तु जब उसी समय उनके नेता को शास्त्रार्थ में खड़ा होना पड़ा और पं० गोपीनाथ पौराणिक की ओर से प्रश्न हुआ कि उनके विपक्षी सत्यार्थ प्रकाश में भूल मानते हैं व नहीं तो उत्तर मिला - "हम सत्यार्थ प्रकाश का एक एक शब्द ठीक मानते हैं" । ये अत्युक्ति हमारे भाई के मुंह से केवल झूठी लोक लज्जा ने ही कहलवाई । उन्होंने समझा कि यदि वह अपनी दार्शनिक युक्ति से काम लेंगे तो विपक्षी "निर्गूरा" कह कर ही उन्हें मूर्ख मंडली की दृष्टि में गिरा कर पराजित कर देगा । सारांश यह कि सत्यार्थ प्रकाश के एक 2 शब्द का समर्थन अविद्यावश स्वार्थ और झूठी लोक लज्जा में फंस कर ही किया जाता है । इसलिए अत्यन्त आवश्यक है कि द्वेष पक्षपात और लोक लज्जा के झूठे भय को भुलाकर सत्यार्थ प्रकाश को वही पद (साम्प्रदायिक स्मृति का) प्रदान किया जावे जो उसका वास्तव में है ।

सत्यार्थ प्रकाश की वास्तविक स्थिति

वेद के शब्द, अर्थ और सम्बन्ध में कोई भी भूल नहीं, यह आर्य समाज और उसके नेता आचार्य का मुख्य मन्तव्य है । वेद ईश्वरीय ज्ञान है, इसलिए निभ्रांत है । सत्यार्थ प्रकाश मनुष्यकृत है । और इसलिए उसमें भूल की संभावना है । प्रथम तो यही निश्चित नहीं है कि सत्यार्थप्रकाश में वही सब छपा है जो ऋषि दयानन्द ने लिखवाया था । जहां छापे की अशुद्धियां प्रत्येक संस्करण में दिखाई देती हैं वहां कई स्थानों में लिखे ऋषि दयानन्द के हस्ताक्षर सहित पुस्तक में प्रत्यक्ष संशोधन करने वाले पण्डितों का हस्तक्षेप दिखाई देता है । ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका और वेदभाष्य में संस्कृत भाग जहां ऋषि दयानन्द का लिखाया हुआ है वहाँ आर्य भाषा का अनुवाद रूप भीमसेन और ज्वालादत्तादि पण्डितों का है । वेदांग प्रकाश के तो सारे भाग बनाए ही पण्डितों ने थे

और सत्यार्थप्रकाश में भी उन्होंने बहुत हाथ पैर मारने का प्रयत्न किया था। मेरी इन प्रतिज्ञाओं का समर्थन उस पत्र व्यवहार पर दीर्घ दृष्टि डालने से होता है जो मैंने सम्वत् 1966 में छपवाकर प्रकाशित किए थे। उस पत्र व्यवहार से यहां सिद्ध होता है कि ऋषि दयानन्द के शोधे हुए पत्रों में भी भीमसेनादि परिवर्तन करके कुछ का कुछ छपवा देते थे। इसके सिद्ध करने के लिए एक ही प्रमाण पर्याप्त होगा। व्याकरण के स्त्रैणसिद्धित विषयक ग्रन्थ का एक लेख भीमसेन ने ऋषिदयानन्द के पास देखने को भेजा। वह पत्र व्यवहार के पृ० 50 से 53 तक छपा है। उसको बड़े संशोधनों के पश्चात् ऋषिदयानन्द ने छपने को लौटा दिया। वह पृ० 54 से 56 तक दिया गया है। इस पर ऋषि-दयानन्द का नोट प्रबन्धकर्ता वैदिक प्रैस के नाम बड़ा द्योतक है—"तो कोई नोट वा विज्ञापन खंडन मंडन और धर्माधर्म विषयों का ज्ञापक हो वह हम को दिखलाए विना कभी न छापना चाहिए। यह मेरे पास भेजा सो बहुत अच्छा किया। जो दिखलाए बिना छाप देते तो हमको इसके समाधान में बहुत श्रम करना पड़ता। भीमसेन जो व्याकरणादि शास्त्रों को पढ़ा है, उतना ही उसका पाण्डित्य है। अन्यत्र यह बालक है। इसको इस बात की खबर भी नहीं है कि इस लेख से क्या 2 कहां विरोध होकर क्या 2 विपरीत परिणाम होंगे। इसलिए यह नोट जैसा शोध कर भेजा है वैसा ही छपवाना।" आज शोक से देखा जाता हैं कि ऋषिदयानन्द का संशोधन नोट भी अन्य परिवर्तनों सहित छपा।

(असाम्य)

(संद्धर्भ प्रचारक, भाग 27, फाल्गुन। सम्वत् 1972 पृ० 3-4 से साभार)

—0—

स्वामी श्रद्धानन्द का शिक्षा दर्शन-3

ले० – माननीय बलभद्र कुमार हूजा,
कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

ब्रहमचारी कौन है? वह कैसे ब्रहम में विचरता है? वह किस प्रकार ब्रहम में विचरने योग्य शक्तियों को प्राप्त करता है? यह सब ब्रहमचर्य सूक्त के पिछले चार मंत्रों में बतलाया गया है। इस प्रकार अगले मन्त्रों में ब्रहमचारी को विभिन्न शक्तियों और उपलब्धियों का वर्णन है।

पांचवें मंत्र में कहा गया है कि "वह ज्ञान से पहिला प्रसिद्ध हुआ ब्रह्मचारी दीप्त रूप को प्राप्त होकर तप से ऊंचा उठता है। उससे सबसे बड़े वेद द्वारा ब्राह्मण पैदा होते हैं और सब विद्वान अमृतत्व सहित उत्पन्न होते हैं।

जन्म से तो सभी शूद्र ही होते हैं लेकिन बाद में अपने गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार भिन्न-भिन्न श्रेणियों में प्रवेश करते हैं। केवल तप से ही ब्रहमचारी प्रकाशित होकर ऊंचा उठता है। स्वामी श्रद्धानन्द लिखते हैं कि जिस तप के प्रभाव से भौतिक सूर्य का प्रभाव हुआ है उसी तप के बल तीनों (ज्ञान, कर्म उपासना रूपी) वेदों का प्रकाश हुआ। उस ब्रह्म विद्या का जिसके द्वारा प्रकाश हुआ, वही ब्रह्म वेद का जानने वाला और उसमें गति रखने वाला ब्रह्मचारी ब्रह्मा कहलाया। ब्रह्म वेद की ओर चर गतिमान होकर जिसने पहिले उसमें गमन करके उसको प्राप्त किया इसलिए ब्रह्मा प्रथम ब्रह्मचारी है।

पृथ्वी पर ब्राह्मण का जन्म होना ही श्रेष्ठ है क्योंकि वही धर्म के खजाने का रक्षक है। ब्राह्मण सदा ब्रह्मचारी है क्योंकि वह इन्द्रियों को वश में रखता है और गृहस्थाश्रम के कर्तव्य पालन करता हुआ भी इन्द्रियों का गुलाम नहीं बनता। वह इतना ऊंचा उठता है कि उसे भोग नहीं खींच सकते।

आगे चलकर स्वामी जी लिखते हैं कि यज्ञ में ब्रह्मा का उच्चासन रहता है, एवं सब यज्ञ पुरुषों को विषयों में चलाना अब भी ब्रह्मा का ही अधिकार है। गिरते हुओं को वही टोक कर गिरने से बचाता है। मनु भगवान ने धर्माधर्म का निर्णय करने के

लिए दस विद्वानों की सभा और न्यून से न्यून तीन वेदों के जुदा जुदा जानने वाले तीन धर्म सभा का जो विधान किया है उसमें जो व्यवस्था, एक चारों वेदों का ज्ञाता तदनुकूल आचरण रखने वाला ब्रह्मचारी है, उसको बड़े-बड़े बहुपक्ष पर भी प्रधानता दी है।

स्पष्ट है कि यदि किसी व्यक्ति का आचरण उपरोक्त अनुसार नहीं है तो वह ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी नहीं रह जाता।

संसार में जब जब गुरु शिष्य परम्परा में बाधा पड़ती है तब ही अधर्म और अशान्ति का दौर दौरा चलने लगता है। जब जब भी ब्रह्मचारी का आदर्श सर्व साधारण की आंखों से ओझल हो जाता है तब तब ही प्रजा का सम्मिलित आत्मा उसके लिए व्याकुल होकर पुकारता है। जब प्रजा के इस अनुताप में स्वच्छ, निर्मल, शुद्ध भाव प्रवेश करता है तब प्रजा के मालिक फिर से ब्रह्मचारी ब्रह्मा को संसार के उद्धार की आज्ञा देते हैं।

छठे मन्त्र में कहा गया है कि "जो ब्रह्मचारी समिधा से प्रकाशित काले मृग का चर्म धारण किये बढ़ी हुई दाढ़ी मोंछ वाला दीक्षित होकर चलता है वह शीघ्र ही इस पहिले से ऊपर के समुद्र को प्राप्त होता है और लोक संग्रह करके बारम्बार अभिमुख करता है।

ब्रह्मचार्य अवस्था साधन काल है इसमें मनुष्य साधन सम्पन्न बनता है। प्रवृत्ति के स्थान में निवृत्ति मार्ग का आश्रय लेकर ही विषयों की दासता को त्याग कर मनुष्य उसका स्वामी बनता है।

ब्रह्मचारी को एक धुन लगी है, और वह धुन है—तत्वान्वेषण की। इसके लिए वह संसार के सुखों को न्योछावर कर देता है और सब प्रकार के भोगों को त्याग देता है। जिस आश्रम-निवासी ब्रह्मचारी ने आचार्य की दृष्टि से रक्षा पाते हुए सर्दी गर्मी को ताड़ना से ऊंचे उठकर ब्रह्म तेज को धारण कर लिया है, वही दीक्षा का अधिकारी होता है। चाहे वह पाठ विधि समाप्त भी कर चुका हो परन्तु ब्रह्मचारी दीक्षा का अधिकारी उसी समय होता है जब कि वह व्रतस्नातक बनने की योग्यता प्राप्त करले। तब वह पहिले समुद्र को लांघ कर दूसरे समुद्र में प्रवेश करता है। ब्रह्मचर्य पहला समुद्र है। जिसने इस समुन्द्र में गोते खाये हों, जिसने ब्रह्मचर्य आश्रम में रहते हुए उसके पवित्र नियमों को तोड़ा हो, जिसे पूर्वाश्रम में ही विषयों ने भोगकर खोखला कर दिया हो वह गृहस्थाश्रम रूपी उत्तर समुद्र में प्रवेश करने का साहस क्यों कर सकता है? अविद्याने उसे अन्धा कर दिया है और उसमें देखने की शक्ति नहीं बची। गृहस्थ रूपी समुद्र में काम, क्रोध, मोह, लोभ अहंकार रूपी बड़े बड़े मगरमच्छ मुँह खोले विचर

रहे हैं, भयंकर भोग की लहरें उठ रही हैं–वहां इन्द्रिय दमन द्वारा सुदृढ़ रहना ब्रह्मचारी का ही काम है।

ब्रह्म को प्राप्त, ब्राह्मण ब्रह्मचारी किस लिए तैयार करता है? क्या विषयों का दास बनने के लिए? स्वामी श्रद्धानन्द लिखते हैं कि यदि यही उद्देश्य होता तो भौतिक गृह से आत्मिक गर्भ में पुनः प्रवेश का क्या मतलब? ब्रह्मचारी सारी तैयारियां इसलिए करता है कि स्वार्थ को भूलकर संसार की पीड़ित प्रजा के दुःख हरण करने के लिए जनता का सच्चा मार्ग दर्शक बने। ऐसे ब्रह्मचारी उत्पन्न करने का अधिकार आर्यावर्त के गुरुकुलों को था। क्या वह समय फिर लाया जा सकता है? यदि नहीं तो संसार के पुनरुद्धार की आशा छोड़ देनी चाहिये।

यह भी सामयिक चुनौती, जिसको लेकर महात्मा मुंशीराम ने गुरुकुल की स्थापना की। स्वामी दयानन्द के देहावसान के बाद उनके अनुयायियों ने आर्य समाज के नियमों की पूर्ति हेतु देश में जहां तहां डी.ए.वी स्कूल खोलने आरम्भ कर दिये थे। परन्तु महात्मा मूंशीराम के इस आंदोलन सो सन्तुष्टि नहीं हुई. उनका विचार था कि डी.ए.वी. आन्दोलन स्वामी दयानन्द के लक्ष्यों को पूरी तरह सरंजाम नहीं दे पायेगा। इसमें यथेष्ट उग्रता नहीं है। इसमें तप, साधना, और कठोर जीवन पर यथेष्ट वल नहीं दिया जा रहा। देश को निस्वार्थ, तपस्वी, व्रती, पराक्रमी, ब्रह्मचारियों की आवश्यकता है जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार जैसे मगरमच्छों का मुकावला करने की शक्ति रखते हों।

आर्य समाज का एक नियम है कि सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने के लिए सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। आज यदि हम सत्य साक्षात्कार करने को तैयार हैं तो हमें मानना होगा कि देश की सब भयंकर समस्यायें गरीबी और विषमता की हैं और उनके मुख्य कारण हैं, काम और लोभ। हमें इन दो बैरियों को पराजित करना होगा। काम के कारण जनसंख्या वृद्धि होती है और जनसंख्या वृद्धि से गरीबी बढ़ती है। जमाना था जब देश में जनसंख्या बढ़ाने की आवश्यकता थी। तब यह व्यवस्था दी गई थी कि दस तक संतान पैदा करो। आज देश में जन संख्या की बाढ़ आई हुई है। आज के ऋषि मुनि यह व्यवस्था दे रहे हैं कि दो से कम संतान पैदा करो। अर्थात हो सके तो शून्य संतान पैदा करो। रुद्र ब्रह्मचर्य का ब्रत धारण करो, ताकि कामादि मगरमच्छ तुमसे डरें और रोयें।

इसी तरह यदि गम्भीरता से सोचा जाये तो विषमता की महामारी का कारण है, लोभ, परिग्रह वृत्ति और अहंकार की भावना। यथा राजा तथा प्रजा। आज देश को आवश्यकता है ऐसे कठोरव्रती महावली ब्रह्मचारियों की जो अपरिग्रह और अस्तेय

का व्रत धारण करें, जो पदलोलुपता के शिकार न हों, जो पदों की खातिर अनैतिकता की दल दल में न फंसे, जो इस बात की चिन्ता न करें कि हमें राष्ट्र से क्या प्राप्त होता है, जो इस बात की चिन्ता करें कि हम राष्ट्र को क्या दे रहे हैं। दहेज और छूत छात की बीमारियों की जड़ में लोभ और अहंकार का कीड़ा लगा हुआ है। आखिर हम सभी एक परम पिता के बच्चे हैं, सभी ईश्वर पुत्र हैं। कौन ऊंचा? कौन नीचा? यह तो कोरी आसुरी वृत्ति है; एक आदर्श समाज में सब को एक जैसा खाना मिलना चाहिये, सब एक जैसे पहिने, सब एक जैसे रहें, ऊंच नीच का कोई भेद नही होना चाहिये। तभी आपस में प्रेम होगा, तभी राष्ट्र दृढ़ होगा, सुरक्षित होगा।

जब तक देश में कर्त्तव्य निष्ट, इन्द्रियों को वश में रखने वाले, तत्वान्वेशी, भीम, अर्जुन, अभिमन्यु जैसे ब्रह्मचारियों का समुदाय पैदा नहीं हो जाता देश का भाग्य अधर में लटकता रहेगा। इसी उद्देश्य को लेकर महात्मा मुंशीराम अपने पुत्रों सहित गंगा के किनारे विकट बनों में गुरुकुल स्थापित कर के जा टिके थे। इतिहास साक्षी है कि गुरुकुल से निकले हुए व्रती स्नातकों ने राष्ट्रोत्थान के महान काम में बड़ी जरूरी भूमिका निभाई है, आज फिर वक्त आ गया है जब गुरुकुल के संचालकों एवं आचार्यकुल को सोचना है कि वह गुरुकुल को किधर ले जा रहे हैं? क्या वह गुरुकुल की पुण्य भूमि में गुरुकुलीय मर्यादाओं का पालन कर रहे हैं? यही प्रश्न गुरुकुल के स्नातक मंडल के सामने भी है? गुरुकुल के स्नातक कुलमाता की सेवा से कैसे विमुख हो सकते हैं?

(सार्वदेशिक साप्ताहिक दि० १३.३.१९७७ से साभार)

—0—

वैदिक रश्मि

(सम्पादक—आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार)

षष्ठ रश्मि

अग्निर्नो वंसते रयिम् ॥ —साम० पू० मं० 22

सं० अन्वयार्थ :—(अग्नि: न- रयि वंसते) अग्नि हमें रयिधन देता है ।

अन्वयार्थ :—(अग्नि: न: रयि वंसते) प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, ज्योतिर्मय, तेजोमय प्रभु हमें रयि अर्थात् ऐश्वर्य प्रदान करें ।

व्याख्या :—जो अग्निस्वरूप है, ज्योति: स्वरूप है, प्रकाशस्वरूप है, तेज: स्वरूप है, ओज: स्वरूप है जो सारे संसार को अपनी ज्योति से ज्योतिर्मय बनाता है, अपने प्रकाश से प्रकाशमय बनाता है, अपने तेज से तेजोमय बनाता है, अपने ओज से ओजोमय बनाता है; जो सब संसार का अग्रणी-अगुआ बनकर सबका नेतृत्व करता है, जो सबको अनुशासन में रखता है। फिर जो उसके अनुशासन में ठीक चलता है वह उसे जानता है, और जो उसके अनुशासन में ठीक नहीं चलता उसे भी वह सवज्ञ भगवान् भली भांति जानता है। इसीलिए ही तो वह उसको प्यार देता है और उसको दण्ड देता है।

वह केवल इस अग्नि विद्युत् चन्द्र सूर्य आदि के द्वारा ही सबको प्रकाश नहीं देता वरन् वह तो वेद द्वारा भी सबको ज्ञान देता है, ताकि अग्नि विद्युत चन्द्र सूर्य आदि के प्रकाश में जैसे मनुष्य गर्तम गिरते और ठोकर खाने से बचता है वैसे ही वह ज्ञान के प्रकाश में पापों और अपराधों से भी बच सके। पर अगर कोई वेद को भी न पढ़े और न ही किसी ज्ञानी ध्यानी विद्वान् के ही समीप सत्संग के लिये जाए तो ऐसे मनुष्य पर भी वह प्रभु कृपा करता है, तभी तो वह उसे भी भीतर से सदा सन्मार्ग की ओर प्रेरित करता है। वह उसे भी प्रत्येक भले-बुरे कार्य पर अपना मूल्यवान् सुझाव देता है। यदि कोई उसके लिये अच्छा नहीं होता तो वह उसके करने से पूर्व ही उसे भय शंका और लज्जा का बोध देता है। और अगर उसके लिए वह कार्य हितकारी होता है तो वह उसके करने से पूर्व ही उसे आनन्द उत्साह और निर्भयता प्रदान करता है। यही उस प्रभु का उसको हर बुरे कार्य से पृथक् करने और हर उत्तम कार्य में लगे रहने की

प्रेरणा देने का अपना एक अद्वितीय प्रकार-तरीका है । ऐसा वह ज्योतिर्मय तेजोमय परम पिता परमात्मा हमें केवल यह ज्ञान प्रकाश आदि ही नहीं देता वरन् वह तो हमें सब प्रकार का रयि-धन-वैभव-ऐश्वर्य भी प्रदान करता है । रयि जो कि प्रभु हमें प्रदान करता है वह केवल इसलिये ही नहीं होता कि उससे हम केवल अपने खाने-पीने, पहिनने-ओढ़ने, रहने-सहने, घूमने-फिरने, देखने-भालने, सुख-आनन्द, प्राप्त करने के साधनों को खरीद कर केवल स्वयं ही सुख भोगते रहें, वरन् इसलिए भी प्रदान किया है कि समय आने पर हम उस रयि को—उस धन-वैभव को परोपकार में भी लगा सकें, उसका दान भी कर सकें, उससे औरों को भी खिला-पिला सकें, उससे औरों को भी पहना-ओढ़ा सकें, उससे, औरों को रहने-सहने आदि की सुख-सुविधायें उपलब्ध करा सकें ।

इसी कारण से वह प्रभु जहां हमें अपने जीवन में सुख-शन्ति पूर्वक जीने के लिये रयि-नानाविध ऐश्वर्य प्रदान करता है वह वहां इस रयि का-इस ऐश्वर्य का हमें सम्भजन करना भी सिखाता है । वह ज्ञानस्वरूप प्रभु हमें वेदज्ञान द्वारा, संसार के नानाविध उदाहरणों द्वारा तथा भीतर से सत्प्रेरणा द्वारा सदा यह सिखाता रहता है, "हम प्रभु को न्याय व्यवस्था से जो ऐश्वर्य प्राप्त करें, उसे ब्रह्मयज्ञ में लगाएं, उसे देवयज्ञ-अग्नि होत्र आदि उत्तम कर्मों में लगाएं उसे हम ज्ञानी विद्वान सन्यासी तपस्वी आदि श्रेष्ठ अतिथियों के मान सम्मान में—सेवा सत्कार में लगायें । अर्थात् हमें यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि जो जन सदा निःस्वार्थ भाव से समाज कल्याण के उत्तम कार्यों को करते रहते हैं वे कहीं भूखे न रह जाएं, कभी सर्दी गर्मी से पीड़ित न हो जाएं, उनके समाज कल्याण के कार्यों में कहीं अवरोध न आ जाए इसलिए हमें उनके भोजन—आच्छादन, सुख-सुविधाओं का पर्याप्त ध्यान रखना चाहिए । इनके अतिरिक्त अन्य भी कोई अभ्यागत आ जाए तो उसको भी हमारे द्वारा यथाशक्ति सुख-सुविधा मिल सके ऐसा हम प्रयास करें । हमारे घरों में हमारे वृद्ध मामा-पिता, दादा-दादी आदि को भी उस हमारे धन से पर्याप्त सुख शान्ति और आराम मिले सके, ऐसा हमें

1. रयिरिति धननाम, रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः । —निघण्टु

2. वंसते-ददाति-यच्छति (भगवदाचार्य ददातु (सायण)

सदा ध्यान रखना चाहिए । इतना ही नहीं प्रभु ने जो हमें धन-वैभव दिया है, उस में से दीन-दुःखी-अनाथों को भी भाग जाना चाहिए । मनुष्यों की तो बात दूर रही चींटियों को गौओं को कुक्कुरों को भी उसमें से भाग मिलता रहे, ऐसा हमें ध्यान रखना चाहिए ।

हमें प्रभु धन देता है उसका सम्यक सभ्यजन कर के ही स्वयं उपभोग करने की प्रेरणा भी वही देता है। हमें चाहिए कि हम पांचों यज्ञों को करके ही स्वयं यज्ञशेष सेवन करें, ऐसी प्रेरणा भी सदा साथ देता रहता है। यदि हम उससे धन-वैभव पाकर उस की प्रेरणानुसार ही इस का उपयोग करते रहेंगे तो इस से हम उसके सदा स्नेह एवं कृपा के पात्र बने रहेंगे। हमें चाहिये कि हम उस से धन–वैभव' प्यार और आर्शीवाद को पाते हुए उसी की ही सत्प्रेरणाओं के अनुसार आचरण करने में ही सदा तत्पर रहें।

("वैदिक रश्मियां" पृ० 40–43 से साभार)

—0—

रयिर्न यः पितृवित्तो वयोधाः
सुप्रणीतिश्चिकितुषो न शासुः।
स्योनशीरतिथिर्न प्रीणानो
होतेव सद्म विधतो वि तारीत्॥
ऋ० 1-73-1॥

अर्थ :—विद्या धर्मानुष्ठान, विद्वान् पुरुषों का संग तथा उत्तम विचार के बिना किसी मनुष्य को विद्या एवं सुशिक्षा का साक्षात्कार तथा पदार्थों का ज्ञान नहीं होता और निरन्तर भ्रमणशील अतिथि विद्वानों के उपदेश के बिना कोई मनुष्य सन्देह रहित नहीं हो सकता। अतएव सभी लोगों को अच्छा आचरण करना चाहिए।

मित्रता बड़ा अनमोल रत्न है

ले० डा० विजयपाल शास्त्री

एम.ए., पी-एच.डी. साहित्याचार्य, दर्शनाचार्य प्रवक्ता, दर्शन विभाग

कलिमल से कलुषित इस सारहीन जगतीतल में यदि कुछ सार है तो वह मैत्री है। यह नयनों का रसायन है, दुःखानल से तप्त चित्त के लिए आनन्द-संदोह है, मुरझाये हुए मन-सुमन के लिए पावस की रिमझिम है, संसार की क्रूरताओं से परिप्लुष्ट हृदय पर चन्दन का अनुलेप है एवं स्वजनों और परिपन्थियों की छलनाओं से अस्तव्यस्त विचारसरणि का विश्रामोद्यान है। "केनामृतमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम्" सचमुच "मित्र" शब्द के दो अक्षर दो रत्न सदृश हैं। जब जब यह शब्द अन्तस्तल से टकराता है तब तब बलात् स्मृति पटल पर उभरते हैं "रश्मि रथी" में कर्णमुख से उच्चरित ये शब्द —

मित्रता बड़ा अनमोल रत्न।
कब इसे तोल सकता है धन।
धरती की तो है क्या बिसात।
आ जाय अगर बैकुण्ठ हाथ।
उसको भी न्यौछावर कर दूं!
कुरुपति के चरणों पर धर दूं!!

सोचता हूँ कितना महान् और कमनीय रहा होगा कर्ण का वह हृदय जिसने युधिष्ठिर के राज्य को मैत्री के समक्ष, तृण समझा। ऐसे महान् महनीय आचरण सम्पन्न सत्पुरुषों को जन्म देने के कारण ही यह वसुन्धरा रत्नगर्भा कहलाती है।

मैत्री क्या है? इस प्रश्न का उत्तर मैं तो यही दूंगा कि अन्तःकरण में स्थित किसी अनिर्वचनीय निमित्त से जायमान किसी का किसी में अकृत्रिम स्नेह ही मैत्री है। स्वार्थ से प्रेरित पुरुष का दूसरे पुरुष में जो भावबन्धन होता है वह मैत्री नहीं बल्कि मित्रताभास होता है। मित्र या मित्रता बनायी नहीं जाती। ये तो स्वाभाविक होते हैं। जिससे प्रेम होना होता है स्वयं हो जाता है। हमारे परिवेश में सैंकड़ों और हजारों व्यक्ति हैं किन्तु उनमें से किसी एक या दो से ही आत्मीयता हो पाती है। कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जिनके सम्पर्क में बीस वर्ष रहने पर भी वे अपरिचित से ही लगते हैं।

प्रेम की नैसर्गिकता में प्रमाण है "उत्तररामचरित" का लव और चन्द्रकेतु का युद्ध-प्रसंग। राम ने अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया है। अश्व के रक्षक के रूप में लक्षमण के पुत्र चन्द्रकेतु को नियुक्त किया गया है। अरण्य में घूमते हुए उस अश्व को लव ने पकड़ लिया है। इसी बात को लेकर लव और चन्द्रकेतु समरांगण में आमने सामने खड़े हैं। एक दूसरे से अनभिज्ञ. नाम गोत्र से अपरिचित दर्द और सौजन्य से पूरित, वीरोचित प्रतिद्वन्द्विता से ओतप्रोत। किन्तु अरे! यह क्या? उन दोनों में तो एक दूसरे को देखते हुए अनिर्वचनीय स्नेह का आकर्षण बढ़ने लगा। कौन सा है वह बन्धन जो इन दोनों को निकट ला रहा है? वैरभाव शान्त हो गया है। परस्पर आलिंगन के लिए मन आतुर है। क्या यह वश क्रिया ऐहिक थी? नहीं नहीं। यह वही जन्मान्तर निबद्ध अनुराग था जिसे कालिदास ने "भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि" कहा है। उस अकृत्रिम एवं बद्धमूल स्नेह का निरूपण करते हुए महाकवि भवभूति ने ठीक ही लिखा है—

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधोन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसती हि पतंगस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः॥

पदार्थों को मिलाने वाला कोई आन्तरिक कारण ही होता है। बाह्य उपाधियों के लिए प्रेम में कोई अवकाश नहीं। यही तो कारण है कि सूर्य के उदय हो जाने पर कमल विकसित हो जाता है और चन्द्रमा के निकलने पर चन्द्रकांत मणि द्रवित हो जाता है।

वस्तुतः मैत्री का कोई कारण नहीं होता। वह अहेतुक होती है। अहैतक होती है इसीलिए स्थायी होती है। मित्र का यही वैशिष्ट्य है कि वह कुछ भी न करते हुए केवल अपने सान्निध्यमात्र से सुख प्रदान करता है। भवभूति भी कुछ ऐसा ही विचार रखते हैं—

न किंचिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः॥

सौहार्द दैवाधीन होता है, पुरुषाधीन नहीं होता। मित्र पुरुष का द्वितीय होता है, बहिश्चर प्राण होता है। मित्र के लिए कुछ भी गोप्य नहीं होता। व्यक्ति किसी बात को अपने भाई, पत्नी, पिता, एवं पुत्र से छिपा सकता है पर सन्मित्र के समक्ष उसका हृदय हजारों धाराओं में होकर उमड़ पड़ता है। समस्त आवरण टूट जाते हैं। औपचारिकता छिन्न हो जाती है तथा भय और औदासीन्य दूर भाग जाता है। इसी लिए नीतिशास्त्रों में बहुधा सन्मित्र की प्रशंसा की गयी है —

यस्य मित्रेण संलापो यस्य मित्रेण संस्थितिः ।
यस्य मित्रेण संभाषस्ततो नास्तीह पुण्यवान् ।।

अर्थात उस पुरुष के समान भाग्यशाली कोई दूसरा नहीं जो नित्य अपने मित्र के साथ निवास करता है, नित्य हास-परिहास में निरत रहता है और नित्य संभाषण में समय बिताता है ।

प्रेम का बन्धन भी विचित्र बन्धन है। इसके सामने बलशालियों का बल तुच्छ है, अभिमानियों का गर्व नगण्य है, दुराग्रहियों की ग्रहग्रन्थि सारहीन है । क्या कारण है कि जो भोरा काष्ठ की कठोर कारा को भेद कर इस पार से उस पार निकल जाता है वह जब कमल की कोमल पंखड़ियों में बन्द हो जाता है तो इतना बेबस हो जाता है कि वह सारी शक्ति लगाकर भी बाहर नहीं आ पाता ? प्राचीन मनीषियों का यह विचार शतशः वास्तविक है—

बन्धनानि किल सन्ति बहूनि
प्रेमरज्जुकृत बन्धनमन्यत् ।
दारुभेद निपुणोऽपि षडंध्रि—
निष्क्रियो भवति पंकज कोषे ।।

मैत्री अनेक कारणों से होती है, किन्तु यह सकारण मैत्री वास्तविक नहीं बल्कि उसका आभासमात्र होती है । सामान्य लोगों की मित्रता उपकार से होती है । मूर्खों की मित्रता भय अथवा लोभ से होती है किन्तु सज्जनों की मित्रता दर्शनमात्र से होती है । मेरा अपना अनुभव है । कई अवसरों पर ऐसे लोगों से परिचय होता है जिनको देखकर लगता है कि जैसे वर्षों से उन्हें जानता हूँ । कई बार ऐसे भी लोग मिले जिनके प्रथम सम्भाषण से ऐसा मन करता था कि अपना सर्वस्व उस पर न्योछावर कर दिया जाये । क्या आपको कभी ऐसा अनुभव नहीं हुआ ? किन्तु साहब ! एक बात और कहना चाहूंगा जिसे कहते हुए वाणी मुखर नहीं हो पा रही है । मित्रता में जहां इतने गुण हैं वहां इसके दुश्मन भी कम नहीं हैं । न जाने क्यों दो मित्रों के प्रगांढ़ स्नेह को देखकर कुछ लोग अकारण ही जल उठते हैं ? यह अनुभव सिर्फ मेरा ही नहीं कविवर बिहारी के सामने भी कुछ ऐसी ही समस्या थी । तभी उन्होंने शायद व्यथित मन से कहा है—

दृग उरम्मत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति ।
परति गांथ दुरजन हिये दई नई यह रीति ।।

आंखों से आंखें मिलने पर जब दो हृदयों में प्रेम का बीज अंकुरित होता है तो सबसे पहले परिवार से सम्बन्ध टूटता है। परिवार के प्रौढ़ व्यक्ति अनिष्ट की आशंका से दो हृदयों के मिलन को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। चलिये परिवार की इस अप्रसन्नता को यदि सकारण और सोद्देश्य मान भी लिया जाय, लेकिन दुर्जनों के हृदय में गांठ क्यों पड़ती है ? इसका कारण कोई खोज नहीं पाया। शायद ऐसे ही लोगों के लिये भर्तृहरि ने "ते के न जानीमहे" कहा था। वस्तुतः प्रेम की रीति बड़ी विचित्र है। इसी से मिलते जुलते विचार रतनहजारा के कवि के भी हैं—

अद्भुत गति यह प्रेम की।
लखौ सनेही आय।
जूरै कहूं टूटे कहूँ।
कहूँ गांठि परि जाय॥

लेकिन साहब ! दुर्जन जलते हैं तो जलने दो। इसमें हमारा वश भी क्या ? उनके सामने तो तुलसीदास को भी हार माननी पड़ी थी। वे दुर्जनों से घबराते थे। तभी तो उन्होंने कह डाला—

बड़ भल बास नरक कर ताता।
दुष्ट संग जनि देहु विधाता॥

हे प्रभु ! नरक में निवास करना अच्छा है। किन्तु दुष्टों का साथ न दें।

विश्व का इतिहास उठा कर देख लो। दुर्जनों से सज्जनों ने सदा हार मानी है। इसीलिए किसी संस्कृत कवि को कहना पड़ा—दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनं तदनन्तरम्। बिहारी का अनुभव दुष्टों के विषय में सबसे अधिक कटु था। वे तो यहां तक कहते हैं कि संसार में बुरे लोगों का ही सम्मान होता है। विश्वास न हो तो पढ़ लीजिये इस दोहे को—

बसै बुराई जासु तन ताहि को सनमान।
भलो भलो कहि छोड़िये खोटे ग्रह जप दान॥

लेकिन मित्रो ! यदि बुरे लोग अपनी बुराई न छोड़ें तो क्या सत्पुरुषों को अपनी अच्छाई छोड़ देनी चाहिए। नहीं, कदापि नहीं। मेरा तो यही कहना है कि दुर्जनों की दुर्जनता के इस पंक में आपका अनमोल मैत्रीरत्न न खो जाए। तीक्ष्ण कण्टकों से आच्छन्न संसार के इस अरण्य में मैत्री ही आपकी रक्षा करेगी। इस अनमोल रत्न को छीनने के लिए अनेक दस्यु आपके आसपास घूमते हैं। उनकी कुदृष्टि से इसे बचायें। यदि आपका कोई सन्मित्र है तो आप पुण्यशाली हैं। क्योंकि—अमित्रस्य दिशः शून्याः—मित्रहीन की सब दिशाएं सूनी होती हैं।

— 0 —

"गोहत्या और वैज्ञानिक"

ले० डा० त्रिलोक चन्द्र
प्रवक्ता, दर्शन विभाग

भारतवर्ष में गाय का महत्व बहुत अधिक है। यहां की संस्कृति का गाय से विशेष सम्बन्ध है। गऊ को माता कह कर पुकारा जाता है। प्राचीन समय में तो आर्थिक स्थिति भी प्रायः गाय पर ही निर्भर थी। जिसके यहां जितनी अधिक गायें होती थीं, वह उतना ही अमीर आदमी माना जाता था। गाय का दूध और दूध से बनी चीजें मनुष्य का मुख्य भोजन था। उसके गोबर से खाद तैयार होती थी। गाय के बछड़े बड़े होकर बैल बनते हैं, जिनसे खेती होती थी। आज भी भारतवर्ष में अस्सी प्रतिशत से अधिक भूमि पर बैलों से ही खेती होती है। गाय का दूध बहुत ही पवित्र, सात्विक तथा दैविक गुणों से भरपूर माना जाता है परन्तु इतना सब होते हुए भी भारत जैसे धार्मिक देश में गोहत्या होती है।

अब प्रश्न है कि गौहत्या कैसे बन्द हो? महात्मा गांधी ने गौहत्या को भारत के लिए एक कलंक कहा है। आचार्य विनोबाभावे ने भी इसके लिए अनशन किया है। हिन्दुओं के विभिन्न सम्प्रदाय भी इसके लिए प्रयास करते रहते हैं, परन्तु सफलता कुछ भी नहीं मिली।

संसार में देखा जाता है कि जिस चीज का उपयोग जितना अधिक होता है, उतनी ही उसकी मांग बढ़ जाती है और जिसका उपयोग नहीं होता लोग उसे नहीं रखते। विज्ञान के इस युग में बहुत सी चीजों का उपयोग बहुत अधिक बढ़ गया है और इस उपयोग को बढ़ाने का कार्य प्रायः वैज्ञानिकों ने किया है। वैज्ञानिक यदि चाहें तो वे गाय का महत्व और अधिक बढ़ा सकते हैं। इसके लिए निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं, जिससे गाय का उपयोग बहुत अधिक बढ़ जायेगा—

भारत में बहुत सी गायें दूध बहुत कम देती हैं। दक्षिण भारत में तो अधिकतर गायें ऐसी हैं, जो प्रतिदिन एक सेर दूध भी बड़ी कठिनता से दे पाती हैं। कुछ गायें वैसे ही रह जाती हैं। न वे ग्याभिन होती हैं न दूध देती हैं। ऐसी स्थिति में इस मंहगाई के समय में, जबकि एक गाय पालने पर काफी खर्च आता है, कौन गाय

पालेगा ? अब वह समय तो रह नहीं गया जब बड़े-बड़े जंगल चरागाह के रूप में पड़े रहते थे और गाय आदि पशु उनमें चरते थे तथा गाय पालना थोड़ी सी मेहनत के अलावा शेष सब मुफ्त ही था। अब ज़रा-ज़रा सी चीजों पर काफी व्यय होता है। सौ रुपये माह का तो एक गाय का चारे का ही खर्च आता है। खली, दाना आदि अलग रहे। फिर कुछ गायें चार महीने दूध देतीं हैं तो आठ महीने खाली रहती हैं अतः —

(1) वैज्ञानिक अपने अनुसन्धानों द्वारा ऐसा कार्य करें जिससे गाय में दूध की मात्रा बढ़ जाये, जिससे गाय बालक को ज्यादा उपलब्धि हो सके।

(2) बहुत सी गायों में जो ग्याभिन न होने या बार बार ग्याभिन होकर भी ग्याभिन न रहने की बीमारी है, उसे दूर करें, जिससे सभी गायें दूध दे सकें।

(3) गाय से प्राप्त होने वाले दूधादि पदार्थों पर खोज करके पता लगायें कि उसके और क्या क्या उपयोग हो सकते हैं ? कौन कौन सी बीमारियों में गाय का दूध लाभ पहुँचा सकता है ? इसी प्रकार और भी गाय पर नये नये अनुसन्धान किये जा सकते हैं।

उपरोक्त से गाय की उपयोगिता बढ़ेगी। गाय के पालने के लिए किसी को कहने की आवश्यकता नही पड़ेगी। लोग स्वयं गाय पालेंगे। बेरोजगारी के वर्तमान समय में गाय रोज़गार का एक साधन बनेगी। उसके अमृत-रूपी दूध की कीमत बढ़ेगी। प्राचीन काल में एक परिवार का खर्च वहन करने में चाहे वह पूर्णरूप से सक्षम न रही हो, पर इस मंहगाई के समय में एक अच्छी गाय एक सीमित परिवार का समस्त खर्च वहन करने में सक्षम होगी। बेरोजगारों को रोजगार मिलेगा। इन कारणों से गाय की कीमत इतनी बढ़ जायेगी कि किसी कसाई के लिए कोई गाय काटने के लिए असम्भव हो जायेगा। परिणाम यह होगा कि वह ऐसा करेगा ही नहीं। निम्नलिखित दो उदाहरणों से हम अपने विचार की पुष्टि कर सकते हैं—

(क) यह उदाहरण भैंसे का है, जिसकी लगभग पैंतीस चालीस बर्ष पूर्व कोई कीमत नहीं थी। यदि किसी व्यक्ति की भैंस कटिया (स्त्रीलिंग बच्चा) देती थी तो वह प्रसन्न होता था। परन्तु यदि बच्चा कटड़ा (पुल्लींग बच्चा) होता था तो उसे एक भार समझता था, क्योंकि उसका उपयोग कुछ भी नहीं था। जब तक भैंस दूध देती थी, वह जैसे तैसे उसे रखता था, क्योंकि भैंस को दुहने के लिए प्रातः और सायं दोनों समय उसकी आवश्यकता पड़ती थी। भैंस जब दूध देना बन्द कर देती थी तो वह उसे

कसाई को देता था। अधिकतर हिन्दु सीधे कसाई को देना पाप समझते थे। वे उसे जमादार को दे देते थे और जमादार दो-चार रुपये में उसे कसाई को देता था। कहने का अभिप्राय यह हुआ कि घूम-फिर करके हर हालत में वह कसाई के यहां ही जाता था। कसाई बड़े निर्मम ढंग से उसकी हत्या करके उसका मांस बेच देता था। बस यही उपयोग था उस बेचारे का।

समय ने करवट बदली, किसानों और खेती की तरक्की का समय आया। सरकार और वैज्ञानिकों ने इस ओर ध्यान दिया, जो किसान पहले सामान ढोने के लिए बैलगाड़ी का प्रयोग करता था, जिसे दो बैल एक साथ जुड़कर खींचते थे, उसके लिए बुग्गी का आविष्कार हुआ, जिसे अकेला भैंसा खींचता है। किसान का सामान ढोने का समस्त कार्य अकेला भैंसा ही करता है। इसके अतिरिक्त वह अन्य कार्य करता है। किसान को उससे बहुत लाभ है। पश्चिमी उत्तरप्रदेश में वर्तमान समय में यह स्थिति है कि जिस किसान के पास भैंसा नहीं उसे बहुत ही हेय-दृष्टि से देखा गया है, उसे पिछड़ा हुआ किसान माना जाता हैं जबकि पहले भैंसे का रखना निन्दनीय माना जाता है। आज एक अच्छे भैंसे की कीमत भी तीन हजार रुपये से कम नहीं है। आज यदि किसी की भैंस कटड़ा देती है तो वह प्रसन्न होता है, क्योंकि उसकी कीमत है। अब कटड़ों की हत्या प्राय: नहीं के बराबर हो गयी है। ऐसा करवाने के लिए किसी को अनशन करना नहीं पड़ा। उपयोग बढ़ने से स्वयं ही ऐसा हो गया।

(ख) दूसरा उदाहरण यूकेलिप्टिस के वृक्ष का है। वर्तमान युग में इसका प्रचलन बहुत बढ़ रहा है। यहां तक कि आम के वृक्ष कटवाकर यूकेलिप्टिस के पौधे लगवाये जा रहे हैं। विचारणीय बात है कि आम जैसा वृक्ष, जिससे सर्वोत्तम फल प्राप्त होता है, जिसकी छाया बहुत सुख देने वाली होती है, जिसकी लकड़ी विभिन्न प्रकार के कार्यों में काम आती है और यूकेलेप्टिस की न छाया है और न ही कोई फल प्राप्त होता है। यूकेलेप्टिस जैसे लम्बे वृक्ष खजूर को देखकर किसी कवि ने कहा था—

बड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसे पेड़ खजूर।
पंछी को छाया नहीं फल लागे अति दूर॥

खजूर पर तो दूर ही सही पर फल लगता है। यूकेलिप्टिस पर तो वह भी नहीं। फिर भी वैज्ञानिकों ने इसे ऐसा बना दिया कि वह आज का सबसे अधिक चर्चित वृक्ष है। जंगल के जंगल यूकेलिप्टिस के पौधे लगाये जा रहे हैं। वह तो आम को भी पीछे छोड़ गया है।

इस प्रकार यदि गाय को उपयोगिता को और अधिक बढ़ा दिया जाय, किसी भी गाय को बेकार न रहने दिया जाय तो गौहत्या स्वत: ही बंद हो जायेगी। किसी को इसके लिए अनशन करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी और वह कार्य करा सकते हैं, वैज्ञानिक।

—0—

संविधान का पचीसवाँ अनुच्छेद

ले०—डा० विजयपाल शास्त्री,

एम०ए० साहित्याचार्य, दर्शनाचार्य, प्रवक्ता दर्शन विभाग

पंजाब की जटिल समस्या, जो वस्तुत: न तो जटिल है और न समस्या ही है, ने आज प्रत्येक देश भक्त भारतीय का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। कुछ समस्याएं अनजाने और अनचाहे उपस्थित हो जाती हैं किन्तु कुछ समस्याएं जानबूझ कर बनायी जाती हैं। पंजाब की आधुनिक समस्या भी एक ऐसी ही समस्या है जिसे चतुर राजनीतिज्ञों ने संकीर्ण स्वार्थवश पाला हुआ है।

आजकल संविधान के अनुच्छेद 25 की चर्चा प्राय: की जा रही है जिसे अकालियों ने संसद भवन के समक्ष 27.2.84 को सामूहिक रूप से जलाने का प्रयास किया और शायद जला भी दिया। इसी प्रसंग में जिज्ञासा होती है कि आखिर संविधान के अनुच्छेद 25 में ऐसी आपत्तिजनक कौन सी बात है जिस पर सिक्खों ने इतना बावेला मचा रखा है? आइये देखें कि अनुच्छेद 25 क्या है—

25 (1) सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के दूसरे उपबन्धों के अधीन रहते हुए सब व्यक्तियों को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान हक होगा।

(2) इस अनुच्छेद की कोई बात किसी ऐसी विधि के बनाने में रुकावट न डालेगी जो—

(क) "धार्मिक आचरण से सम्बद्ध किसी आर्थिक वित्तीय राजनीतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की लौकिक क्रियाओं का विनियमन अथवा निबन्धन करता हो।"

(ख) "सामाजिक कल्याण और सुधार उपबन्धित करती हो अथवा हिन्दुओं की सार्वजनिक प्रकार की धर्म संस्थाओं को हिन्दुओं के सब वर्गों और विभागों के लिए खोलती हो।"

उपर्युक्त दोनों अनुबन्धों की व्याख्या करते हुए पुनः कहा गया है—

1. कृपाण धारण करना तथा लेकर चलना सिख धर्म के मानने का अंग समझा जायेगा ।

2. खण्ड (२) के उपखण्ड (ख) में हिन्दुओं के प्रति निर्देश में सिख जैन या बौद्ध धर्म के मानने वाले व्यक्तियों का भी निर्देश अंतर्गत है तथा हिंदू धर्म संस्थाओं के प्रति निर्देश का अर्थ भी तदनुकूल ही दिया जायेगा ।

यह है अनुच्छेद २५ जिस पर कुछ उग्रपन्थी अकालियों की आपत्ति है । आपत्ति का स्थान यह है कि हिंदुओं के अन्तर्गत सिखों की गणना क्यों की गयी ? क्यों न उसे एक पृथक् कौम का दर्जा दिया गया और पृथक् कौम मानकर क्यों न उन्हें राष्ट्र घोषित किया जाता ? इसीलिए यह अनुच्छेद जलाया गया । जलाया भी उन लोगों ने जो स्वतन्त्र भारत में पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग भारतीय नागरिकता के नाते कर रहे हैं, जिनको इसी संविधान ने मुख्य मंत्री बनाया और उनकी तथा कथित कौम का व्यक्ति ही भारत के सर्वोच्च पद पर आसीन है ।

मैं इन लोगों से, पूछता हूँ कि सिख हिन्दू नहीं हैं ? जब सिख सम्प्रदाय का आविर्भाव नहीं हुआ था, उस समय वे क्या थे ? क्या वह हिंदू से कोई इतर जाति थी ? सिखों का प्रादुर्भाव समय-सापेक्ष था । गुरु गोविंद ने लड़ाकू सेना के निर्याणार्थ एक विशिष्ट वेशभूषा के साथ अपने शिष्यों का आह्वान किया था । केशों का रखना सिर की सुरक्षा के लिये था ताकि शस्त्र का आक्रमण सिर को हानि न पहुंचा सके । कड़ा भी हाथ की रक्षा के लिये था ताकि कृपाण का प्रहार यदि हाथ पर किया जाय तो वह कट कर न गिर पड़े । कच्छा चुस्ती के लिये था । कंघा केश प्रसाधन के लिये था । कृपाण प्रहार के लिये था । परिस्थितियां बदल गयीं । सिखों की वेशभूषा का उद्देश्य पूर्ण हुआ । इसके पश्चात् भी यदि अपनी उसी वेशभूषा को स्थायी रूप से रखना चाहते हैं तो उन्हें कौन रोक सकता है ? इस पर किसी भारतीय को आपत्ति नहीं । किंतु क्या इस वेश-परिवर्तन से उनकी हिंदू जाति भी बदल गयी ?

विश्व में सात आश्चर्य हैं । मेरे विचार से इसमें एक और आश्चर्य जोड़ दिया जाना चाहिए । वह आश्चर्य है हमारी सरकार का भोलापन । कौन नहीं जानता कि पंजाब की समस्या केवल चण्डीगढ़ के बंटवारे की ही समस्या नहीं है । यह समस्या है सत्ता को प्राप्त करने की । यह समस्या है घृणित राष्ट्रद्रोह की । यह साजिश है कुछ विदेशी शक्तियों की जो भारत की उन्नति को फूटी आंख भी नहीं देखना चाहते । किन्तु वाह री सरकार कुर्बान जाऊं तेरी सादगी पर ।

हमारी सरकार इसे चण्डीगढ़ की समस्या मानती है। भोलेपन की सीमा तो देखिये कितने आश्चर्य की बात है ! कि हमारी सरकार अपराधियों के सामने हाथ जोड़े खड़ी है और भीख मांग रही है शान्ति की। कितने प्यार से कहते हैं हमारे नेता—हम गुरद्वारों में नहीं घुसेंगे। कत्ल करो और चले आओ गुरद्वारों में। मन्दिरों की बात और है। वे तो ठहरे दयालु लोगों के, जहां सब कुछ माफ है। डर है तो उन लोगों से जो घर में घुस कर मारते हैं किन्तु भारतीय लोगों से मेरा कहना है कि तुम सन्तोष में विश्वास रखो। सन्तोष का फल मीठा होता है। संविधान तो कागज है। जल जायेगा तो दोबारा बन जायेगा। पच्चीसवां अनुच्छेद ही क्यों ? सम्पूर्ण भी जल जायेगा तो सरकार और बना देगी। संविधान में संशोधन भी करना पड़े तो कौन सी बड़ी बात है ? आखिर शक्ति के सामने कौन नहीं झुकता ? तुम भगवान् का भजन करो और याद करते रहो कबीर के इस दोहे को—

कबिरा तेरी झोंपड़ी गलकटियन के पास।
जैसी करनी वैसी भरनी तू क्यों होय उदास ॥

— 0 —

ओ३म् भूर्भवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो
देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

अर्थ :—जो सभी का रक्षक, समस्त जगत् का प्राणी. सभी दुःखों को दूर करने वाला, सब सुखों का दाता परमेश्वर है वह सर्वव्यापक एवं सबको उत्पन्न करने वाला है। सर्वश्रेष्ठ एवं ग्रहण करने योग्य शुद्ध स्वरूप दिव्य गुणों से युक्त देव का हम ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग से चलने के लिये प्रेरित करे।

पुस्तक समीक्षा

ले०—डा० विजयपाल शास्त्री
एम०ए० साहित्याचार्य, दर्शनाचार्य, प्रवक्ता, दर्शन विभाग।

पुस्तक का नाम	...	"प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग"
लेखक	...	डा० सत्यकेतु विद्यालंकार
प्रकाशक	...	श्री सरस्वती सदन, मसूरी
कुल पृष्ठ	...	३०४
मूल्य	...	२२ रुपये

समस्त सत्यविद्याओं का दिग्दर्शक वेद प्राचीन और आधुनिक मनीषियों की प्रतिभा एवं शोध सम्भार का सम्वल लेकर विलष्टता और दुरुहताओं को गहन गुहा से निकल कर निरन्तर जन सामान्य तक अपना प्रकाश विकीर्ण करता रहा है। वेदों का आर्भिाव काल अभी भी विवाद का विषय है। अद्भुत मनीषी श्री सत्यकेतु विद्यालंकार ने इसी काल-सम्बन्धी विवाद को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत पुस्तक का निर्माण किया है। इस शोधपूर्ण पुस्तक के अध्ययन से ज्ञात होगा कि भारतीय इतिहास को भूल भुलैया में वैदिक युग का कौन सा समय निर्धारित किया जाना चाहिये ?

वेद अनादि काल से भारतीयों के लिये प्रेरणा का स्रोत रहे हैं। भारत के इतिहास में एक ऐसा युग रहा है जब वेद की ज्योति सर्वत्र प्रस्फुटित थी, वैदिक मान्यताएं सर्वोपरि थीं। वैदिक विज्ञान का प्रदाता होने के कारण ही भारत सर्वगुरु कहलाता था। ऐसे वैदिक युग से भारतीय जनता अनभिज्ञ रहे यह एक दुःख की बात है। इसी बात को दृष्टिगत रखते हुए मनीषी लेखक ने प्रस्तुत शोध पूर्ण ग्रंथ का निर्माण किया।

इस ग्रंथ के आद्योपान्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक समूचे ग्रंथ में निष्पक्ष रहा है। पाश्चात्य विचारकों के मत को लेखक ने ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है। पाश्चात्य ही नहीं वलिक भारतीय इतिहासकार तथा वेदज्ञ वेदों का जो अविर्भाव काल निर्धारित करते हैं उसको यथातथ्य रूप से उल्लिखित किया है। इन मतों में कौन-सा मत विश्वसनीय है और समोचीन है इसका निर्णय लेखक ने पाठकों पर छोड़ दिया है।

इस ग्रन्थ की एक और विशेषता पाठकों को देखने को मिलेगी कि वैदिक साहित्य का विकास कब और किन परिस्थितियों में हुआ ? उसका विस्तृत लेखा जोखा प्रस्तुत ग्रन्थ में मिलेगा। इस परम्परा में लेखक ने पुराणों के उद्धरणों से भी सहायता ली है। प्रायः प्राचीन आर्य विचार धारा के लोग पुराणों को कल्पित कहकर उपेक्षित कर देते हैं किन्तु इस ग्रन्थ के लेखक का व्यक्तित्व विशाल और परिष्कृत परिलक्षित होता है कि उसने पुराणों का ऐतिहासिक महत्त्व स्वीकार किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के पाठकों के लिये मैं एक और विशेषता इस ग्रन्थ की बता दूं जो प्राय: अन्य ग्रन्थों में नहीं पायी जाती, वह यह है कि इसमें वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों के मूल उद्धरण भी पढ़ने को मिलेंगे। पाश्चात्य तथा आधुनिक भारतीय ऐतिहासकों की यह त्रुटि है कि वे वेद का काल निर्णय तो करते हैं किन्तु वेद से अनभिज्ञ होते हैं। उन्होंने जो इधर उधर से हिन्दी पुस्तकों तथा अंग्रेजी पुस्तकों से प्राप्त किया होता है उसी के आधार पर वेद के काल के विषय में अपनी मति बनाते हैं किन्तु इस ग्रन्थ के लेखक डा० सत्यकेतु विद्यालंकार वेद के मर्मज्ञ पारखी हैं। उन्होंने वेदों का सांगोपांग अध्ययन किया है अतः इस कारण इस ग्रन्थ में वैदिक मूल उद्धरण यथास्थान देखने को मिलेंगे जिससे पाठक लेखक के सिद्धान्त को वेद की कसौटी पर कस कर स्वयं देख सकता है।

इस ग्रन्थ में तेरह अध्याय हैं जिनमें वैदिक युग की परिस्थियों को व्यवस्थित रूप में वर्णित किया गया है। राजनीतिक स्थिति, सामाजिक जीवन, आर्थिक व्यवसाय और व्यापार का वर्णन, शासन व्यवस्था, धार्मिक जीवन के अन्तर्गत चिन्तन की धारा सभी कुछ वैदिक सामग्री इस ग्रन्थ में पाठक पढ़ सकेंगे। शोध-छात्रों तथा वेद के जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ महान् उपादेय और अनुशीलनीय है।

— 0 —

त्वं न सोम विश्वतो रक्षा राजन् अघायतः।
न रिष्येत् त्वावतः सखा ॥
ऋ० 1–97–8 ॥

अर्थ :—हे सोम ! हे राजन् ! तू हमें पाप चाहते वालों से चारों ओर से रक्षा कर। तुझ जैसे से मित्रता रखने वाला कभी नष्ट नहीं होता।

प्रगतिवाद

ले० : शिरोमणि भट्ट - छात्र

एम०ए० (हिंदी) द्वितीय वर्ष

आधुनिक हिन्दी-काव्य में प्रगतिवाद रचनाओं से तात्पर्य उन रचनाओं से है जिनमें शोषक और शोषित के वर्ग-संघर्ष का भैरव राग गूंजता है। सर्वहारा वर्ग की हिमायत में जो कवितायें क्रान्ति का सन्देश देती हैं और जिनमें प्रोलेतेरियत, जालिम एवं मजलूम के जीवन की विषम समस्याओं की जद्दोजहद प्रकट होती है आज उन्हीं रचनाओं को प्रगतिवादी रचनायें कहा जाता है। प्राचीन सांस्कृतिक, सामाजिक और नैतिक परम्पराओं को ध्वस्त करना, आदर्श मर्यादाओं को तोड़ना, रोटी-कपड़े की मांग को ही जीवन की परम सिद्धि मानना, काव्य रीतियों का उल्लंघन करना तथा सर्वथा श्लीलता-अश्लीलता के विचारों को भूलकर जीवन की नग्नावस्था का चित्रण करना ही, कुछ प्रगतिवादी कवियों का कर्तव्य और उनकी कविताओं का लक्ष्य बन चुका है।

प्रगतिवादी काव्य का उद्देश्य केवल भौतिकमानों को जैसे-तैसे बढ़ावा देना मात्र है। प्रगतिवादी कवि के लिए सामंतवाद और पूंजीवाद के बीच का जनद्वन्द्व प्रकट करना ही उसके अनुसार काव्य का प्रमुख कार्य है। उसके लिए जीवन की भौतिक समस्याओं की पूर्ति पहले है। ज्ञात होता है कि काव्य की सौन्दर्यात्मक एवं कलात्मक-सृष्टि से उसका अधिक सम्बन्ध नहीं है। प्रगतिवादी साहित्य भारत में कब से और किस प्रकार उदित हुआ इस पर विचार करने से पूर्व हमें यह जान लेना भी परमावश्यक है कि उपरिलिखित आज की आधुनिक प्रगतिवादी कहलाई जाने वाली काव्य-रचनाओं की विशेषताओं से परे, हमारे यहां साहित्य की प्रगतिशीलता बराबर चलती रही है।

आज के संकुचित अर्थ से मुक्त, प्रगति का ठीक-ठीक अर्थ उस विकासशील साहित्य से है, जो निरन्तर जन-कल्याण के लिए लिखा जाय या लिखा जाता रहा है। यह प्रयास भी एक प्रगतिवादी संघर्ष ही है। इस दृष्टि से मानव-इतिहास के सभी प्रकार के संघर्ष, चाहे वे राजनैतिक हों, आध्यात्मिक हों सभी प्रगतिवाद की लहर के साथ-साथ प्रवाहित मिलेंगे। प्रगतिवाद का वास्तविक अर्थ है व्यापक रूप से किसी

मनोवांछित इच्छा-आकांक्षा की पूर्ति के लिए विशेष गति से आगे बढ़ना और बढ़ने में निरन्तर एक संघर्ष चलता ही जायेगा हम हर देश और काल के साहित्य में इसे किसी न किसी प्रकार अवश्य पाएंगे ही। इससे यह बात सिद्ध होती है, कि साहित्य के अन्तर्गत प्रगतिवाद का ठीक अर्थ है कि विषम परिस्थितियों के साथ मानव को संघर्ष करने का बल और प्रोत्साहन मिले। नवीन विकास के लिए वह जीवन की नई दिशा, नई व्यवस्था और नये मार्गों को ढूंढ सके और पा भी सके।

हिन्दी-साहित्य के भिन्न-भिन्न कालों के इतिहास के पढ़कर हम उसमें इस प्रगतिशीलता एवं तत्सम्बन्धी अन्य बातों को पूरा समावेश हुआ पा सकते हैं। चारण-काल में यदि चारणों ने अपनी वीररस प्रधान रचना लिखी तो इसलिए कि उनसे सम्बन्धित राजा का समस्त बिखरे हुए साम्राज्य पर एकछत्र शासन स्थापित हो जाए। भक्तिकाल में यदि भक्ति-भाव-सम्बन्धी रचनायें लिखी गई तो इसलिए कि तत्कालीन लोक-निराश हिन्दू-धर्म-प्राण-जनता को भगवान की कृपा का दृढ़ अवलम्ब मिल जाए।

आज प्रगतिशील कहे जाने वाले साहित्य के अर्थ तथा साहित्य के मुक्त प्रगतिशील अर्थ में एक मौलिक अन्तर यही मालूम होता है कि पहले में मानव-जीवन की संकुचित चहारदीवारी का मर्सिया है और दूसरे में जन-समाज की आवश्यकता के अनुसार मानवीय-चित्तवृत्तियों की ओर उनकी इच्छा-आकांकाक्षों की पूर्ति पाने वाली स्वतंत्र भावनाओं की प्रतिध्वनि। अतः कह सकते हैं, पहला प्रगतिशील कहा जाने वाला साहित्य जीवन के बाहरी पहलू तक ही सीमित है। संक्षेप में सही अर्थों में प्रगतिशील कहलाया जाने योग्य साहित्य वही है, जो जीवनचेतना में सर्वांगीण विकास करने का संघर्ष-भाव जगाता और तदनुकूल कायाकल्प भी करता चले।

आधुनिक काव्य में प्रगतिवाद का उदय छायावादी-रहस्यवादी काव्य लोक-पलायनवादी दर्शन की प्रतिक्रिया का परिणाम कहा जा सकता है। यों राष्ट्रीय जन-जागरण की काव्यात्मक चेतना का स्फुरण तो बहुत पहले "भारतेन्दु", "गुप्त" तथा "हरिऔध" आदि कवियों की रचनाओं मे हम पा लेते हैं। फलस्वरूप सन् 1934 में ही, गुप्त रूप से, यहां पर भी "भारतीय कम्युनिस्टपार्टी" की पूंजीवादी शासन से द्वन्द्व करने का कार्यक्रम बनना आरम्भ हो गया।

सन् 1936 में मु० प्रेमचन्द के सभापतित्व में खुलेआम "भारतीय प्रगतिशील साहित्य-संघ" की स्थापना हुई, जिसमें साहित्य लिखने का मुख्य उद्देश्य शोषक और शोषित के संघर्ष को जनता में प्रसारित करना था और भारत में भी इसका व्यापक प्रचार होने लगा। सन् 1938 से लेकर 1941 तक की आधुनिक काव्य रचनायें

(यद्यपि उससे भी कुछ पहले प्रेमचन्द के 'गोदान' उपन्यास से ही) प्राय: कॉर्लमार्क्स, एंजिल्स आदि के रोटी-कपड़ा सम्बन्धी द्वन्द्वात्मक भौतिक दर्शन के आधार पर ही लिखी जाती रही। साहित्य की यह सम्पूर्ण अवधि ही इस प्रकार की अधिकांश काव्य-रचनाओं से पूर्ण है। जिन प्रगतिवादी कवियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं वे इस प्रकार हैं :—

1. निराला 2. पन्त 3. बालकृष्णशर्मा 'नवीन' 4. भगवतीचरण वर्मा 5. उदयशंकर भट्ट 6. रामधारी सिंह 'दिनकर' 7. शिवमंगल सिंह 'सुमन' 8. मिलिन्द 9. नरेन्द्र शर्मा 10. अंचल।

महाप्राण 'निराला' ने अपनी 'कुकुरमुत्ता', 'नये पत्ते' तथा 'अर्चना' आदि काव्य-कृतियों में वस्तुवादी वर्ग-संघर्ष-प्रधान उग्र रचनायें लिखी हैं। 'वह तोड़ती पत्थर, इलाहाबाद के पथ पर, "भिखारी के प्रति" जैसी रचनाओं में वर्गवादी व्यवस्था के प्रति तीव्र क्रान्ति एवं असन्तोष की भावना प्रकट हुई मिलती है। "पन्त जी" की प्रगतिशील रचनाओं में मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिक दर्शन और गांधी की सांस्कृतिक चेतना इन दोनों का ही समन्वय देखने को मिलता है। पन्त का प्रगतिवाद जीवन का अतिशय वस्तुपरक और कहीं नग्न रूप को प्रकट करता है। धोबी का नृत्य आदि कवितायें इस बात की साक्षी हैं, यथा—

> वह कामशिखा सी रही सिहर,
> नट की कटि में लाल सा भंवर,
> कँप कँप नितम्ब उसके थर थर,
> भर रहे घाटियों में रति स्वर।

परन्तु आगे बढ़कर "पन्त" के प्रगतिवाद में भारतीय संस्कृति के संस्कार दृढ़ होते गए।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की प्रगतिशील रचनाओं में सामाजिक मान मर्यादाओं एवं व्यवस्थाओं के प्रति मात्रा से अधिक असन्तोष प्रकट हुआ, यथा :—

> कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
> जिससे उथल पुथल मच जाये,
> एक हिलोर इधर से आए,
> एक हिलोर उधर से आये,
> नियम और उपनियमों के ये,
> बन्धन टूक टूक हो जायें।

भगवतीचरण वर्मा की प्रगतिवादी रचनाओं में निम्नवर्गीय मानवों के प्रति हिमायत की तीव्र वाणी मुखरित होती है—"चली आ रही भैंसा-गाड़ी चूं चरर मरर चूं चरर मरर" कविता में यह बात स्पष्ट रूप से समझने को मिलती है।

उदयशंकर भट्ट की प्रगतिशील रचनाओं में निम्नवर्गीय समाज का विद्रोह बड़े उग्र रूप से प्रकट हुआ। इन रचनाओं में पुरानी व्यवस्था के निर्माण के विश्वास का चैलेंज प्रकट होता है, यथा—

सिंचित मलयानिल से जिसने कलि के अधरों को खोला था,
रजनी के उन्मुख हृदय से जीवन जहां फूट बोला था।

रामधारी सिंह "दिनकर" की प्रगतिशील रचनाओं में व्यक्ति और समाज, सभ्यता और संस्कृति तथा ऊँच और नीच—इन दो परस्पर विरोधी शक्तियों का द्वन्द्व प्रकट होता है। कवि की "कुरुक्षेत्र" कृति द्वन्द्व और जनहित कल्याणपक्ष का वातावरण प्रस्तुत करती है, यथा—

आज न उड़के नील कुंज में स्वप्न खोजने जाऊंगी,
आज चमेली में न चन्द्र किरणों के चित्र बनाऊंगी।

वस्तुत: 'दिनकर" जी की प्रगतिशील रचनाएं सच्चे अर्थों में प्रगतिशील कही जाने योग्य हैं।

शिवमंगल सिंह 'सुमन', मिलिन्द, नरेन्द्र शर्मा, अंचल तथा देवराज दिनेश ने भी अच्छी प्रगतिशील रचनायें लिखी हैं। उक्त कवियों की भाषा और भाव का नवीन प्रयोग देखने को मिलता है। प्रगतिशील कविताओं में चेतना को उभारने की अभिव्यंजना प्रकट होती है।

आधुनिक काव्य में प्रगतिवाद आज की जन-मन-चेतना के बिल्कुल उपयुक्त नहीं। इस प्रकार के प्रगतिशील कवियों के लिए काव्य-सृजन करना ही उनका सबसे बड़ा मानवीय धर्म है। उसे तो राष्ट्र-रचना का विशाल प्रयोग बनना होगा। आज भारतीय जनता स्वयं ही अपनी भाग्य-विधाता बन गई है। प्रगतिवादी कवि निर्माण की समतल भूमि पर उन्नति की नई फसल के लिए कुदाल और फावड़े के प्रयोग को शस्य-श्यामला-वसुन्धरा के ऊपर हरियाली के रूप में लहरा दें। इसके विषय में श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' की कविता उदाहरणार्थ दी गई है, यथा—

कहां गये हल बैल तुम्हारे, ट्रैक्टर औ बुल डोज़र।
तोड़ो खेतों की मेड़ों को जोतो अपनी अम्बर॥
गुरुथल जोतो ऊसर जोतो, जोतो बन्जर धरती।
सोने चांदी की फसलों से भर दो सारी धरती॥

वस्तुत: आज की सच्ची प्रगतिशील कविता का रूप इसी प्रकार निखरता जाय इसी में श्रेय है।

—0—

हतो राजा क्रमीणामुतैषां स्थपति र्हत:।
हतो हतमाता क्रमि र्हतभ्राता हतस्वसा॥

अथर्व 1-324॥

अर्थ :— मनुष्य अपने दोषों एवं उनके कारणों को उचित ढंग से समझ कर उन्हें नष्ट कर दे, जैसे एक अच्छा वैद्य शारीरिक दोषों के प्रमुख गौण कारणों को समझकर रोगी के रोग को दूर करता है।

समस्याओं का देश–भारत

ले०—नामदेव दुधाटे

एम०ए० प्रवक्ता, दर्शन विभाग

सभ्यता के वर्तमान युग में भारत में आज अनेक समस्यायें सुरसा की तरह मुंह फैलाये हुए हमें भयाक्रान्त कर रही हैं। अनेक समस्यायों में से बेरोजगारी या बेकारी जैसी अनेक समस्याएं बहुत जटिल बन गई हैं। ऐसी समस्याओं ने समाज में हंगामा मचा दिया है।

1. बेरोजगारी

बेरोजगार या बेकार दो प्रकार के हैं— 1. अशिक्षित तथा 2. सुशिक्षित सुशिक्षित बेरोजगार की समस्या अशिक्षित बेरोजगार की अपेक्षा अधिक गम्भीर है। 'बेरोजगारी' शब्द का अर्थ है 'जबरन रोजगार रहित स्थिति' जोकि शिक्षित नवयुवकों पर थोप दी जाती है। अशिक्षित लोगो में बेरोजगारी मशीनों की देन है। बहु त से मजदूरों को काम नही मिलता।

भारत कृषि प्रधान देश है। पचहत्तर प्रतिशत व्यक्ति कृषि पर निर्भर करते हैं। किसान एक वर्ष में छः महीने खेत में काम करते हैं और शेष छः महीने वे गप्पों में बिताते हैं। किसान छः महीने खाली रहते हैं। छः महीने में कमाया हुआ धन खाली छः महीने में वे समाप्त करते हैं। इस कारण वे निर्धन हो जाते हैं। वे समय और शक्ति खो देते हैं और आलसी बन जाते हैं। किसान और मजदूर अपना खाली समय कुटीर उद्योग–धन्धों में नहीं लगाते। वे छोटी–छोटी वस्तुएं बना सकते हैं और जीविका के लिए धन कमा सकते हैं परन्तु वे ऐसा नहीं कर पाते हैं। इसका मुख्य कारण है अशिक्षा।

बहुत से शिक्षित लोग भी एम०ए० और बी०ए० डिग्री प्राप्त करके नौकरी की तलाश में भटकते हैं। इन्टर और हाईस्कूल करने वालों की तो गिनती ही नहीं है। दूषित शिक्षा प्रणाली ने शिक्षितों में बेरोजगारी उत्पन्न की है। यहां केवल सैद्धान्तिक शिक्षा मिलती है। व्यवहारिक शिक्षा शून्य है। जो विद्यार्थी डिग्री लेते हैं काम के

योग्य नहीं हैं। उनको और ट्रैनिंग लेनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त शिक्षित युवक शारीरिक कार्य करने से घबराते हैं। वे कुर्सी पर बैठना चाहते हैं अर्थात वे ऊंचा पद चाहते हैं। वे छोटे कामों से घृणा करते हैं।

बेरोजगारी दण्डित अपराध जैसे चोरी, डकैती, हड़तालें, खूनी क्रान्तियां, युद्ध, रिश्वत, भ्रष्टाचार, आन्दोलन, अनुशासनहीनता आदि उत्पन्न करती है।

२. भिक्षुक समस्या :

भारत में भिखारियों की समस्या भी गम्भीर है। अगर आप किसी रेलवे स्टेशन के पास हरिद्वार तथा ऋषिकेश जैसे पवित्र स्थानों में हरिकी पौड़ी या लक्ष्मण-झूला आदि गंगा जी के किनारे पहुंच जायं तो अपने आपको भिखारियों में घिरा हुआ पाएंगे। जब तक आप उन्हें कुछ न देंगे तब तक वे आपका पीछा नहीं छोड़ेंगे। ये भिखारी आज भारत के सामने एक बड़ी समस्या बने हुए हैं। भारत में भिखारियों की अधिक संख्या होने के कारण ही विदेशी लोग भारत को भिखारियों का देश या गरीब देश कहते हैं।

विभिन्न प्रकार के भिखारी एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते दिखाई देते हैं। इनमें कुछ बिना घर वाले, कुछ लंगड़े और अपाहिज होते हैं और कुछ काफी हट्टे-कट्टे होते हैं। छोटी आयु के बच्चे भी भीख मांगते हुए दिखाई देते हैं। कुछ ऐसे भी भिखारी होते हैं जो रंगे हुए कपड़े पहनते हैं और एक दरवाजे से दूसरे दरवाजे पर जाते रहते हैं। यह भी देखा जाता है कि बहुत से बदमाश जनता को यह कहकर ठगते हैं कि वे भविष्य जानते हैं या सोने को दूना कर सकते हैं। स्त्रियों और लालची पुरुष इनके शिकार बन जाते हैं। ऐसे आदमी देश के लिए कलंक हैं।

३. मूल्य वृद्धि

सारे संसार में मूल्यवृद्धि की समस्या है। समाचार-पत्र जनता की शिकायतों से भरे हुए रहते हैं। हर देश में आर्थिक संकट है, परन्तु भारत में यह समस्या सब से अधिक है।

भारत अविकसित देश है, अत। आज एकता की मांगें पूरी करने के लिए पर्याप्त उपज नहीं है। इस कारण प्रत्येक वस्तु का आभाव है, अतः मूल्य वृद्धि की समस्या भारत में सबसे अधिक है।

मूल्य वृद्धि के अनेक कारण हैं। अत्यधिक जनसंख्या, कम उपज, कन्ट्रोल और

राशन, सामाजिक रीति-रिवाज, अधिक मुद्रा, शिल्पादि कलाओं की कमी, हड़तालें और प्राकृतिक प्रकोप जैसे बाढ़ सूखा और अकालदि इसके कुछ कारण हैं। भारत इतना उत्पादन नहीं करता जितना कि आवश्यक है। आयातित वस्तुएं मंहगी होती हैं। भारत की उपज विदेशों की अपेक्षा कम है।

विशेष रूप से भारत में व्यापारियों ने मूल्य वृद्धि समस्या को अधिक गम्भीर बना दिया है। वे वस्तुओं को जमा कर लेते हैं और काले बाज़ार में ऊंचे दामों पर बेचते हैं। इसके अतिरिक्त काले धन का प्रचलन बहुत बड़ी मात्रा में है। जमाखोरी, तस्करी व काला-बाज़ारी ने मूल्य वृद्धि को अधिक बल प्रदान किया है। भारत में कहीं न कहीं नित्य फैक्टरियों में हड़तालें होती हैं जिसका बुरा प्रभाव उत्पादन पर पड़ता है और कम उत्पादन के कारण कीमतें बढ़ती रहती हैं।

४. जनसंख्या

भारत में जनसंख्या की समस्या अधिक विशाल है। किसी अर्थशास्त्री ने कहा है कि "भारत एक धनवान देश है जिसमें निर्धन लोग निवास करते हैं।" इसका प्रमुख कारण भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या है। चीन के बाद भारत विश्व में सबसे अधिक जनसंख्या वाला देश है। भारत की जनसंख्या 80 करोड़ तक पहुंच गई है। दस वर्ष के अन्दर बीस करोड़ की वृद्धि हुई है। माल्थस के अनुसार 25 वर्ष के अन्दर जनसंख्या दुगनी हो जाती है और खाद्यान्न के साधन ठीक आधे रह जाते हैं।

बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण हम अनेक परेशानियां उठा रहे हैं। खाद्यन्न की बहुत कमी है। आवास-समस्या गम्भीर है। जीवन-स्तर नीचे जा रहा है। स्वास्थ्य गिर गया है। बीमारियां बढ़ गई हैं। अधिकांश व्यक्ति भोजन और वस्त्र-रहित रहते हैं। निर्धनता व्याप्त हो जाती है। अन्य आवश्यक वस्तुयें उचित कीमतों पर सरलता से उपलब्ध नहीं हो पाती हैं। हमारे बच्चे भूखे रहते हैं। वे अशिक्षित और पिछड़े हुए रह जाते हैं। हजारों व्यक्ति फुटपाथ पर बेआराम की नींद गुजारते हैं। बेरोजगार या बेकारी की समस्या बढ़ जाती है।

५. अनुशासनहीनता

विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता दुर्भाग्यवश भारत में समाज का एक सामान्य विषय बन गई है। ज्योंही एक बच्चा किशोरवस्था में प्रवेश करता है वह अपने माता-पिता, अध्यापकों और अन्त में सारे समाज के विरुद्ध विद्रोह करने लगता है। जहां कहीं विद्यार्थियों की इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य होता है वे हड़ताल कर देते हैं। वे कक्षा तथा परीक्षा भवन में अपने अध्यापकों तथा घर में अपने माता-पिता आदि का

अपमान करते हैं। वे सिनेमा, सर्कस तथा रेल यात्रा बिना टिकट देखना या सफर करना चाहते हैं। ये सब इस बात को सिद्ध करते हैं कि भारतीय विद्यार्थी अनुशासन-हीनता के मार्ग पर हैं।

अनुशासनहीनता का मुख्य कारण गन्दी राजनीति है हमारे नेता और राज-नीतिक दल उन्हें विध्वंसात्मक मार्ग पर केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए उकसाते हैं। वही तरीके वे अपने माता-पिता और अध्यापकों के लिए अपनाते हैं। उन्हें सदैव भटकाया जाता है। विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता का दूसरा कारण डिग्री लेने के बाद भी उचित रोजगार न मिलने के कारण निराशा है। उद्देश्यहीन शिक्षा उन्हें बहुत परेशान और दुखी बनाती है। इस कारण वे असभ्य और अनुशासनहीनता-पूर्ण व्यवहार करते हैं।

स्कूल-कालेजों में छात्रसंघ जैसे विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता उत्पन्न करने के साधन हैं। ये संघ विद्यार्थियों के चरित्र और अच्छे स्वभाव का रचनात्मक कार्य कठिनाई से ही कर पाते हैं। वे अध्यापक वर्ग पर भी हावी रहते हैं।

अनैतिक और हिंसात्मक चलचित्र भी भारतीय विद्यार्थियों को बरबाद कर रहे हैं। जैसा वे पर्दे पर देखते हैं वैसा ही वे अपनी कक्षा, घर और समाज में करते हैं। यह समस्या इतनी तीव्र है कि इसका कोई समाधान दृष्टिगोचर नहीं होता। भारत के विद्यार्थियों में बढ़ती हुई अनुशासनहीनता विष के समान है जिसका शीघ्र ही समाधान होना चाहिए ताकि देश में खुशहाली उत्पन्न हो सके।

६. दहेज समस्या :

दहेज समस्या या दहेज प्रथा भारतीय समाज के लिए विशेषतया निर्धनों के लिये एक बड़ा अभिशाप और चुनौती है। दहेज एक हस्तान्तरित सम्पत्ति है जो कि विवाह के अवसर पर नगद या सामान के रूप में सीमारहित दी जाती है। दहेज-प्रथा एक कीड़ा है जिसने भारतीय समाज की जड़ को खोखला कर रखा है। वास्तव में विवाह एक धार्मिक पवित्रता है जिसमें दो आत्मायें सदा सदा के लिये सुखी पारिवारिक जीवन व्यतीत करने के लिये सम्पूर्ण जीवन के लिये मिलती हैं परन्तु दहेज वैवाहिक जीवन की खुशियों को मार देता है। हजारों सुन्दर और निर्दोष लड़कियां दहेज की वेदी पर बलि हो जाती हैं। भारत में आज दहेज समस्या ने भयानक रूप धारण कर लिया है। दहेज रूपी रावण लड़कियों रूपी हजारों सीताओं को अपने मोहब्बत-प्यार रूपी राम के सच्चे प्रेम को प्राप्त करने से वंचित रखता और रुलाता है।

दहेज के अनेक कारण हैं जैसे, प्राचीन परम्परा, बुरी सामाजिक प्रथायें, जातिवाद, बेमेल विवाह, मिथ्याभिमान, धन के लिए लालच, बुरी आर्थिक दशा, सामाजिक स्थिति में भेदभाव तथा लड़की का वर्ण आदि। आज दहेज के दाम विभिन्न स्थिति के लड़कों के लिए पृथक–पृथक हैं, जैसे डाक्टरों, इंजीनियर, शिक्षकों, बैंक, जीवन बीमा तथा राज-सरकार में काम करने वाले लिपिकों आदि के लिये। लड़की की योग्यता पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। अत्याधिक नगद और सामान के रूप में दहेज तथा लड़की की सुन्दरता की आवश्यकता रहती है।

वेतनभोगी माता-पिता अपनी योग्य और सुन्दर कन्याओं के लिए भी उचित वर नहीं कर पाते।

नित्य ही समाचार पत्र निर्धन निर्दोष लड़कियों की उनके ससुराल वालों द्वारा हत्याओं की सूचना लाते हैं, क्योंकि उन्हें उनकी इच्छानुसार दहेज नहीं मिला था। कभी-कभी लड़कियां ससुराल में फटकार और मार निरन्तर पाने के कारण भी आत्म-हत्या कर लेती हैं। दहेज की प्रमुख बुराइयां, हत्याएं, आत्म-हत्याएं, पारिवारिक संघर्ष मानसिक तनाव निम्न जीवनस्तर, निर्धनता लड़का-लड़की के माता-पिता के बीच में तनाव की स्थिति, भ्रष्टाचार, अनैतिकता, रिश्वत, चोरबाजारी, आदि-आदि दहेज के दुष्परिणाम हैं। यह भारतीय समाज के मस्तक पर बहुत बड़ा कलंक है।

सम्भाव्य समाधान

उपर्युक्त 6 समस्याओं का समाधान मेरी दृष्टि में निम्नलिखित हो सकते हैं, यथा—

1. बेरोजगारी या बेकारी का एकमात्र समाधान जनसंख्या पर रोक लगाना है। विवाह देर से होने चाहिएं। व्यावहारिक शिक्षा मिलनी चाहिए। शिक्षा की पद्धति बदलनी चाहिए। शिक्षितों को यथायोग्य रोजगार मिलना चाहिए। इस प्रकार बेरोजगारी की समस्या दूर हो सकती है।

2. भीख को कैसे रोका जाये? सबके लाभ के लिए सरकार को आगे बढ़ना चाहिए। सर्वप्रथम भीख मांगने को गैर-कानून बना देना चाहिए परन्तु भिखारियों की समस्या इतनी विकट है कि केवल कानून बनाने से भीख मांगने को नहीं रोका जा सकता।

जनता को भी सरकार की सहायता के लिये आगे बढ़ना चाहिए। इसके लिये व्यक्तिगत रूप से दिया जाने वाला दान बन्द कर देना चाहिए। जिन पुरुषों को जरूरत हो और जो भिखारी कार्य करने के इच्छुक हों उन्हें रोजगार दे देना चाहिए। इस प्रकार भिखारियों की समस्या हल हो सकती है।

3. मूल्यवृद्धि रोकने के लिये सरकार को उत्पादन बढ़ाने के प्रयत्न करने चाहिए। उत्पादन वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करके बढ़ाना चाहिये। किसानों को वैज्ञानिक खेती, सहयोगी खेती, चकबन्दी और सिंचाई की सुविधायें प्रदान करनी चाहिए, जिससे उत्पादन बढ़े। हड़तालों को गैर-कानूनी घोषित करना चाहिए तथा प्राविधिक वैज्ञानिक ट्रेनिंग औद्योगिक कार्यकर्ताओं को दी जानी चाहिये ताकि वे अधिक उत्पादन बढ़ा सकें और आवश्यक वस्तुओं के मूल्य गिर सकें।

4. जनसंख्या पर नियन्त्रण रखने और परिवारों को सीमित रखने के लिये प्राकृतिक तथा वैज्ञानिक अनेक तरीके हैं। देरी से विवाह करना चाहिये। वैवाहिक जीवन में आत्मसंयम का सुझाव देना चाहिये इत्यादि। जनसंख्या नियन्त्रण के प्राकृतिक तरीके हैं। आपरेशन, औषधियों और अन्य वैज्ञानिक तरीके इस दिशा में लोगों के लिये सहायक हो सकते हैं। जैसे—'लूप', 'गर्भविरोधी' (निरोध) आदि वस्तुएं भी पर्याप्त सहायक सिद्ध होती हैं। नसबन्दी करने के लिए लोगों को प्रोत्साहित करना चाहिये। जहां परिवार नियोजन केन्द्र नहीं हैं वहां सरकार को परिवार नियोजन केन्द्र खोलने चाहिए। परिवार नियोजन के लिए कोई भी दवाव या ज़ोर-ज़बरदस्ती का प्रयोग नहीं करना चाहिए। हिन्दुओं के साथ-साथ मुस्लिम तथा इसाईयों का भी परिवार नियोजन होना चाहिए। इस प्रकार जनसंख्या पर रोक लगाई जा सकती है।

५. विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता को रोकने के उपाय

1. विद्यार्थियों को राजनीति से अलग रखना चाहिये।
2. स्कूल और कालिज शहर के वातावरण से दूर होने चाहियें।
3. छात्र संघ समाप्त किये जाने चाहिए।
4. विद्यार्थी और शिक्षकों के पारिवारिक रूप से मिलकर सामाजिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्य रचनात्मक रूप में करना चाहिए।
5. विद्यार्थियों की स्वेच्छा से पढ़ने के विषय छांटने चाहिए।

6. विद्यार्थियों के शैक्षिक जीवन के बाद उन्हें उचित रोजगार का आवासन मिलना चाहिए।
7. केवल गुरुकुल और ऋषिकुल प्रणाली के प्राचीन वातावरण का अनुसरण करके ही इस महान् समस्या का समाधान हो सकता है।

6. सरकार को कानून द्वारा दहेज प्रथा पर रोक लगानी चाहिए और उसको प्रोत्साहन देने वालों को कड़ी सजा देनी चाहिए। विवाह के पांच वर्ष के अन्दर किसी स्त्री की मृत्यु पर गुप्त सरकारी छानबीन की जानी चाहिए। तभी दहेज प्रथा बन्द हो सकती है।

भारत में ऐसी ही और समस्याएं हैं, जैसे—भाषा समस्या, विश्वशान्ति समस्या, काश्मीर समस्या, छुआछूत, पंजाब समस्या, शिक्षा समस्या, विवाह समस्या आदि-आदि समस्याएं भारत के सामने मुंह फैलाकर खड़ी हैं। ये सब समाधान की अपेक्षा रखती हैं।

—0—

त्वं राजेन्द्र ये च देवा
रक्षा नृन्पाह्यसुर त्वमस्मान्
त्वं सत्पति र्मघवा नस्तरुत्रस्त्वं
सत्यो वसवानः सहोदाः ॥
ऋ० 1–23-174–1

अर्थ :— हे परमैश्वर्यशाली आप वेद व सज्जनों के पालन कर्त्ता, परम प्रशंसित धनवान् हम लोगों को दुखःरूपी समुद्र से उतारने वाले हैं। आप सज्जनों में उत्तम, धन प्राप्ति कराने तथा बल देने वाले हैं। आप न्याय एवं विनय से युक्त हैं। अतएव मेघ सदृश आप हम मनुष्यों का पालन करें। साथ श्रेष्ठ गुण वाले धर्मात्मा विद्वानों की रक्षा करो।

सारांश यह है कि राजा अथवा अधिकारी सत्यनिष्ठ, धर्मात्मा सत्पुरुष एवं विद्वान लोगों को अपने निकट सम्पर्क में रखकर प्रजा पालन करे।

हिन्दी-गद्यकाव्य : उद्भव और विकास

ले०—पवन कुमार - छात्र,
एम०ए० । हिंदी । द्वितीय वर्ष ।

हिंदी-गद्यकाव्य का उद्भव और विकास देखने से पूर्व हमारे लिए यह देख लेना आवश्यक है कि गद्य-काव्य हिंदी की अपनी मौलिक विधा है या किसी का अनुसरण । हमारे हिंदी लेखकों में आत्महीन की यह भावना है कि हिंदी अपनी मौलिक विधा नहीं है । वे हिंदी को प्राचीन संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश आदि तथा बंगला और अंग्रेजी-साहित्य की विधा का रूप मानते हैं ।

हिंदी-गद्यकाव्य के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में भी हमारे अनेक उच्च कोटि के विद्वानों की यह धारणा रही है कि हमारी यह विधा बंगला के प्रभावस्वरूप ही अस्तित्व में आ पाई है । बंगला के प्रसिद्ध विद्वान् डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि—कविन्द्र रविन्द्र की "गीतांजली" के अंग्रेजी अनुवाद के प्रकाशित एवं प्रचारित होने के उपरान्त ही भारतीय भाषाओं में गद्यकाव्य का लिखा जाना आरम्भ हुआ । इसी आधार पर डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे हिन्दी के शीर्ष आलोचकों ने घोषणा कर दी कि हिन्दी गद्यकाव्य मूल रूप में "गीतांजली" का ऋणी है ।

वैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी हिन्दी गद्यकाव्य पर "गीतांजली" के प्रभाव को माना है साथ ही हिन्दी के प्रसिद्ध गद्यकाव्य लेखकों में से राय कृष्णदास, महाराज कुमार डाक्टर रघुवीर सिंह, तेजनरायण काक आदि ने मुक्त रूप से "गीतांजली" के प्रभाव को स्वीकार किया है परन्तु दूसरी ओर हिन्दी के अनेक आलोचकों एवं गद्य–काव्य लेखकों ने "गीतांजली के इस प्रभाव को मानने से एकदम इन्कार कर दिया है । ऐसे गद्यकाव्य-लेखकों एवं आलोचकों में शिवशेखर द्विवेदी, जर्नादिनराय नागर, वृन्दावन लाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, विनोदशंकर व्यास तथा दिनेश नन्दिनी डालमिया आदि प्रमुख हैं ।

इनमें से कुछ के मत दृष्टव्य हैं । वियोगी हरि ने लिखा है—"गद्यकाव्य लिखने की स्वयं भावस्फूर्ति हुई है । जब पहला गद्यकाव्य तरंगिणी नामक लिखा था तब रवीन्द्र की "गीतांजली" का नाम भी मैंने नहीं सुना था न बंगला से परिचय था और और न तब "गीतांजली" का हिन्दी अनुवाद ही हुआ था, जिसकी शैली कादम्बरी से

मिलती थी। "हिन्दी गद्यकाव्य की प्रसिद्ध एवं अत्यन्त लोकप्रिय लेखिका दिनेश नन्दिनी डालमिया का मत भी इस सम्बन्ध में जान लेना आवश्यक है, यथा-

"शबनम", 'मौक्तिक माल' आदि रचनाएं तो उस काल की हैं जब मैंने मैट्रिक पास भी नहीं किया था और मुझे हिन्दी का वैसा ज्ञान न था जैसा कि एक लेखक को होना चाहिए। फिर मैंने किसी से प्रभावित होकर भी नहीं लिखा। ऐसा लगता है कि कि सहसा होने वाले विस्फोट की तरह भाषा ही यह रूप ग्रहण कर गई।" इस वर्ग के अन्य लेखकों में भी लगभग इसी प्रकार "गीतांजली" या "उद्भ्रान्तप्रेम" के प्रभाव को अस्वीकार किया है।

विद्वानों का ऐसा एक और वर्ग है जो हिन्दी गद्यकाव्य के उदभव तथा विकास में "कादम्बरी" तथा रवीन्द्र की "गीतांजली"-दोनों का ही प्रभाव स्वीकार करता है। डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, बद्री नारायण चौधरी 'प्रेमधन' तथा ठाकुर जगमोहन सिंह आदि भारतेन्दुकालीन गद्य लेखकों के लेखों में हिन्दी-गद्यकाव्य का उद्भव मानते हैं तथा इस क्षेत्र की रहस्योन्मुखी आध्यात्मिकता को रवीन्द्र का प्रभाव स्वीकार करते हैं। मिश्र जी तथा अवस्थी जी भी दोनों प्रभाव के समन्वित रूप को हिन्दी गद्यकाव्य की मूल प्रेरणा स्वीकार करते हैं।

हिन्दी-गद्यकाव्य का विवेचन करते समय अनेक विकल्प सामने आते हैं। हिन्दी-गद्यकाव्य का उद्भव "गीतांजली" के प्रभाव से मानना चाहिए या स्वतन्त्र रूप से ? क्योंकि हिन्दी के गद्यकाग्य के लेखकों में से एक वर्ग तो "गीतांजली" के प्रभाव को स्वीकार करता है तथा दूसरा वर्ग इस प्रभाव को मानने से इन्कार करता है।

वस्तुस्थिति यह है कि गद्यकाव्य का प्रारम्भिक रूप तीन प्रकार के प्रभावों का फल है। पहला प्रभाव बाण की "कादम्बरी" की शैली का है। बाबू ब्रजनन्दन सहाय गोविन्द नारायण मिश्र, प्रेमधन आदि ने "कादम्बरी" की सालंकार, सानुप्रासमया भाषा से प्रभावित होकर अपनी गद्य-रचनाओं में काव्यात्मक तत्वों का समावेश किया है। इन लोगों ने स्वतन्त्ररूप से गद्यकाव्य नहीं लिखा था। ब्रजनन्दन सहाय का "सौन्दर्योंसक" नामक उपन्यास इतिवृत्तहीनसा कथा-काव्य है, जिसमें गद्यकाव्य के अनेक गुण मिल जाते हैं। "उद्भ्रान्त प्रेम" प्रकाशन सन् 1915 में हुआ जबकि "सौन्दर्योपासक" सन् 1911 में प्रकाशित हुआ। इस समय तक "गीतांजली" का अस्तित्व भी न था। अत: उक्त लेखकों ने बंगला के प्रभाव को स्वीकार नहीं किया हैं।

दूसरी ओर राय कृष्णदास, महाराज कुमार डा० रघुवीर सिंह, तेजनारायण

काक आदि का गद्यकाव्य है जिस पर "गीतांजली" का गहरा प्रभाव है और इस प्रभाव को इन लोगों ने स्वीकार किया है। राय कृष्णदास का "साधना" नामक गद्य काव्य-संग्रह हिन्दी गद्यकाव्य का प्रकाश स्तम्भ माना जाता है। परवर्ती अनेक गद्य-काव्य के लेखकों ने "साधना" की शैली को अपनाया है। अतः इस वर्ग के लेखकों पर भी बंगला का प्रभाव है।

गद्य लेखकों का तीसरा वर्ग वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, दिनेशनन्दिनी डालमिया आदि का है जिन्होंने किसी भी बाह्य प्रभाव को स्वीकार न कर अपनी उद्वेलित भावनाओं को ही अपने गद्यकाव्य की जननी बताया है। इनमें से नवीन लेखकों पर तो "साधना" का प्रभाव माना जा सकता है परन्तु वियोगी हरि, शास्त्री जी एवं वर्मा जी पर इसका प्रभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि "साधना" का प्रकाशन 1916 में हुआ था, वियोगी हरि की "तरंगिणी" 1919 में तथा शास्त्री का "अन्तःस्थल" 1921 में प्रकाशित हुआ था। आगे चलकर लेखकों के एक वर्ग ने स्वतन्त्र रूप से इसी परम्परा को आगे बढ़ाया था जिनमें दिनेश नन्दिनी का नाम महत्वपूर्ण है। वैसे स्वतन्त्र रूप से हिन्दी-गद्यकाव्य का आरम्भ राय कृष्णदास की "साधना" से ही माना जाता है।

परन्तु हम इस विवेचन में उन साहित्यिक महर्षि का नाम भूल जाते हैं जो वास्तव में हिन्दी-गद्यकाव्य के जन्मदाता थे, और वे थे "भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र।" हिन्दी-गद्य में भावावेश से परिपूर्ण भावात्मक शैली के दर्शन सर्वप्रथम भारतेन्दु की रचनाओं में होते हैं।

"चन्द्रावली" भावात्मक गद्य का एक अनुपम उदाहरण मानी जाती है। भारतेन्दु के इस भावात्मक गद्य का अनुकरण उसके समकालीन एवं परवर्ती अनेक लेखकों ने किया था। भारतेन्दु का यह भावात्मक गद्य उनके नाटकों, निबन्धों तथा विभिन्न ग्रंथों के समर्पणों आदि में बिखरा पड़ा है। उनके इस भावात्मक गद्य का उदाहरण द्रष्टव्य है। —"नाथ,

एक यह नया कौतुक देखो! तुम्हारे सत्य पर! चलने वाले कितना कष्ट उठाते हैं, यही इसमें दिखाया है। भला हम क्या कहें? जो हरिश्चन्द्र ने किया वह तो अब कोई भी भारतवासी न करेगा, पर उस वंश ही के नाते इनको भी मानना। हमारी करतूत तो कुछ भी नहीं, पर तुम्हारी तो बहुत कुछ है, बस इतना ही सही। लो, सत्य हरिश्चन्द्र तुम्हें समर्पित है—अंगीकार करो। छल मत समझना, सत्य का शब्द साथ है, कुछ पुस्तक के बहाने समर्पण नहीं है।"

हिन्दी-गद्यकाव्य के उद्भव में भारतेन्दु के इस योगदान का महत्व डाक्टर कमलेश की इस टिप्पणी से स्पष्ट हो जाता है—"हिन्दी गद्य में भारतेन्दु द्वारा जिस भावुकता का समावेश किया गया था और जिसने उनकी कृतियों में चाहे वे निबन्ध हों या उनके द्वारा सम्पादित पत्रों की टिप्पणियां, कवित्व का समावेश किया था, उसीने गद्यकाव्य को जन्म दिया और उन्हीं के मण्डल द्वारा सुसज्जित हो कर उस रूप में आया जिसे सर्वश्री वियोगी हरि और चतुरसेन शास्त्री ने प्रस्तुत किया।"

हिन्दी-गद्यकाव्य के विकास में "उद्भ्रान्त प्रेम" का भी काफी महत्वपूर्ण योग रहा है। इसमें हिन्दी-गद्यकाव्य को "कादम्बरी" की क्लिष्ट एवं बोझिल शैली से बचाकर उसे सरल रूप प्रदान किया। "गीतांजली" ने रहस्योन्मुखी आध्यात्मिकता का समावेश किया।

भारतेन्दु को हिन्दी-गद्यकाव्य का प्रथम लेखक माना जाता है; यद्यपि उनसे भी पहले लल्लू जी लाल के "प्रेमसागर" में इसके बीज मिल जाते हैं। भारतेन्दु के उपरान्त गोविन्द नारायण मिश्र, प्रेमधन, ठाकुर जगमोहन सिंह की रचनाओं में गद्यकाव्य शैली के दर्शन होते हैं। बालकृष्ण जैसे विचारप्रधान गद्य-लेखकों की रचनाओं में भी यत्र तत्र आलंकारित शैली की गद्य-रचना मिल जाती है।

सन् 1915 से लेकर 1930 तक हिन्दी-गद्यकाव्य के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा। इसी वर्ष रायकृष्णदास की "साधना" प्रकाशित हुई थी जिसने साहित्य की इस विधा को एक नये मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया था। इस ग्रन्थ में "रहस्यवादी लाक्षणिक अभिव्यक्ति एवं शैलीगत सारल्य" के सर्वप्रथम दर्शन हुये।

सन् 1925 से लेकर 1930 तक हिन्दी में अनेक गद्यकाव्य-संग्रहों का प्रकाशन हुआ जिनमें भक्ति सेवा-प्रेम राष्ट्रीयता आदि भावनाओं को प्रमुख स्थान मिला तथा शैलीयां पूर्ववर्ती ही अपनाई गयीं। इनमें वियोगी हरि का "अन्तर्नाद" हृदयनाथ पाण्डेय के "मनोव्यथा", "मदोन्मत्त", "देवदूत" विद्यार्थी का "कुमार हृदय का उच्छ्वास"; 1928 में वृन्दावनलाल वर्मा की "प्रेम की हिलोर" तथा जगदीश चन्द झा की "तरंगिणी" प्रकाश में आई। इस प्रकार कुल मिलाकर एक सौ गद्यकाव्य प्रकाशित हुये परन्तु अब यह विधा धीरे-धीरे समाप्त सी हो रही है।

—0—

भारतीय लोकगीतों की परम्परा

ले०— ज्ञानचन्द शास्त्री

एम० ए०, प्रवक्ता—हिंदी-विभाग ।

संसार में मानव के आविर्भाव से लोकगीतों का उद्भव माना जाता है। यद्यपि लोकगीतों के जन्म का कोई काल-क्रम नहीं है, परन्तु ये मौलिक परम्परा से अलग प्रवाह के रूप में अनवरत असीम अतीत के गर्भ में छिपे उद्गम स्रोत की ओर संकेत करते हैं। लोकगीतों की अनन्त प्रवाहमयी परम्परा की प्राचीनता के सम्बन्ध में एक विद्वान ने लिखा है—"जब से पृथ्वी पर मनुष्य है, तब से गीत भी हैं। जब तक मनुष्य रहेंगे, तब तक गीत भी रहेंगे। मनुष्यों की तरह गीतों का भी जीवन मरण साथ चलता रहता है। कितने ही गीत तो सदा के लिए ही मुक्त हो गये, कितने ही गीतों ने देशकाल के अनुसार भाषा का बाना ही बदल डाला, पर अपने असली स्वरूप को कायम रखा। बहुत से गीतों की आयु हजारों वर्ष की होगी। ये थोड़े फेर-फार के साथ समाज में अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं।"

लोकगीतों की विकास-परम्परा भारतवर्ष में बहुत पुरानी है। लोक गीतों का प्रथम पग-चिह्न वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। पुत्र-जन्म, यज्ञोपवीत तथा विवाहादि उत्सवों पर सरस गीत गाए जाने का उल्लेख उनमें मिलता है। इन गीतों के लिए वेद में "गाथा" शब्द का प्रयुक्त हुआ है तथा गीत गाने वाले के अर्थ में "गाथिन" शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] विवाहादि अवसरों पर गाए जाने वाले गीत "रैमी" "गाथा" नामों से अभिहित किये जाते थे परन्तु "गाथा" शब्द विशिष्ट अर्थ का सूचक है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी गाथाओं का उल्लेख है। ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋक् और गाथा का अन्तर दिया है जो इस प्रकार है—ऋक् दैवी होती थी और गाथा मानुषी। गाथाओं का प्रयोग मन्त्र के रूप में नहीं किया जाता था और वे ऋक् यजु तथा साम से अलग होती थीं। प्राचीन काल में किसी राजा के उदात्त एवं महान् चरित्र को

---

1. पं० रामनरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी—ग्राम गीत : पृ०-78
2. "इन्द्रमिद् गाथिनो वृहर्दिकेंभिरर्किणः"—ऋग्वेद, 8/71/14

लक्षित करके जो गीत समाज में प्रचलित हो जाते थे और जन-समूह द्वारा गाये जाते थे और वे गाथा कहलाते थे।

वैदिक गाथाओं के उदाहरण शतपथ ब्राह्मण[1] तथा ऐतरेय ब्राह्मण[2] में उपलब्ध होते हैं। इनमें अश्वमेध यज्ञ करने वाले राजाओं के चरित्र का वर्णन है। ऐतरेय ब्राह्मण में इन गाथाओं को कहीं "श्लोक" कहीं "यज्ञगाथा" और कहीं केवल "गाथा" कहा गया है।[3]

एतिहासिक गाथाओं की यह परम्परा महाभारत काल में भी पूर्ण रूप से प्रचलित थी। दुष्यन्त-पुत्र भरत के सम्बन्ध में अनेक गाथाएं महाभारत काल में उपलब्ध होती है। ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित गाथाएं श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में प्राप्त होती हैं। गाथाओं का गायन विशेष रूप से राजसूय यज्ञ के अवसर पर ही होता था।

इस प्रकार लोकगीतों के विकास की परम्परा में हम देखते हैं कि लोकगीत का सर्वप्रथम ऐतिहासिक रूप गाथा ही था। वैदिक काल में गाथाओं के मुख्य दो रूप लक्षित हुए—

1. ऐतिहासिक-राजसूय यज्ञादि के अवसर पर गाई जाने वाली गाथाएं।
2. देव विषयक-विभिन्न संस्कारों के अवसर पर मंगल हेतु गाई जाने वाली गाथाएं।

पाली भाषा के जातकों में उपर्युक्त धारणा की सम्पुष्टि हो जाती है। पाली भाषा में प्रयुक्त गाथाएं अत्यन्त प्राचीन हैं जिनमें तत्कालीन लौकिक कहानियों एवं घटनाओं का सार रूप में उल्लेख किया गया है। भगवान् बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित कथाएं जो जातक कहलाती हैं गाथाओं के माध्यम से ही व्यवत हुई हैं। पाली के प्रसिद्ध सिंहचर्य जातक हैं सिंह की खाल पहन कर खेतों में धान-जौ खाने वाले गधे की कथा है। किसान के रूप में उपस्थित बोधिसत्त्व (गौतम बुद्ध) गधे की आवाज पहचान कर इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए प्रथम गाथा कहते हैं। यहीं पर द्वितीय गाथा गधे के स्वामी, एक बनियां के द्वारा कही गई है।[1] प्राकृत काल में "लोकगीतों" का विकास

---

1. शतपथ ब्राह्मण : कांड 13, अध्याय 1, ब्राह्मण 5
2. ऐतरेय ब्राह्मण 8/4
3. तादेशाऽभि यज्ञगाथा गीयते। तां गाथा दर्शयति। तत्र प्रथमं श्लोकमाह—ऐतरेय ब्राह्मण 39-7

परिलक्षित होता है। हाल की "गाथा सप्तशती" में संग्रहीत सात सौ गाथाएं उसका प्रमाण हैं। एक गाथा में विरहिणी नायिका की मनःस्थिति का अत्यन्त सुन्दर निरूपण किया गया है। जब वह प्रियतम के परदेश जाने के पश्चात् दिवस गणना के लिए आतुर होकर प्रथम दिवस के अर्द्ध भाग में ही "आज गया है" "आज गया है" सोच-सोचकर पूरी दीवार को लकीरों से भर देती है।[2]

वैदिक युग के बाद महाकाव्य एवं पौराणिक युग में भी लोकगीतों की विकास-परम्परा दिखाई देती है। बाल्मीकिरामायण में राम-जन्म के शुभ अवसर पर गन्धार्वों द्वारा गायन एवं अप्सराओं द्वारा नृत्य करने का बालकाण्ड में उल्लेख किया है। महाकवि कालिदास ने अज के जन्मोत्सव के अवसर पर राजा दलीप के राजमहल में वेश्याओं द्वारा नृत्य एवं गायन-वाद्य प्रस्तुत करने का वर्णन किया है। संस्कृत की प्रसिद्ध कवयित्री "विज्जिका" ने धान कूटने वाली स्त्रियों के द्वारा गाए जाने वाले गीत का अत्यन्त मनोहर एवं सरस रूप में वर्णन किया है। स्त्रियां धान कूट रहीं हैं साथ ही गीत भी गाती जा रही हैं। मूसल उठाने एवं गिराने के साथ उनकी चूड़ियों से झंकार से निकल रही है। गीतों के स्वर चूड़ियों की झंकार से मिलकर आनन्द की सृष्टि कर रहे हैं।[4]

---

1. क. नेत सीहस्स नदितं न व्याधरस न दीपितो।
   पारुतो सीहचम्मेन जम्मो नदति गदमोति ॥
   —पालिजातकावली, पृ०-17

   ख. चिरं पि खो तं खोदय्य गदमो हरितं यवं।
   पारत्तो सहिचम्मेन समानो च दूसमीति ॥ वही, पृ०–17

2. अज्जं गओत्ति, अज्जं गओत्ति, अज्जं गओति मभिरीए।
   पढमच्चियय दिरुहछे कुड्डो रेहाहिं चितलिओ ॥
   —गाथा सप्तशती, 33/8

3. सुख श्रवा मंगल सूर्य निस्विनाः प्रमोद नृत्यैः सह वारयोषिताम्।
   न केवलं सद्मनि मागधोपतेः पथि व्यजम्यन्त दियोकसामपि ॥
   —रघुवंश, 3/119

4. विलासमसृणोल्लसम्मुसत लोलदोः कन्दली -
   परस्पर परिस्खतद्वलमानिः स्वनोद् वन्धराः।
   लसन्ति कलहुंकृति प्रसभकम्पितोरः स्थला,
   त्रुटुगमक संबुता कलभगण्डली गीत्तमः ॥
   (हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास, भाग 16,)
   पृ० 20 से उद्धृत

इसी प्रकार महाकवि हृष ने चक्की चलाती हुई स्त्रियों का उल्लेख किया है। स्त्रियां सत्तू पीस रही हैं जिसकी सुगन्ध पथिकों को आकृष्ट कर लेती हैं।[1] चक्की चलाती स्त्रियां गीत गाती हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने रामचरितमानस में अनेक अवसरों पर स्त्रियों द्वारा मंगल गान गाए जाने का उल्लेख किया है। राम-जन्म, सीता का गौरी-पूजन, सीता-स्वयंवर, सीता-राम-विवाह इत्यादि समस्त अवसरों पर स्त्रियां मधुर गीतों का गायन करती हैं। तुलसीदास जी ने लोक गीतों की व्यापक महत्ता का प्रदर्शन किया है। उनके काव्य में कोई भी पावन-क्षण गीतों की सुधा-धारा से आप्लावित हुए बिना नहीं रहता है। राम-विवाह के अवसर पर बारात को भोजन कराते हुए स्त्रियों द्वारा जेवनार तथा गाली गाने का उल्लेख भी उन्होंने किया है।[2] गाली गाने की प्रथा हिन्दू समाज हैं अभी तक चली आ रही है, एक नवविवाहिता अपने पति से कहती है—

"घुन्डी खोई गई रोनादार हमारे बाजूबन्द की।
घर ही घर में खोई गई घुन्डी, अब का बलम हम पैं धरी है हुन्डी।।
दौरानी, जठानी मेरी दौऊ हैं गुन्डी।।
ले गई साफ चुराय, सलाह कुछ छोटी ननद की।"

तुलसीदास जी ने अपने काव्य में लोकरीतियों का वास्तविक चित्रण उपस्थित किया है। लोक-रीतियों के सम्यक् निरूपण के समय लोकगीतों को अत्यधिक महत्त्व देना स्वाभाविक ही था। "जानकी मंगल" एवं "पार्वती मंगल" में समस्त वैवाहिक रीतियों एवं विधियों सहित क्रमशः राम-सीता एवं शिव-पार्वती के विवाह का वर्णन है। इसमें रीति के अनुकूल गीत गाए जाने का सर्वत्र उल्लेख प्राप्त होता है। राजस्थान में "ढोला मारूरा दूहा" एक लोकगीतात्मक काव्य है। जगनिक का आल्ह खण्ड भी गीतों की प्रवृत्तियों का प्रतीक है। अपने मौलिक रूप में वह जैसा भी रहा हो, लोककण्ठ से प्रवाहित होकर लोकगीत की परम्परा में आ गया है।

---

1. प्रतिहट्टपथे घरट्टजात पथिकाह्वानद-सक्तु सौरभैः।
कलहान्न धनान् यदुत्थितात् अधुनाप्युज्झति घर्घर स्वनः।।
—नैषधचरित सर्ग 2/85

2. जेंवत देहि मधुर धुनि गारी।
लै लै नाम पुरुष अरु नारी।।—बालकाण्ड
नैन विशाल नउनियां भौं चमकावइ हो।
देह गारी रनिवासहिं प्रमुदित गावई हो।।—रामललानहछु।

आधुनिक काव्य की चेतना में, प्रचलित लोकगीत परम्परा की छाप पन्त जी के "ग्राम्या" शीर्षक में स्वतः अंकित हो उठी है। लोक जीवन के प्रति मानव-मन की आस्था के परिणाम स्वरूप अनेक अन्तर्भूत तथ्यों का उद्‌घाटन हो रहा है यथा—

मांगतु मांगतु मान घटे,
अरु प्रीति घटे नित के घर जाए।
ओछे के संगते बुद्धि घटे,
और क्रोध घटे मन के समझाए ॥

—0—

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत
द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।
आप्यायमानाः प्रजयाधनेन
शुद्धाः पूताः भवत यज्ञियासः ॥
ऋ० 10-18-2 ॥

अर्थ :—हे मनुष्यो! तुम मृत्यु के पैर उखाड़ते हुए आगे बढ़ोगे तभी दीर्घायु प्राप्त करोगे। अर्थात् निडर होकर कार्य करोगे, यश मिलेगा और यश कभी क्षीण नहीं होता। तभी प्रजा और धन से भरपूर रहोगे। किन्तु इसके लिए तुम शुद्ध, पवित्र और यज्ञमय जीवन बिताओ।

सत्यं-शिवं-सुन्दरम्

ले०—सभाबहादुर सिंह
छात्र एम०ए० । द्वितीय वर्ष । हिंदी

'सत्य,-शिवं-सुन्दरम' हिन्दी साहित्य के लिए एक सूत्र है। यहां की प्राचीन शास्त्रीय प्रणाली यह रही है कि पहले किसी सूत्र का निर्माण कर लिया जाता है, पुनः उसकी व्याख्या की जाती है। यह सत्यं-शिवं-सुन्दरम् भी हिन्दी साहित्य के लिए ऐसा ही सूत्र है जिसका प्रचार आजकल अधिक हो रहा है। यह सूत्र आज आदर्श और उद्देश्य के रूप में व्यवहृत हो रहा है। बंकिमचन्द्र के "वन्देमातरम" के समान इसकी व्यापकता तथा लोकप्रियता बराबर बढ़ती जा रही है। इसकी व्यापकता जब इतनी अधिक है तो हमें इसके प्रारम्भिक इतिहास को भी जानना चाहिए।

मूल स्रोत

कुछ विद्वानों का विचार है कि यह 'सत्यं–शिवं–सुन्दरम्' यूनानी दार्शनिक अरस्तू के (The Truth, The Good The Beautiful) का हिन्दी अनुवाद है, किन्तु यह बात पूर्णतः सत्य प्रतीत नहीं होती। भारत वर्ष के लिए इन तीनों शब्दों में कोई भी नवीन नहीं है। भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन, मूलतः इन्हीं पर आधारित हैं। जैसे—सच्चिदानन्द'। इसमें सत्य का आनन्द रूप प्रस्तुत है। 'हित' मनोहारि च दुर्लभ च' में शिवं और सुन्दरम का रूप मिल जाता है। भारतीय संस्कृति में अधिकांशतः तीन संख्या को अधिक महत्व दिया जाता है जैसे-धर्म के क्षेत्र में–ब्रह्मा, विष्णु, महेश। दर्शन के क्षेत्र में सत्, चित, आनन्द। सृष्टि के तीन मूल तत्व-आदि, मध्य, अन्त। ब्रहम के तीन रूप- अव्यक्त (व्यक्त से पहले), व्यक्त और पुनः अवयक्त (प्रलय के पश्चात) का अस्तित्व है। अतः सत्यं-शिवं-सुन्दरम भी इसी प्रकार साहित्य का एक सूत्र रूप है। इस सत्यं-शिवं-सुन्दरम् को यदि और संक्षिप्त किया जाय तो शिव में समाहित हो जाता है क्योंकि कर्तव्यपथ में सत्य शिव बन जाता है और शिव कल्याणकारी होने से सुन्दर होता है अतः इनका एक दूसरे से अनभ्य संबंध है। "पंत" जी की पंक्तियों में इनका स्वरूप देखें-

"वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार,

लोचनों में लावण्य अनूप
लोक-सेवा में शिव अविकार।

सत्य का स्वरूप

'सत्य' का स्वरूप दर्शन में उस आनन्द स्वरूप सत्ता से है जो अव्यक्त है और जिससे जीव पृथक् होकर अनेक सांसारिक यातनाओं में पड़कर दुख भोगता है और पुनः लौटकर उसी अव्यक्त सत्ता में अपने को विलीन कर देता है। यह संसार असत्य है, स्वप्नवत् है किन्तु यह तभी होता है जब जीव इन सांसारिक व्यापारों के सामने अपनी पृथक् सत्ता को भूलकर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है। मुक्त हृदय हो जाता है। आत्मा की यह मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। रस-दशा में आने पर मनुष्य अपने संकुचित विचारों को छोड़कर भावलोक में चला जाता है। इस स्थिति में पहुंचने पर मनुष्य कुछ समय के लिए अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन कर देता है। ऐसी अवस्था में वह जगत को उसी ब्रह्म से उत्पन्न, उसी का एक अंश अनुभव करता है। जगत् के साथ उस ब्रह्म का पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। उसकी अलग भाव सत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है। यही "सत्य" का स्वरूप है।

काव्य में कवि अपनी कल्पना और अनुभूति के आधार पर सुन्दर रूप प्रस्तुत करता है। वह यर्थाथ अथवा बीते हुए के अतिरिक्त सम्भावय–सत्य का चित्रण करता है। उसकी यह कल्पना अनुभूतिजन्य होती है, अतः वह कल्पना ही नहीं वरन् शाश्वत सत्य पर आधारित होती है। काव्य में प्रकृत–सत्य की अपेक्षा सम्भाव्य–सत्य ही काव्य में आदर्श की प्रतिष्ठा करता है।

'शिव' का स्वरूप

मनुष्य अपनी सत्ता से भाव-सत्ता में विचरण करने लगता है और ब्रह्म के साथ तादात्म्य होने पर वह लोकमंगल की कामना करता है। वह अपनी अश्रुधारा में जगत् की अश्रुधारा, हास-विलास में जगत् के आनन्द का अनुभव करता है। यही उसका कर्तव्य है। इसी कर्तव्य-पथ में विश्वात्मा में जो लोकमंगल का तत्व है वही 'शिव' है अर्थात् लोकमंगल ही शिव है।

भारतीय शास्त्र में 'शिवजी' के इस 'शिव' की सम्पूर्ण विशेषता व्यापत है। 'शिवजी' के नरमुण्ड-माल, सर्प, विष आदि अमंगल हैं किन्तु इन सबसे ऊपर अमृतमय चन्द्रमा और समस्त कलुषों को धो देने वाली पावन पवित्र गंगा विराजमान हैं। अतः 'शिवजी' का वह कुरूप अमंगलकारी भूली भटकी आत्माओं को तो धारण करता ही है साथ ही सबसे सुन्दर अमृतमय चन्द्रमा और कलुष-निकन्दिनि पावन गंगा को सबसे

उच्च स्थान दिया है। "शिवजी" का यही प्रभुत्व अमंगल को भी मंगलमय बना देता है। यही शिवत्व है। इसीलिए इतना भयंकर वेषधारी शिव ही "शिव" है।

जैसे रामचन्द्र जी जग–पीड़क रावण पर आघात करते हैं। उसके वंश का नाश कर देते हैं, उसे मार डालते हैं, किंतु यह सब अशोभनीय कार्य वे केवल परजनहित की भावना से कहते हैं। अतः राम शिवकारी थे।

तुलसी ने भी इसी का वर्णन किया है :-

"जब जब होय धरम की हानी।
बाढ़हि अधम असुर अभिमानी ।।
तब तब प्रभु धरि मनुज सरीरा।
हरिहं कृपानिधि सज्जन पीरा" ।।

काव्य में इसी प्रकार कुरुपता को सौन्दर्य में अमंगल को मंगल में चित्रित करना ही शिव कहा जा सकता है।

'सुन्दरम्' का स्वरूप

प्रज्ञा का सत्य स्वरूप जब हृदय में स्थान पाता है तो प्रणय के रूप में परिणत हो जाता है और नेत्रों में जाकर लावण्य बन जाता है। इस अनूपलावण्य रूप को ही सौन्दर्य कहते हैं।

'कीटस' के शब्दों में-'Beauty is truth Truth is beauty' कहा गया है।

शुक्ल जी ने- "हमारी अन्तःसत्ता की यही उदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।" कहा है।

अतः सौन्दर्य की परिभाषा यह हुयी कि जो वस्तु अपने लक्ष्य या कार्य को पूरा करे, वही सुन्दर है। सौन्दर्य को विभाजित नहीं किया जा सकता क्योंकि वह एक वस्तु है और उसके अनुभवकर्ता अनेक मनुष्य हैं। सभी अपने-अपने अनुसार उसका

अनुभव करते हैं किंतु उसकी महिमा घट नहीं सकती। जैसे -

सीतलातारु सुगन्धि की घटी न महिमा मूर,

पीनस वारौ ज्यों तजै सोरा जानि कपूर ।

वास्तविक सौन्दर्य वह है जो एक सा रहे और दर्शकों के लिए उसमें नित्य नवीनता मिले । बिहारी ने अपनी नायिका का ऐसा ही रूप चित्रित किया है जिसमें सदैव नवीनता दिखायी पड़ती है, यथा -

लिखन बैठी जाकी सबी, गहि गहि गरब गरूर ।
भए न केते जगत के, गतुर चितेरे कूरं ।।

आन्नद की अनुभूति हम दो अवस्थाओं में करते हैं । साधनावस्था 2. सिद्धावस्था ।

साधनावस्था में अमंगल और अन्धकार में पड़े हुए जीवों के प्रति सहाभूति होती है । वे अन्धकार पर विजय पाने के लिए प्रकाश की खोज करते हैं । यह खोज उपासना कहलाती है उपासना में ज्ञान कर्म, भक्ति द्वारा हम अभीष्ट की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं और प्राप्ति में सुख का अनुभव करते हैं, जो सुन्दर होता है ।

सिद्धावस्था साधना द्वारा अमंगल तथा अशिव रूपों को पूर्णतया नष्ट करके मंगलमय रूप की प्राप्ति को कहते हैं । इसमें पूर्ण सौन्द्रय की अनुभूति होती है । इस प्रकार सिद्धावस्था पूर्ण मंगलमय सौन्द्रय की प्राप्ति है ।

जिस प्रकार शरीर को स्त्रस्थ रखने के लिए भोजन, वस्त्र आदि की आवश्कता है उसी प्रकार सूक्ष्म भावनाओं के भण्डार हृदय को गतिमान और स्वस्थ रखने के लिए सुन्दर कल्पना की आवश्यकता होती है । भक्ति जिस प्रकार बुद्धि और शरीर द्वारा अपने उद्देश्य की प्राप्ति करती है उसी प्रकार भावनाओं द्वारा वह सुन्दर सत्य का निर्माण करती है । कवि अव्यक्त ब्रहम को स्वयं के आन्नद के लिए "एकोह बहुस्याम्" का विचार करता है । सत्य का सुन्दर रूप गोस्वामी तुलसी दास ने निम्न प्रकार से व्यक्त कियंा है ।

कहा कहौं छवि आजु की, भले बने हौ नाथ ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुषबाण लेउ हाथ ।।

काव्य रचना एक प्रकार की कला है और यह कला ही मानव को उस उच्च भाव भूमि पर ले जाती है जहां वह अपनी पृथक अत्ता को भूलकर मनुष्यता के

सर्वोच्च भाव लोक में जा पहुंचता है और अपना पराया भूल जाता है। यह 'सर्व-सुखाय' होती है। कला का अन्तिम लक्ष भी आनन्द है।

अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य में सत्यं-शिवं-सुन्दरम तीनों तत्वों का सन्तुलित समन्वय ही उसे पूर्णता प्रदान करता है। एकाकी रूप में ये तीनों तत्व अपूर्ण रहते हैं। अतः यह तीनों तत्व भिन्न न होकर एक ही मूल तत्व के भिन्न भिन्न रूप हैं।

—0—

इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि।
यद्वाहमभिद्रुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम ॥

ऋ० 1-23-22

अर्थ :- जल देवता हमारे शारीरिक मल को दूर करें औरजो कुछ मेरे भीतर तमोगुणी भाव उत्पन्न हों अर्थात मैं कोई पापकर्म करूं, उन्हें भी दूर करें। यदि मैं किसी से द्रोह अथवा क्रोध करूं या असत्य व्यवहार करूं, यह सब जल देवता दूर करें, सारांश यह है कि जैसे जल मानव शरीर के मल को दूर करता है उसी प्रकार आप्त पुरुषों का सत्संग हमारी आन्तरिक मलिनता को दूर करता है। अतएव सत्संङ्ग करना परम धरम है। ठीक ही कहा गया है।

राष्ट्रीय एकता

ले०—महेन्द्र प्रसाद ध्यानी,
छात्र—विद्यालंकार, द्वि० वर्ष

देवों एवं ऋषि मुनियों की जन्म-स्थली भारत, जो स्वयं में एक विश्व है। काश्मीर से कन्याकूमारी एवं पूर्व में असम से, पश्चिम में शान्ति, अहिंसा व एकता के प्रतीक बापू की जन्मस्थली गुजरात तक फैला हुआ यह देश सदियों से एकता व अखण्डता की सीख संपूर्ण विश्व को देता आया है।

—o—

इस देश की संस्कृति, एकता व अखण्डता की ज्योति से विश्व को जगमगाती है। विदेशी इतिहासकार विद्वान भी एक सम्मत रूप से स्वीकार करते हैं, कि भारतीय संस्कृति में समन्वय, त्याग व सहिष्णता का जितना भण्डार हैं उतना विश्व को किसी अन्य देश की संस्कृति में नहीं। सातवीं शताब्दी से इस देश पर आक्रमणों की बौछार शुरु हुई और आक्रमणकारियों ने अपनी संस्कृति की छाप भारत पर डालने का आसीम प्रयत्न किया किंतु बाहरी पुण्य भूमि की संस्कृति, जिसने बाह्य संस्कृतियों को अपने अंक में लेकर मां का असीम प्यार दिया, अपना दूध पिलाकर आंचल में इस तरह ढक लिया जैसे मां अपने बच्चे को अन्य की नजरों से बचाने हेतु अंक में समा लेती है एवं तब केवल मां का ही अस्तित्व दिखाई देता है।

आज विश्व बन्धुत्व का प्रथम उपासक एवं उपदेशक स्वयं बीमार क्यों? अखण्डता के प्रतीक इस शरीर में पारस्परिक द्वेष का मलेरियां कहां से आया? जिससे इस शरीर के अंग-अंग में दर्द एवं टूटन महसूस हो रही है। ये ज्वलन्त प्रश्न हैं। अभी असम की दर्द भरी कराह भारतीय जनता के हृदयपटल पर धुंधली परछाई के रूप में विद्यमान है एवं इधर पंजाब में अलगाव की विषैली भावना उमड़ पड़ी।

उफन पड़ा क्यों भाव द्वेष का ?
हुई कान्ति कम क्यों लालिमा की ?
ढला सूर्य क्यों स्नेहमंच से ?
हुई रैन भर औ कालिमा की ॥

कहीं एकता रूपी सूर्य के ढलने पर काली अंधियारी दिशा इस राष्ट्र को न घेर लें अतः सभी जवानों, वयवृद्धों को एकता का दीप जलाना है। विश्वबन्धुत्व का उपदेशक बीमार क्यों ? क्योंकि इसके शरीर के अंग आपस में टकराने लगे।। एक बार शरीर के अंग, चेहरा, हाथ और पैर इस बात पर लड़ने लगे कि किसका कार्य सबसे महत्वपूर्ण है। हाथ ने कहा कि मैं मनुष्य को खाना देता हूँ एवं साधन जुटाता हूँ। पैरों ने कहा हम शरीर का बोझ ढोते हैं एवं उसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाते हैं। चेहरे ने कहा मूंह, आँख, नाक, कान सब मनुष्य को मैं देता हूँ अतः मैं महत्वपूर्ण हूँ। पेट की बात पर तीनों हंसते हुए अंग बोले- तुम सब आलसी, केवल हमारे द्वारा जुटाया हुआ भोजन करते हैं, अतः अब हम तुम्हें भोजन नहीं देगें। शरीर को भोजन न मिलने के कारण कमजोरी में धीरे-धीरे उस मनुष्य को मरणासन्न स्थिति में पहुंचा दिया, तब शरीर के अंगों को पेट की आवश्यकता पर विश्वास हुआ एवं उनको यह समझ में आ गया कि शरीर के किसी भी अंग की अनुपस्थिति में शरीर को कठिनाईयों क. सामना करना पड़ता है। आज भारत के अंग (विभिन्न धर्म, सम्प्रदाय) आपस में लड़ रहे हैं। इसी कारण यह नाजुक स्थिति पैदा हो रही है।

आज पंजाब में कुछ सिख भाई खालिस्तान की मांग कर रहे हैं वे खुद मनन करें, सत्तर करोड़ की जनता वाले इस देश में खाली-स्थान कहां बचा हैं ? यदि वे खाली–स्थान चाहते हैं तो उन्हें चाहिए कि वे निर्माणात्मक कार्यों में रुची लें, परिवार नियोजन अपनाएं। बीस-सूत्रीय कार्यक्रम को सही तरह क्रियान्वित करें। सरकार को सहयोग दें। यदि ये सिख भाई खालिस्तान का अर्थ सिखों का देश मानते हैं तो इसमें दी राय नहीं कि वे गलत हैं क्योंकि भारत ही सिखों का देश है। इस देश की रक्षा में सिख वीरों ने जितनी वीरता, शौर्य देशप्रेंम का प्रर्दशन किया है एवं करते हैं, उनसे उपर्युक्त तथ्य सत्य प्रतीत होता है।

अब भाषा का ही उदाहरण लीजिए, उत्तर प्रदेश में उर्दू को द्वितीय राजभाषा बनाये जाने के लिए राजनीतिज्ञों ने जो हथकण्डे अपनाये, क्या वे वैतिक हैं ? हम इस देश में हिन्दु-मुस्लिम सब मिलकर रहते हैं। हमें उर्दू इतनी ही प्यारी है जितनी अन्य भाषायें किन्तु राजनीतिज्ञों ने वोट पाने के लिए संस्कृत और उर्दू को लड़ा दिया जिससे एकता में दरार उत्पन्न हो गई। इन्हें सोचना चाहिए था कि यदि उर्दु को द्वितीय राजभाषा बनाने से एकता में दरार पड़ेगी तो इन्वे संस्कृत को द्वितीय राजभाषा बना कर उदुं को तृतीय राजभाषा घोषित करना चाहिए था। इससे उर्दु को सर्वसम्मत महप्व भी मिलता और अखण्डता भी बरकरार रहती, किंतु इन्हें तो अपनी कुर्सी और महत्ता बनानी है, चाहे उन्हें साम्प्रदायिक दंगे भड़काने पड़ें अथवा भाषावाद।

असम की हालत भी कम बुरी नहीं हुई। वहां पर जो गलतियां हुई हैं वे ऊपर दिये गये "शरीर के अंगों का टकराव" के लगभग समान ही हुई। असम आन्दोलनकारियों ने मसला विदेशी लोगों को निष्कासित करने का उठाया और कष्ट दिया स्वदेशी भाईयों को। हमारे लिए यह गर्व की बात है कि हमारा देश ऐसे महात्माओं, विद्वानों को जन्म देता है जिनमें एक महापुरुष विश्व की दो सौ भाषाओं का ज्ञान रखता है। जिनमें से कुछ भाषाओं का ज्ञान वे व्याकरण सम्मत एवं लिपीबद्ध कर प्रकाशित भी कर चुके हैं। विश्वबन्धुत्व की भावना प्रदर्शित करने वाले इक्ष्वाकुवंशी राम व सीता इसी देश में हुए तथा गीता के उपदेशक श्रीकृष्ण ने इसी पुण्य भूमि में जन्म लिया। यथा—

"इसी माटी में जन्म लिया था दशरथनन्दन राम ने।
गीता का उपदेश दिया था यदुकुल भूषण श्याम ने ।।
इस धरती में सामवेद मन्त्रों का भी मधु गान है।
मुझको अपनी भारत की माटी से अनुपम प्यार है।

महाराणा प्रताप, शिवाजी, सवालाख से एक लड़ाने वाले गुरु गोविन्दसिंह इसी देश के लाल हैं।

अब प्रश्न उठता है अलगाववादिता के लिए दोषी कौन हैं? मेरे विचार से इसके दोषी जनसाधारण से लेकर महान पद पर आसीन सभी व्यक्ति हैं। एक दूसरे को समझने में बार बार गल्तियां की जा रही हैं। महात्मा एवं उपदेशक अपनी धार्मिक गद्दी को गुदगुदी करने के चक्कर में हैं दूसरी और साम्प्रदायिक द्वेषभावना इसका कारण हैं।

भ्रष्ट राजनीति इस अलगाववाद की जड़ है। आज भारत का राजनीतिज्ञ 'राजनीति' शब्द से 'रा' शब्द को पैरों तले रौंद सड़क के किनारे कूड़ेदान में, तम्बाकू के पान की पीक में, भाई-भतीजावाद की टोकरी में और किसी भवन के शिलान्यास करते समय नींव की ईंट में डाल देता है। सरकार आगामी चुनावों की तैयारी में लगी है और विपक्ष सरकार को सत्ता से हटाने के चक्कर में उन्हें जनता से कोई सरोकार नहीं। उन्हें तो केवल अपने अलग एवं स्वस्थ अस्तित्व की चिन्ता है।

अलगाववादी है कौन? देश की अखण्डता में दरार डालने वाले कोई वीर साहसी अथवा विद्वान् नहीं अपितु राजनीति एवं समाज में इच्छित स्थान पाने में असफल व्यक्ति हैं। मैं मनोविज्ञान का विद्यार्थी हूं इसलिए मेरा विश्वास है कि नैराश्य

एवं बार-बार मिली असफलताओं के कारण अथवा तुच्छ स्वार्थ के लिए ही देशद्रोह किया जाता है। देशद्रोह अथवा एकता कमजोर करने का प्रयास बिना विदेशी सहायता के नहीं होता। अतः यह कहा जा सकता है कि हमारी अखण्डता में दरार डालने के लिए विदेशों से शह मिल रही है।

भाइयो, चिन्तन करो, इस भूमि की एकता के लिए वीरों ने अपनी बलि किस तरह हंसते-हंसते अपने परिवार को मझदार में छोड़कर दी। आज सरदार भगतसिंह, आजाद, नेताजी, गांधी जी का भारत मात्र कुछ गलतियों के कारण अलगाववादित से जूझ रहा है। यह ठीक ही है—

"अगर हममें से अब भी एक भगत, आजाद, बन जाये।
सुभाष, गांधी व बिस्मिल का ये भारत फिर से बन जाये॥"

यदि आपको खून की नदियां बहाने में आनन्द आ रहा है तो उचित जगह पर बहाइए। आप बुरा न माने मैं एक बात पूछता हूँ, यदि कोई आपके सामने आपकी मां का आंचल छीन ले या फाड़कर फैंक दे तो आपको कैसा लगेगा? अब भी भारत मां के आंचल का कुछ भाग शत्रुओं ने खींचा हुआ है। आप वहां खून की नदियां बहाएं, तो मैं आपको वीर समझूंगा। अपने घर में तो कुत्ता भी शेर हो जाता है।

राजनितिज्ञ, 'राज' नीति' शब्द को साथ लेकर चलें। अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए देश की एकता के लिए देश की एकता में अवरोध न बनें। अलगाववादी और सरकार एक दूसरे को सही समझने का प्रयत्न करें। आपस में सद्भाव और विश्वास बनाए रखें।

अनेकता में एकता इस भारतभूमि का गौरव है। कम्यूनिज्म वाले देशों की एकता तो स्वाभाविक है अतः उसमें आकर्षण नहीं होता है, किन्तु हमारे देश की एकता, विविधताओं, विभिन्न धर्म, भाषा एवं क्षेत्रीय बोलियों के होते हुए भी जो सद्भावना, प्रेम, माधुर्यपूर्ण एकता है, वह अस्वाभाविक होने के कारण अति आकर्षक है। आप दो मालायें लीजिये—एक समान आकार व मोतियों को एवं दूसरी असमान मोतियों को। उन्हें पहनकर देखिए। समान मोतियों की माला की सुन्दरता स्वाभाविक होने के कारण असमान मोतियों की माला सुन्दरता के सामने फीकी पड़ जायेगी। यदि इस माला से एक भी छोटा या बड़ा मोती निकाल दिया तो माला की सुन्दरला

में कमी आ जाती है। मेरा तात्पर्य यह है कि भारत ऐसी ही असमान मोतियों की माला है। इसकी एकता, अति अकर्षक है। यदि इसमें से एक भी मतावलम्बी अथवा वर्ग विशेष को अलग किया जाए तो आकर्षण में कमी आएगी।

अपनी प्राचीन मान्यताओं को न भूलें। शरणागत रक्षा, स्नेह, सौहार्द्र, देशप्रेम, विश्वबन्धुत्व की भावना, अहिंसा एवं अभयदान इत्यादि आत्मिक सिद्धान्त इस देश की परम्परा में है। हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख और ईसाई सब समान है।

— 0 —

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
ऋ० 10–90–12 ॥

अर्थ :—इस प्रजापति का ब्राह्मणत्व विशिष्ट पुरुष मुख से उत्पन्न हुआ। क्षत्रिय वर्ग वाला पुरुष क्षत्रिय बाहु से उत्पन्न हुआ इस प्रजापति का उरू (जंघा) के समान कार्यशील वैश्य जाति का पुरुष उत्पन्न हुआ। दोनों पैरों से शूद्र जाति वाला पुरुष उत्पन्न हुआ।

सारांश यह कि सभी वर्ण उस परमपिता परमात्मा की सन्तान हैं अतः सभी समान हैं। यह मन्त्र समाज चातुर्वण्य व्यवस्था का सुन्दर प्रतीक है।

राष्ट्रीय एकता

ले०—भोपाल सिंह त्यागी,
छात्र—विद्यालंकार । द्वितीय वर्ष ।

क्षेत्रफल, जनसंख्या भाषा तथा वेश-भूषा आदि की दृष्टि से भारत एक उपमहाद्वीप कहा जाता है । यहां के विभिन्न राज्यों के निवासी बाह्य दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न ज्ञात होते हैं । भाषाओं की दृष्टि से तो संसार के किसी अन्य देश में इतनी भाषायें नहीं बोली जाती । इतनी विभिन्नता के होने पर भी यहां एक ऐसी एकता पाई जाती है जो सारे देश को एकसूत्र में बांधे हुए है तथा जिसके कारण इतने बड़े भूभाग को एक भारत देश, इतनी बड़ी जनसंख्या को भारत-निवासी तथा इतनी भाषाओं को भारतीय भाषाओं के नाम से पुकारा जाता है । यह एकता हमारी राष्ट्रीय एकता है ।

इतनी विभिन्नताओं में भी एकता के कारणों पर जब हम विचार करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि इस एकता का कारण साथ-साथ मिलकर चलने की भावना, आदर्श, त्यौहार-प्रियता, दार्शनिकता, साहित्य, नाच-गान आदि अनेक ऐसे तत्त्व हैं, जिन्होंने देश को एक राष्ट्रायता के सूत्र में बांध रखा है ।

हमारे राष्ट्र में समन्वय की भावना सभी नागरिकों में ओतप्रोत है । समन्वय का अर्थ है कुछ स्वयं झुकना और दूसरे को झुकने के लिए विवश करना और इस प्रकार बीच के मार्ग का सृजन करना । भारत के साहित्य, धर्म, दर्शन, वस्तुकला आदि सभी क्षेत्रों में इसी भावना के दर्शन होते हैं । भारत के सभी साहित्यों की मूल-प्रवृत्ति जीवन के सुख-दुख: का समन्वय करके उन्हें इस प्रकार से प्रस्तुत करने की रही है कि वे मनुष्य के सामने एक शाश्वत सहचर बनकर आते हैं और उसे निरन्तर सुखद भविष्य की ओर ले जाने का प्रयत्न करते हैं । धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में दक्षिण के आत्मवाद ने उत्तर की प्रकृति-पूजा से मिलकर भारत के सभी धर्मों को प्रभावित किया है । वास्तुकला के क्षेत्र में भी द्रविड़, आर्य तथा ईरानी वास्तुकलाओं का समन्वय आज भारत के सभी राज्यों में प्राप्त होता है और इस प्रकार समन्वय की भावना ने पारस्परिक सहयोग और एकता की भावना को बल प्रदान करके राष्ट्र को एक सूत्र में पिरोया है ।

यद्यपि भारत में हिन्दू, मुसलमान, जैन, फारसी, बौद्ध आदि अनेक धर्म है जो आपस में पर्याप्त भिन्नता रखते हैं, किन्तु सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता तथा उदारता की भावना रखते हैं। यही कारण है कि हिन्दुओं के पुराणों में "बुद्ध" को भी एक अवतार के रूप में ग्रहण किया गया है। यदि एक धर्म वाला दूसरे धर्म वाले से कुछ आर्थिक सहायता धार्मिक कार्य के लिए चाहता है तो वह भी लगभग पूर्ण हो ही जाती है। इसी सहिष्णता तथा उदारता की भावना ने देश को एक सूत्र में बांधने में पर्याप्त योग दिया है।

धार्मिक प्रचार की भावना ने भी देश को एक सुत्र में बांधा है। बौद्ध धर्म के प्रचार ने देश के विभिन्न व्यक्तियों को एक दूसरे से मिलाया तथा समान विचार की भूमि पर बैठाकर एक सूत्र में बांधा। आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज के प्रचार से ऊंच-नीच का भेद मिटाकर संसार को एक सूत्र में पिरोने का अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया। शंकराचार्य ने भी सम्पूर्ण देश में भ्रमण करके अपने मत का प्रचार किया और देश के चारों कोनों में चारों मठों की स्थापना करके देश की एकता को बल दिया।

सम्पूर्ण देश में अनेक तीर्थ स्थान हैं। इन तीर्थस्थानों तथा प्रसिद्ध कुम्भ मेलों पर प्रत्येक प्रान्त के निवासी एक दूसरे से मिलकर देश की एकता को बल देते हैं।

इस देश के निवासी यथार्थ की अपेक्षा आदर्श से अधिक प्रेम करते हैं। प्रत्येक प्रांत, धर्म तथा सम्प्रदाय के व्यक्ति अपने साहित्य, रीति-रिवाज आदि में असत्य पर सत्य की, दुष्टता पर सज्जनता की तथा कुरुपता पर सुन्दरता की विजय दिखाकर उनको ही अपनाते हैं। सभी लोग संयम, परोपकार तथा सर्वसमत्व को अपना आदर्श मानकर उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। उनके इस आदर्श प्रेम ने देश को एक सूत्र में बांधने में सहयोग दिया है।

यहां के महान् पुरुषों ने अपनी दृढ़ तपस्या, वलिदान, अटूट लगन से कार्य तत्परता से देश को आज एक सूत्र में बांधने का बहुत ही सफल एवं सराहनीय कार्य किया है। महात्मा गांधी, सुभाषचन्द्र बोष, लाल बहादुर शास्त्री आदि राजनैतिक नेताओं ने भी इस कार्य में अपना पूर्ण सहयोग दिया है तथा यही प्रयत्न करते-करते अपने सीने को गोलियों की बौछार के सामने लाकर रख दिया। महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द आदि अनेक पुरुषों ने इस कार्य में अपना पूर्ण सहयोग दिया है। स्वामी श्रद्धानन्द ने देश की अखण्डता को निरन्तर कार्यान्वित करने के लिए वेदानुकूल शिक्षा

"गुरुकुल प्रणाली" का शुभारम्भ किया था जो आज भी देश के कोने-कोने में फैल रही हैं तथा देश की एकता को निरन्तर जारी रखने के लिए अनेक स्नातकों को प्रतिवर्ष गुरुकुलों से निकाल रहे हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण प्रकाशवीर शास्त्री, इन्द्र विद्यावाचस्पति, पं० सत्यकाम वेदालंकार आदि हैं। ये वीर आत्मायें अनेक जगह पर प्रचार एवं प्रसार का कार्यक्रम द्रुतगति से चलाकर देश को टुकड़े-टुकड़े होने से बचाने में महत्वपूर्ण योगदान दे रही हैं। वैसे तो हमारे आधुनिक नेता एवं गणमान्य राज-नैतिक दल भी इस ओर सक्रिय योगदान दे रहे हैं जैसे प्रधान मन्त्री श्रीमति इन्दिरा गांधी का बीस सूत्रीय कार्यक्रम का संचालन—परन्तु वह पूर्णरूप से सफल नहीं हो पा रहा है। चुंकि उसमें कुछ स्वार्थी प्रियता का भी सम्मिश्रण है। लोकनायक बिनोवा भावे ने ग्राम-ग्राम घुसकर गरीब वर्ग की करुण कहानी सुनकर उनके दारिद्रय को दूर कर भूदान यज्ञ का प्रारम्भ करके देश की अखण्डता पर पूर्ण बल दिया है।

इस देश के त्यौहारों ने भी देश को एक सूत्र में बांधने में पर्याप्त योग दिया है। यदि हम होली के दिन एक वायुयान में बैठकर भ्रमण करें तो हमें सर्वत्र रंग गुलाल का छिड़कना तथा ग्राम्य जीवन के गीतों का पंचम स्वर में गान ही प्राप्त होगा। इन त्यौहारों पर दूर-दूर के व्यक्ति एक दूसरे से मिलकर प्रेम की वृद्धि करते हैं। परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय एकता में महत्त्वपूर्ण योग है।

यद्यपि यहां एक दर्शन से भी अधिक प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त प्रचलित हैं पर सभी दर्शन विभिन्न उपायों से आनन्द को प्राप्त करना ही अपना उद्देश्य मानते हैं। विचार के क्षेत्र में इस एकरूपता ने देश की एकात्मकता को सिद्ध करके उसे सर्वाधिक बल दिया है।

साहित्य ने भी देश को एक सूत्र में बांधने में योग दिया है। हिन्दू, मुसलमान दोनों ने ही सम्प्रदायवाद को संकुचित भावनाओं को छोड़कर हिन्दी, उर्दू में उत्कृष्ट कोटि की राम. रहीम पर कविता लिखी है। ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जो "कौटिक हे कलधौत धाम करील के कुजंन ऊपर बारौ" कहकर "करील की कुजंन" के ऊपर सर्वस्व निछावर करने वाले रसखान के ऊपर अपने को बार दे। इसी प्रकार प्रान्त की संकुचित सीमाओं को लांघकर भी साहित्य की रचनाएं हुई हैं और उन्होंने देशवासियों को एक दूसरे के समीप लाने में महत्वपूर्ण योग दिया है।

संगीत तथा नृत्य ने भी देश को एक सूत्र में बांधा है। हिन्दु तथा मुसलमान गायनाचार्यो ने दोनों के ईश्वरों को मुक्त कंठ से गुणगान किया है। नृत्य के द्वारा भी विभिन्न प्रान्तों की भावनायें समान रूप से व्यक्त हुई हैं। भागंड़ा, कत्थक आदि नृत्य इसके उदाहरण हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सभी तत्वों ने देश को एक सूत्र में बांधा है और पर्याप्त विभिन्नताओं के होते हुये भी उसे एकराष्ट्र के रूप में जीवित रखा है।

इतना सब कुछ होने पर भी स्वार्थ की भावनाओं, बदले की भावनाओं, प्रान्ततीयता, भाषावाद आदि-आदि कारण देश में समय-समय पर विघटन की प्रवृत्ति के दर्शन कराते हैं। जयचन्द ने पृथ्वीराज से बदला लेने के लिए ही देश को विदेशियों के हाथ में सौंप दिया था। आधुनिक काल में भी भाषावाद के कारण पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात आदि राज्यों में अनेक पारस्परिक झगड़े होते रहते हैं। आज पंजाब के "अकाली खालिस्तान" की मांग केवल स्वार्थ के पीछे ही अंधे होकर कर रहें हैं। विदेशी कूटनीति भी देश को खंडित करने का समय-समय पर प्रयास करती रही है। आसाम तथा पंजाब आज स्वार्थ में या विदेशी कूटनीति में जल रहा है। उसकी आत्मा चीत्कार रही है, उन चीत्कारों को सुनने का हमारे पास समय तक नहीं है "द्रविड़ मुनेत्र कड़गम" नाम की संस्था का आंदोलन भी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है।

यद्यपि विघटन की प्रवृत्ति हमें झकझोर डालती है और सांस्कृतिक एकता को संकट–सा प्रतीत होने लगता है पर देश की आत्मा बलपूर्वक अपनी एकरूपता को प्रकट कर देती है। वर्तमान समय में चीनी आक्रमण से पहले देश में अनेक विघटनात्मक आन्दोलन चल रहे थे पर आक्रमण के होते ही वे सभी आन्दोलन समाप्त हो गये और देश ने एकमत होकर चीनी आक्रमण का विरोध किया। उसने देश की एकरूपता को सच्चे रूप में हमारे सामने रख दिया है। यह सम्भव है कि पुनः ऐसी विघटनकारी शक्तियां अब भी सिर उठाने लगें, अतः हम सबको साहित्य, संगीत, क्रीड़ा, नृत्य आदि के प्रचार के द्वारा तथा स्वार्थवाद, सम्प्रदायवाद, भाषावाद, प्रान्तवाद आदि के विनाश के द्वारा उनका विनाश करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। वास्तव में हमें सहिष्णु बनना चाहिए, दूसरों के विचारों का आदर करना चाहिए तथा पारस्परिक विभिन्नता की अपेक्षा समानता पर अधिक ध्यान देना चाहिए, तभी हम अपनी एकता को अक्षरण रखकर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकेगें। हमें अपने तन-मन-धन के साथ राष्ट्र की एकता बनाने एवं चिरस्थायी रखने का सदैव प्रयत्न करते रहना होगा। तभी हम राष्ट्र को पुनः "सोने की चिड़िया" नाम से अलंकृत कर सकेंगे।

परमात्मा वह दिन शीघ्र लाये जब हम विघटनात्मक तत्वों को समाप्त कर, एक स्वर में गा उठें- "जय भारत, जय भारती"।

— 0 —

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक का नाम	—	काशी की पाण्डित्य परम्परा"
लेखक	—	आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय
प्रकाशक	—	विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी
कुल पृष्ठ	—	909
मूल्य	—	125 रुपये

ले०—डा० विजयपाल शास्त्री एम०ए०,
साहित्याचार्य, दर्शनाचार्य प्रवक्ता, दर्शन-विभाग

संस्कृत वाङ्मय के विद्वान् पंडित बलदेव उपाध्याय के अमूल्य ग्रन्थरत्नों की परम्परा में एक अन्य नवीन ग्रन्थरत्न जुड़ गया है— "काशी पाण्डित्य की परम्परा"। आचार्य बलदेव उपाध्याय के नाम और उनकी अलौकिक शेमुषी और वैदुष्य से संस्कृत जगत् चिर-परिचित है। और उनके द्वारा रचित भारतीय दर्शन, संस्कृत साहित्य का इतिहास, बौद्ध दर्शन मीमासा आदि प्रकृष्ट ग्रन्थों का साहाय्य लेकर उच्च कक्षाओं के विद्यार्थी अनेक परीक्षावारिधियों का सन्तरण सुगमता से कर चुके हैं। प्रस्तुत विशाल ग्रन्थ "काशी को पाण्डित्य परम्परा" काशी से सम्बन्ध रखने वाले संस्कृत के प्रसिद्ध और अज्ञातनामा विद्वानों का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करता है। ऐसा करके जहां लेखक ने दिवंगत अज्ञात संस्कृत पण्डितों पर उपकार किया है वहीं जिज्ञासु पाठकों पर महान् अनुग्रह किया है। काशी की पाण्डित्य परम्परा के लगभग आठ सौ वर्षों का यह प्रामाणिक इतिहास संस्कृत भाषा के अनुरागियों, जिज्ञासुओं तथा शोधकर्ताओं के लिए एक अमूल्य निधि सिद्ध होगा।

इस ग्रन्थ में 1200 ई० से 1950 ई० तक हुए पण्डितों को लेखक ने तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। प्रथम श्रेणी में उन पण्डितों की गणना है जिन्होंने वाराणसी में ही अध्ययन किया है और वाराणसी में ही रहकर अध्यापन करते हुए अशेष जीवन यापित किया है। द्वितीय श्रेणी के विद्वान् वे हैं जिन्होंने ज्ञानार्जन तो काशी में किया किंतु उसका वितरण भारत के अन्य प्रान्तों में जाकर किया। तृतीय श्रेणी में उन पंडितों का समावेश किया है जिन्होंने शास्त्रों का अध्ययन तो काशी के बाहर किया किंतु काशी के छात्रों को पाण्डित्य का प्रसाद दिया।

इस महनीय ग्रन्थ की सर्वाधिक विशेषता यह है कि इसमें पण्डितों का केवल

जीवन परिचय ही नहीं दिया गया बल्कि उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का विश्लेषण और समालोचन प्रथम बार उपन्यस्त किया गया है। पण्डितों के रुचिकर और ज्ञानवर्धक संस्मरणों से इस ग्रन्थ की उपादेयता और अधिक बढ़ गयी है। संस्कृत के प्राचीन कवियों के ऐतहासिक अनुशीलन का श्लाघनीय प्रयास तो इससे पूर्व कई बार हो चुका किन्तु गत दो सौ वर्षो के अन्दर उत्पन्न हुए काशी के विख्यात संस्कृत के पण्डितों का सामूहिक रूप से एकत्र वर्णन अभी तक अनुपलब्ध था। प्रस्तुत रचना इसी अभाव की पूर्ति का श्लाघनीय प्रयास है। लेखक ने कवियों और विद्वानों के दुर्लभ चित्रों की यथाशक्ति खोजकर प्रस्तुत ग्रन्थ में यथास्थान उपन्यस्त किया है। इस ग्रन्थ के महत्व का प्रतिपादन इसी बात से हो जाता है कि लेखक ने स्वयं यह स्वीकार किया है "आन्नदातिरेक की अभिव्यक्ति होने के कारण मैं प्रस्तुत ग्रन्थ को अपने जीवन की सौभाग्यशाली रचनाओं में विशेष महनीय मानता हूँ।"

ग्रन्थ की भाषा सरल हिन्दी है जो लेखक की आत्माभिव्यंजना में पूर्ण सक्षम है। "काशी की पाण्डित्य परम्परा" का उद्देश्य है काशीस्थ विद्वन्मण्डली की विमल कीर्ति-गाथा का संरक्षण उनके आदर्श जीवन से संस्कृत विद्या की उपलब्धि तथा ऋषि ऋण से मोचन। यह ग्रंथ शोधार्थियों के लिए वरदान है। यदि मन में संस्कृत के दुर्लभ एवं प्रशस्त रचना प्रसूनों के संग्रह की अभिलाषा है, सुभाषित रत्नों के चमत्कार से चित्त को स्वर्णकान्त बनाने की इच्छा है तथा सत्साहित्य के रसास्वादन का अवार्य लोभ है तो प्रस्तुत ग्रन्थ सर्वात्मना सेवनीय है।

— 0 —

यदि जाग्रद्यदि स्वप्नऽएनांसि चकृमा वयम्।
सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वा मुञ्चत्वंहसः॥

यजु० 20–16॥

अर्थ :—जागृतावस्था, स्वप्नावस्था में भी यदि कोई पाप हम करें तो उस समग्र पाप और प्रमाद से सूर्य के समान वर्तमान होते हुए आप मुझको पृथक् करें।

सम्पादकीय वक्तव्य

यह पत्रिका सर्वप्रथम उन लेखकों के प्रति आभार प्रगट करती है जिन्होंने अपने लेख द्वारा इस पत्रिका की श्रीवृद्धि की है। इसके साथ ही पत्रिका सम्पादक-मण्डल के सभी सदस्यों को उनके हार्दिक सहयोग हेतु धन्यवाद देती है। डा० विजयपाल शास्त्री (प्रवक्ता दर्शन-विभाग), डा० त्रिलोकचन्द (प्रवक्ता, दर्शन-विभाग) तथा डा० भगवानदेव पाण्डेय प्रवक्ता हिन्दी-विभाग) ने सराहनीय सहयोग दिया है अतः पत्रिका उनके प्रति विशेष आभार प्रगट करती है। आशा है भविष्य में भी उनका सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

पत्रिका की परामर्शदात्री समिति के सभी सदस्य अपने-अपने विषयों के विद्वान हैं। उन सभी के सहयोग के लिए धन्यवाद देना उचित होगा। पत्रिका को सबसे अधिक लाभ श्रद्धेय पं० सत्यकाम विद्यालंकार के मार्गदर्शन से हुआ है। पत्रिका उनके प्रति अत्यन्त आभार प्रकट करती है।

पत्रिका के गतांक में "राष्ट्रीय एकता" विशेषांक हेतु लेख आमंत्रित किए गये थे। उसकी अंतिम तिथि 28 फरवरी 84 रखीं गई थी। अंतिम तिथि तक जो लेख प्राप्त हुए उनमें से दो लेख इस अंक में प्रकाशियत किए गए हैं। शेष लेखों का स्तर उचित न होने के कारण उन्हें प्रकाशनयोग्य नहीं समझा गया। उक्त दोनों लेखों को पुरस्कृत किया जायेगा।

इस विश्वविद्यालय के माननीय कुलपति जी ने सदैव उत्साह बढ़ाया है तथा मार्गदर्शन भी किया है। उनके प्रति जितना भी आभार प्रगट किया जाये कम है। श्रद्धेय आचार्य जी, कुलसचिव जी, उपकुलपति जी तथा वित्त-अधिकारी जी की कृपा के बिना इस पत्रिका का प्रकाशन समय पर न हो पाता। इसके लिए पत्रिका उनके प्रति आभार प्रगट करती है।

इस विश्वविद्यालय में विजिटिंग फेलो के रूप में हिन्दी के विद्वान डा० विश्वनाथ मिश्र डी०फिल०, डी०लिट० के कई व्याख्यान हुए। उनके व्याख्यानों ने मौलिक चिन्तन के लिए नई दिशा प्रदान की। पत्रिका उनके प्रति भी अपना आभार प्रगट करती है।

आशा है पत्रिका आगे भी अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करेगी।

—सम्पादक

प्रह्लाद

(प्राच्यविद्याओं की त्रैमासिक शोध-पत्रिका)

(हिन्दी-दिवस-विशेषाङ्क)

सम्पादक

डॉ० विष्णुदत्त 'राकेश'

संयुक्त-सम्पादक

डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा

वर्ष : १९८४] (मार्च से सितम्बर तक) [अङ्क : २

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रधान संरक्षक

श्री बलभद्र कुमार हूजा

कुलपति

संरक्षक

श्री रामप्रसाद वेदालंकार

आचार्य एवं उप-कुलपति

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ० राधेलाल वार्ष्णेय, जनसम्पर्क अधिकारी

व्यवस्थापक

जगदीश विद्यालंकार

प्रकाशक

वीरेन्द्र अरोड़ा, कुलसचिव

विषय-सूची

क्रम संख्या	विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
१—	वैदिक वन्दना	पं० सत्यकाम विद्यालंकार	१
२—	सम्पादक की कलम से		२
३—	देश की एकता की कड़ी : हिन्दी	पद्मश्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'	१०
४ —	हिन्दी अभियान की रचनात्मक दिशाएँ	डॉ० हरवंशलाल शर्मा	१५
५—	द्वितीय राजभाषा उर्दू कैसी होगी ?	डॉ० श्रीनारायण चतुर्वेदी	२४
६—	महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनका पत्र-साहित्य	डॉ० कमल पुंजाणी	३७
७—	सिन्धु-संस्कृति के निर्माता	डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा	४१
८ —	वैदिक युग में प्रजातंत्र	डॉ० जबरसिंह सेंगर	४४
९—	परिसर परिक्रमा		५१
	(अ) संस्कृत-दिवस पर कुलपति जी का भाषण		
	(आ) प्रौढ़ शिक्षा प्रशिक्षण शिविर का विवरण	डॉ० त्रिलोक चन्द	५६
	(इ) अनुदान आयोग की अध्यक्ष गुरुकुल में	श्री भोपाल सिंह	६०
१०—	पुस्तक-समीक्षा	समीक्षक	६१
	(अ) वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त	श्री बलभद्र कुमार हूजा	६३
	(आ) संस्कृत काव्यशास्त्र पर भारतीय दर्शन का प्रभाव	डॉ० मानसिंह	६५
	(इ) नागार्जुन	डॉ० विष्णुदत्त 'राकेश'	६७
	(ई) हरियाणा का हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास	श्रीमती प्रतिमा शर्मा	६९
	(उ) संस्कृत नाटकों का जीव-जगत्	डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार	७१
	(ऊ) सत्यदेव परिव्राजक : व्यक्तित्व एवं साहित्यिक कृतित्व	डॉ० राकेश शास्त्री	७३

———

संग्रहालय के झरोखे से—

'प्रह्लाद' के मुख-पृष्ठ पर अंकित चित्र का विवरण

—सुखबीर सिंह (सहायक क्यूरेटर)

पत्रिका के मुखपृष्ठ पर अंकित चित्र, संग्रहालय में सुरक्षित उस पाषाण-फलक का है जो लंदन में भारतोत्सव के अन्तर्गत प्रदर्शनी में रखा गया था। पुरातात्त्विक दृष्टि से इसका विवरण इस प्रकार है

समुद्र-मन्थन का पाषाण-फलक

नं० ३१८०, समय ९-१०वीं शती, और भार लगभग १३० किलोग्राम है। इस फलक का आकार, आगे की लं० ६३ सेमी० पीछे की लं०६३ सेमी०, चौ० ३१ सेमी०, ऊँचाई—आगे २८ सेमी०, पीछे २० सेमी० है। पुरातत्व संग्रहालय को यह फलक ग्राम झीवरहेड़ी (सहारनपुर) से प्राप्त हुआ। इस फलक में कच्छप पर मन्दराचल पर्वत की मथानी है जिसमें शेषनाग रज्जु के स्थान पर लपेटा गया है। फलक में दायीं ओर एक देवता और बायीं ओर आठ दैत्य खड़े हुए समुद्र का मन्थन कर रहे हैं। फलक में शेषनाग का मुंह देवता की ओर तथा पूंछ दैत्यों की ओर स्पष्ट है।

कला की दृष्टि से यह फलक इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, परन्तु भाव-प्रदर्शन की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें देवताओं और दैत्यों द्वारा समुद्र-मन्थन के दृश्य का बहुत ही मनोहारी अंकन किया गया है। संग्रहालय का यह समुद्र-मन्थन का पाषाण-फलक लन्दन में हुये 'भारत उत्सव' वर्ष १९८१-८२ में प्रदर्शित किया गया। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के लिये यह बड़े गौरव की बात है।

समुद्र-मन्थन एक पौराणिक मिथ है। पृथ्वी के उत्खनन का श्रेय यदि पौराणिक मिथ में पृथु के गोदोहन के प्रतीक में सुरक्षित है, तो समुद्र-मन्थन द्वारा मानवोपयोगी वस्तुओं की प्राप्ति का प्रयत्न इस घटना में सुरक्षित कहा ज सकता है। उत्खनन तथा मन्थन की पुरातात्विक धारणाओं का यह एक प्रागैतिहासिक रूप है।

———

वैदिक वन्दना

ॐ येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्
परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता
तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु
(कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।)

यजु० ३४,४

'येन, अमृतेन इदं भूतं भुवनं, भविष्यत् परिगृहीतम्' जिसके अमृत में वर्तमान, भूत और भविष्यत्—सब कालों का क्रियाशील जगत् परिव्याप्त है; 'येन यज्ञस्तायते सप्त होता' जिस अमृत की आहुति से सप्तेन्द्रियों का यज्ञ चलता है, उस सच्चिदानन्द को हम अपना जीवन अर्पित करते हैं।

जिसके अमृत घर में डूबे, भूत भविष्यत वर्तमान हैं ।
जिसकी यज्ञवेदि में सारे भुवन अकिंचन तृण समान हैं ।
जिसकी ज्वालाओं में तपकर, प्राणी जीवन पाते हैं ।
(उसी देवता के चरणों में हम सब हविष चढ़ाते हैं ।)

(वैदिक वन्दना गीत पृष्ठ ८७)

पण्डित सत्यकाम विद्यालंकार

सम्पादक की कलम से

५ अप्रैल १९८४ का दिन भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण है। इस दिन भारत के अन्तरिक्ष यात्री स्क्वाड्रन लीडर श्री राकेश शर्मा से हिन्दी में बातचीत करते हुए माननीया प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने कहा था— 'हमारे देश के लोगों की निगाहें, आपकी ओर लगी हैं और वे हमारी बातचीत भी सुन और देख रहे हैं। हमारे देशवासी, हमारी पार्लियामेंट और व्यक्तिगत रूप से मैं, आप और आपके सह-अंतरिक्ष यात्रियों कर्नल यूरी मात्यैशव और श्री गेन्नादी स्त्रेकालोव की सफलता और सुरक्षित वापसी की प्रार्थना करते हैं। आप सब को मेरी शुभकामनाएँ। जयहिन्द।' इस ऐतिहासिक बातचीत का समापन भी प्रधानमन्त्री ने हिन्दी में ही किया। यह घटना एक शुभ लक्षण है और अंतरिक्ष यात्रियों के साथ हिन्दी—संवाद राष्ट्रीय अस्मिता को उजागर करने वाला है, काश हिन्दी की यह दिगन्तव्यापी कीर्ति विश्व के जनमानस में कभी स्थान ग्रहण कर सके। विदेशी भाषा के दीर्घकालीन प्रयोग से हम नितान्त आत्म हीन हुए हैं। जब तक समूचे समाज के परस्पर सामूहिक व्यवहार में विदेशी भाषा रहेगी तब तक हम समृद्ध राष्ट्र के उन्मुक्त वातावरण की कल्पना नहीं कर सकते। आज हिन्दी को महर्षि दयानन्द, महात्मा गाँधी, महामना मालवीय, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन तथा सेठ गोविन्द दास जैसे समर्पित मनीषी व्यक्तियों की आवश्यकता है जिन्होंने हिन्दी को राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के साथ जोड़कर उत्तर-दक्षिण को संयुक्त राष्ट्रीय अभियान चलाने के लिए एक सशक्त वाणी दी। भारत के संविधान में संघ की राजभाषा के रूप में जब हिन्दी को घोषित किया गया था, उस समय संविधान के निर्माताओं के सामने हिन्दी की व्यापक रूप-रेखा विद्यमान थी, किसी प्रान्त विशेष तक सीमित संकीर्ण रूप की कल्पना तो आज के राजनीतिज्ञ की उपज है। बंगला, पंजाबी, मराठी, तमिल, तेलगू, कन्नड़ आदि क्षेत्रीय भाषा हैं तथापि प्रयोग बाहुल्य की दृष्टि से हिन्दी को समग्र भारत के जनमानस को प्रतिबिम्बित करने में उपयुक्त और सक्षम मानकर संघ की राजभाषा के रूप में स्वीकार किया गया। विदेशी भाषा के माध्यम से शासन का काम काज चलाना स्वदेशी भावना के सर्वथा विपरीत भी है और सांस्कृतिक दृष्टि से अवांछनीय भी। सम्पर्क सूत्र के रूप में हिन्दी का प्रयोग लम्बे समय से साधु संत भी करते रहे थे। अतः सामान्य जन को एक समन्वित चेतना सूत्र में बाँधने का काम हिन्दी ने किया था। हिन्दी राजभाषा और जनभाषा दोनों रही

है, इसलिए सद्भावना, सौहार्द्र, समरसता और राष्ट्रीयता के प्रबल संकल्प के साथ भाषाओं के वैविध्य में भी समग्र जनमानस को समेकित करने के लिए हिन्दी को राजभाषा के रूप में हमें स्वीकार करना चाहिए तथा उसके अधिकाधिक प्रयोग द्वारा उसके अखिल भारतीय रूप निष्पादन में सहयोग देना चाहिए। 'वन्देमातरम्' के रचयिता श्री बंकिम चन्द ने कहा था—हिन्दी भाषा की सहायता से भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों के बीच जो लोग एवं बन्धन स्थापित कर सकेंगे, वे ही सच्चे भारत बंधु नाम से अभिहित किए जाने योग्य हैं। सभी चेष्टा करें, चाहे कितने ही दिन बाद क्यों न हो, मनोरथ पूर्ण होगा। हिन्दी भाषा में पुस्तक और वक्तृता द्वारा भारत के अधिकांश स्थानों की मंगल साधना कीजिए।'

हिन्दी के राजभाषा विषयक स्वरूप को लेकर केन्द्र में हमेशा बहस छिड़ती रही है। १९४९ की संविधान सभा से लेकर आज तक हिन्दी की स्थिति को विवादास्पद बनाया जाता रहा है। सरदार पटेल की धारणा इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण हैं और उसी के परिप्रेक्ष्य में हमें आगे बढ़ना चाहिए। २८-११-१९४९ को उन्होंने मगन भाई देसाई के नाम लिखे एक पत्र में कहा था कि राष्ट्र भाषा राजभाषा का अन्तिम निर्णय तो संविधान सभा ने कर लिया है, इसलिए अब तो उस निर्णय पर अमल करना सबका कर्त्तव्य हो जाता है। राष्ट्रभाषा न तो किसी एक प्रान्त की है। वह तो सारे भारत की भाषा है और इसके लिए यह आवश्यक है कि सारे भारत के लोग उसे समझ सकें और अपनाने का गौरव हासिल कर सकें। उक्त परिप्रेक्ष्य में ही संविधान के ३५१ अनुच्छेद को लेना चाहिए।

राजभाषा विभाग भारत सरकार के संयुक्त सचिव श्री देवेन्द्र चरण मिश्र ने सांविधानिक परिप्रेक्ष्य में राजभाषा की प्रगति का विवेचन देते हुए जो आँकड़े प्रस्तुत किए हैं, उनसे उत्साह बढ़ता है। संघ के सरकारी प्रयोजनों के लिए हिन्दी के प्रगामी प्रयोग, हिन्दी शिक्षण योजना, केन्द्रीय अनुवाद ब्यूरो, केन्द्रीय राजभाषा सेवा गठन तथा १९६३, १९६७ के संशोधित अधिनियमों के तहत भारत सरकार ने राजभाषा नीति के कार्यान्वयन में जो कार्य किया है, उसके लिए वह बधाई की पात्र है। राजभाषा अधिनियम में हिन्दी के प्रयोग के बारे में ३ प्रमुख प्रावधान हैं।

(१) राजभाषा अधिनियम की धारा ३ (३) में उल्लिखित कागजात जैसे—सामान्य आदेश, अधिसूचनाएँ, संकल्प, प्रेस विज्ञप्तियों, संसद के समक्ष

प्रस्तुत किए जाने वाले कागजात आदि द्विभाषी रूप से हिन्दी और अंग्रेजी में जारी किए जाएँ। ८२-८३ में ऐसे कागजातों की संख्या ८०, ७३० थी।

(२) हिन्दी भाषा राज्यों तथा उन राज्यों के साथ जिन्होंने केन्द्र सरकार के साथ हिन्दी में पत्राचार करना स्वीकार किया है, सभी मूल-पत्र हिन्दी में भेजे जाएँ। इन राज्यों में स्थित केन्द्र सरकार के कार्यालयों के साथ पत्राचार में हिन्दी का अधिकाधिक प्रयोग किया जाए। ८३-८३ में ३,९८,९९४ पत्र मूलरूप में हिन्दी में लिखे गए।

(३) हिन्दी में कहीं से भी प्राप्त पत्रादि के उत्तर हिन्दी में ही दिए जाएँ। ८३-८३ में ऐसे २,३२,५०१ पत्रों के जवाब हिन्दी में दिए गए।

इतना होने पर भी राजनीतिक दबावों के कारण हिन्दी तथा नागरीलिपि के दैनन्दिन प्रयोग में बाधा डालने का षड़यन्त्र किया जा रहा है, हिन्दी के गढ़ उत्तर-प्रदेश में ही सरकार ने जिद पकड़ ली है कि वह उर्दू को द्वितीय राजभाषा बनाकर रहेगी। १९८० से लेकर १९८४ तक सरकार ने तीन-तीन अध्यादेश जारी कर हिन्दी की संवैधानिक स्थिति की मजाक उड़ायी है। विधान सभा को सीधे विश्वास में न लेकर राज्यपाल के विशेषाधिकार से उर्दू की प्रतिष्ठा का षड़यंत्र हिन्दी की पीठ में छुरा घोंपने जैसा है। माननीय श्री वासुदेवसिंह जी मंत्री आवकारी–विभाग के विधान सभा में प्रत्यक्ष विरोध के बावजूद यह विधेयक विधान सभा की कार्यसूची में अब भी विद्यमान है। ६ अप्रैल को उच्च न्यायालय की खण्ड पीठ द्वारा द्वितीय राजभाषा संशोधन अध्यादेश को अवैध घोषित किए जाने के बाद भी सरकार उर्दू को द्वितीय राजभाषा बनाने के प्रति दृढ़ संकल्प है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान मंत्री श्री प्रभात शास्त्री ने इस अवसर पर ठीक ही कहा है कि जिस अल्प संख्यक को प्रसन्न करने के लिए सरकार उर्दू को राजभाषा बनाने के लिए हर जायज नाजायज काम करने पर उतारु है, उसके घरों में भी हिन्दी पहुँच गई है। पिछले सैंतीस वर्षों में हिन्दी में सभी लिख पढ़ रहे हैं क्योंकि यह अल्पसंख्यक भी मूलतः भारतीय है। भारत की मिट्टी और गंध में वह जिये हैं। वह इस वातावरण में ही रसते-बसते हैं। लगभग ३०० वर्षों से इन घरों में जमी उर्दू-फारसी का नाम ३७ वर्षों में गायब हो गया है। इसका कारण यह नहीं है कि किसी ने जोर जबरदस्ती की है। वास्तविकता यह है कि यह भाषा, इसके मुहावरे, प्रतीक, बिम्ब सब हिन्दू–मुसलमान दोनों को आनन्द देते हैं। वस्तुतः सरकार चाहे भी तो इस एक सत्य को काट नहीं सकती और फारसी-अरबी के प्रतीक बिम्ब कभी भी भारतीय आत्मा में घुल-मिल नहीं सकते। उर्दू के नाम पर अकादमियों और विद्यालयों में लूट मची है, उससे कुछ व्यक्तियों

को लाभ होता रहेगा। उर्दू का हित नहीं होगा। बिहार और उत्तर-प्रदेश की सरकारों का कहना है कि चुनाव के समय कांग्रेस ने उर्दू को दूसरी भाषा के रूप में स्थान देने का वायदा किया था। पहली बात तो यह है कि ऐसा वायदा क्यों किया गया था जो राष्ट्रीय एकता के हित में नहीं है जिससे नये भूत खड़े होते हैं, जिससे देश प्रदेश में झगड़े पैदा हो सकते हैं, एक खतरनाक मिसाल खड़ी हो जाती है और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि जो देश के संविधान और उसके अनुसार बने विधि-विधानों के प्रतिकूल है।'

राजर्षि टंडन के अनन्य सहयोगी तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संस्थापकों में से एक हिन्दी के वयोवृद्ध विद्वान् पद्मभूषण पण्डित श्री नारायण चतुर्वेदी जी ने सरकार से इस विघटनकारी कार्य का जमकर विरोध किया। उन्होंने कहा कि आज जो उर्दू को दूसरी राजभाषा बनाने की माँग है वह न तो बहुसंख्यक समाज और इस देश के मूल निवासी मुसलमानों की है और न उनके हित में है। मुस्लिम जनता के लिए यह फ़ारसी बहुल उर्दू उतनी ही जटिल और कठिन है जितनी उनके हिन्दू पड़ौसियों के लिए। यह माँग भारत में बसे उन मुट्ठी भर विदेशी मूल के उच्च वर्ग के मुसलमान आभिजात्य वर्ग की है जिनके बारे में ऊपर लिखा जा चुका है। वे सामान्यतः नगरों में रहते हैं और उच्च पदों पर हैं। वे प्रभावशाली हैं। उन्हें अरबी, फ़ारसी के विद्वान् उलमाओं का समर्थन प्राप्त है और उलमाओं का प्रभाव अशिक्षित मुसलमान जनता पर हैं किन्तु वास्तव में यह माँग केवल नगरों के उच्च वर्ग की है जिनका अनुपात मुसलमानों में अधिक से अधिक दस प्रतिशत होगा। १९७५ की जनगणना के अनुसार उत्तर प्रदेश में मुसलमानों की जनसंख्या का अनुपात १५ प्रतिशत था। १९८१ की जनगणना के आँकड़े अभी उपलब्ध नहीं हैं किन्तु उनसे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। अतएव उर्दू को दूसरी राज भाषा बनाने की माँग राज्य के केवल डेढ़ प्रतिशत लोगों की माँग मानी जा सकती है।' आगे श्री चतुर्वेदी जी ने सुझाव दिया है कि यदि उर्दू वाले फ़ारसी शब्दों को लेना बन्द कर दें, देशी शब्दों का अधिक इस्तेमाल करें और उर्दू को देवनागरी भाषा में भी लिखने लगें या कम से कम उसमें लिखने का विकल्प या आप्शन दे दें तो आज हिन्दी और उर्दू में जो फर्क है वह धीरे-धीरे दूर हो जायेगा। हिन्दी पर उर्दू का और उर्दू पर हिन्दी का प्रभाव पड़ेगा और धीरे-धीरे एक ऐसी भाषा विकसित हो जायेगी जो वास्तव में मुश्तर्का होगी और हमारे राज्य में हिन्दी-उर्दू का झगड़ा इतिहास की एक कड़वी याद भर रह जायेगा।

उर्दू का देशकाल

२९ दिसम्बर १९४७ को हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का ३५वाँ अधिवेशन बम्बई में हुआ था। उस अवसर पर हिन्दी साहित्य परिषद् के सभापति पद से

भाषण करते हुए श्री चन्द्रबली पाण्डे ने कहा था—फारसी कविता में लैला मजनू ही नहीं अयाज़-महमूद की भी जोड़ी है। उर्दू को अपनी संस्कृति के कारण इसमें कोई दोष नहीं दिखाई देता, यहाँ तक कि उर्दू के एक अल्लामा पंडित उर्दू को हिन्दू सिद्ध करने के लिए इसका एक अजीब उदाहरण धर देते हैं—

ख़त निकले प बोसये रुख़े पुरनूर का पाया,
ख़ैरात बरहमन को मिली चाँद गहन से।

शेर शेख हातिम का है। आप उर्दू की ज़बान के आदि उस्ताद और हिन्दी भाषा को त्यागने वाले प्रथम वीर हैं। आप किसी दाढ़ी निकालते हुए माशूक का चुम्बन क्या करते हैं, चन्द्रग्रहण में ब्राह्मण का दान पा जाते हैं। परन्तु ब्राह्मण की स्थिति यह है कि न तो उसका यार कोई दढ़ियल अमरद होता है और न वह चन्द्रग्रहण का दान ही लेता है। उर्दू के लोग इसे एशियाई शादूरी का गुण बताते हैं पर है यह वास्तव में फारसी और उर्दू की भाती। रही उर्दू की बात। सो उसकी दशा निराली है, मुँह से वह सबकी है पर दिल से इसलाम की और धंधे से ईरान की। तभी तो उसके दूसरे उस्ताद 'सौदा' कहते हैं—

गर हो कशिशे शाहे ख़ुरासान तो 'सौदा',
सिजदा न करूँ हिन्द की नापाक ज़मीं पर।

अर्थात्—यदि खुरासान का बादशाह चाहे तो मैं हिन्द की अपवित्र भूमि पर नमाज भी न पढ़ूँ। 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ' लिखने वाले इक़बाल तक कहते हैं—

है तर्के बतन सुन्नते महबूब इलाही।
दे तू भी नबूव्वत की सदाक़त प गवाही॥
गुफ्तार सियासत में वतन और ही कुछ है।
इरशादे नबूव्वत में वतन और ही कुछ है॥

भाव यह कि हिन्दी का देश प्रेम इसलाम के लिए घातक है। अतएव प्रत्येक मुसलमान को उसका परित्याग कर देना चाहिए और नवी के सच्चे पार्ग पर आ जाना चाहिए। राजनीति में देश का अर्थ और होता है और नवी के प्यारों की बोली में और, फिर दोनों को एक क्यों किया जाय?

तात्पर्य यह कि उर्दू की मर्यादा और उसके संस्कार अभारतीय हैं। अलाउद्दीन जैसे कट्टर मुस्लिम शासक के दरबारी कवि अमीर ख़ुसरों ने तो यहाँ

तक कह दिया था कि मैं हिन्दुस्तानी तुर्क हूँ हिन्दवी में बातचीत करूँगा। मिस्र की शक्कर का मुझे क्या पता कि अरबी झाँडू—

तुर्क हिन्दोस्तानियम मन हिन्दुई गोयम जवाव,
शक्करे मिस्री न दारम कज़ अरव गोयम सखुन।

काश, आज का भारतीय अल्प संख्यक खुसरो को अपना आदर्श बनाकर चला होता।

दयानन्द और हिन्दी

महर्षि दयानन्द ने हिन्दी को आर्यभाषा घोषित कर हिन्दी के लिए जहाँ नया वैचारिक क्षितिज तैयार किया, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बनाने की प्रेरणा दी वहीं व्याकरणानुसार भाषा के संस्कार का कार्यकर पुरानी सधुक्कड़ी हिन्दी को आधुनिक रूप दिया। उन्होंने कहा था—'भाई' मेरी आँखें तो उस दिन को देखने के लिए तरस रही हैं जब कश्मीर से कन्या-कुमारी तक सब भारतीय एक भाषा को समझने और बोलनें लगेंगे। जिन्हें सचमुच मेरे भावों को जानने की इच्छा होगी वे इस आर्यभाव का सीखना अपना कर्त्तव्य समझेंगे। अनुवाद तो विदेशियों के लिए हुआ करते हैं।' हिन्दु पुनर्जागरण काल में संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए भी उन्होंने हिन्दी में लिखा तथा हिन्दी में व्याख्यान दिए। पंजाब में स्वामी जी तथा पण्डित श्रद्धाराम फुल्लौरी के हिन्दी-प्रचार ने ऐतिहासिक कार्य किया। उर्दू के गढ़ में रोपा गया हिन्दी का बिरवा आर्य समाज के प्रयत्नों से आज वट वृक्ष के रूप में लहरा रहा है। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने हिन्दी-प्रचार के लिए एक ओर 'सद्धर्मप्रचारक' उर्दू से हटाकर हिन्दी में निकाला तो दूसरी ओर गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना कर भारतीय प्राच्य ज्ञान परम्परा तथा पाश्चात्य विज्ञान और मानविकी के विषयों के अध्ययन-अध्यापन के लिए हिन्दी को माध्यम बनाया। श्री गोवर्धन शास्त्री जैसे विद्वानों ने विज्ञान पर उस समय हिन्दी में ग्रन्थ उनकी ही प्रेरणा से लिखे थे। स्वामी जी के संरक्षण में इन्द्र जी ने विजया नामक हिन्दी दैनिक भी निकाला था। महर्षि दयानन्द के जीवनकाल में ही मेरठ से 'आर्य-समाचार' नामक पत्र निकलने लगा था। बाद में फर्रुखाबाद से 'भारत सुदशा प्रवर्त्तक' तथा शाहजहाँपुर से 'आर्य दर्पण' नामक पत्र भी स्वामी जी की प्रेरणा से निकले। श्री क्षेमचन्द्र जी सुमन ने बड़े विस्तार से पटना कवि सम्मेलन के अध्यक्ष पद से ४ नवम्बर १९६३ को दिए गए भाषण में इस सामग्री पर प्रकाश डाला था।

महात्मा गाँधी ने १९१८ में साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन में दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार के लिए किए गए संकल्प को चरितार्थ करने के लिए देवदास गाँधी को मद्रास भेजा। इस कार्य में इन्दौर नरेश और सर सेठ हुकमचन्द ने आर्थिक सहायता प्रदान की। महात्मा जी की प्रेरणा से आर्य संयासी सहदेव परिव्राजक मद्रास गये तथा १९१८ के अगस्त में गोखले हाल मद्रास में हिन्दी कक्षाएँ प्रारम्भ की। हिन्दी न जानने वालों के लिए उन्होंने 'हिन्दी की पहली पुस्तक' नाम से एक पाठ्य पुस्तक भी तैयार की : १९२१ में गुरुकुल विश्व-विद्यालय के कुलपति तथा सम्प्रति परिद्रष्टा डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने बंगलौर जाकर हिन्दी की कक्षाएँ प्रारम्भ कीं। उन्हीं दिनों उन्होंने 'हाड टू लर्न हिन्दी' नामक पुस्तक भी लिखी थी। महाविद्यालय गुरुकुल के स्नातक के०एम० उन्निदामोदरन ने केरल में हिन्दी प्रचार का कार्य किया। उन्होंने रियासत के राजकुमारों को भी हिन्दी–संस्कृत पढ़ाई। कांगड़ी के स्नातक श्री केशव देव विद्यालंकार ने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की ओर से 'हिन्दी प्रचारक' का प्रकाशन भी कराया। दयानन्द उपदेशक विद्यालय लाहौर के विद्यार्थी डॉ० एन० चन्दकांत मुदलियार ने हिन्दी के लिए बड़ा कार्य किया। कर्नाटक के श्री रामचन्द्र अय्यर ने १९२६-२७ में स्वामी श्रद्धानन्द जी से प्रेरणा लेकर 'कैंगेरी' में गुरुकुल की स्थापना की। आन्ध्र के विख्यात साहित्यकार रमेश चौधरी आरिगपूडि की प्रारम्भिक शिक्षा तो कांगड़ी में ही हुई थी। हैदराबाद और पंजाब के हिन्दी आन्दोलन में भी गुरुकुल ने हिस्सा लिया है।

तात्पर्य यह कि हिन्दी - प्रचार का अनवरत कार्य महर्षि दयानन्द के अनुयायीयों ने मिशनरी भाव से किया। आर्य समाज से शिक्षित, दीक्षित कार्यकर्त्ता आदि दक्षिण में जाकर हिन्दी-प्रचार न करते तो आज जो रूप दिखाई पड़ रहा है, उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

विदेशों में हिन्दी

आज़ादी के बाद भारतेतरदेशों में भी हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति अभिरुचि बढ़ी है फिजी, मारिशस, गुयाना, सूरीनाम, ट्रिनीदाद, नेपाल, लंका, थाईलैण्ड, केनिया, मलेशिया, युगाण्डा, तंजानिया, बंगला देश, पाकिस्तान, अमेरिका, जापान, इंग्लैण्ड, सोवियतसंघ, पश्चिमी जर्मनी, नीदरलैण्ड, चीन, पोलैण्ड, इटली तथा अफगानिस्तान में हिन्दी का प्रवेश पाया जाता है। इनमें से कुछ देशों में हिन्दी का उच्चत्तर अध्ययन तथा शोध-कार्य भी सम्पन्न हो रहा है। अतः हिन्दी का जो विश्वजनीन रूप निर्मित हो रहा है, उसे ध्यान में रख-कर ही हमें अपना मार्गप्रशस्त करना है।

राष्ट्रपति जी को बधाई !

महामहिम राष्ट्रपति श्री जैलसिंह जी ने मैक्सिको तथा अर्जेन्टीना की महत्त्वपूर्ण विदेश यात्रा के दौरान अपने सभी भाषण भारत की राजभाषा हिन्दी में दिए। इससे पहली बार हिन्दी को राजकीय दृष्टि से गौरव न मिला। महामहिम राष्ट्रपति जी इसके लिए बधाई के पात्र हैं।

प्रह्लाद का यह अंक

गुरुकुल विश्वविद्यालय के कुलाधिपति श्री वीरेन्द्र तथा कुलपति श्री बलभद्र कुमार हूजा ने अथक परिश्रम कर विश्वविद्यालय को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाने के बाद इसके शैक्षिक परिवेश को भव्य तथा स्तरीय रूप देने का अभियान चलाया। इसके प्रतिष्ठापक के मूल उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए तथा इसकी निजता की रक्षा करते हुए योग केन्द्र, प्रौढ़ शिक्षा, सेवा प्राप्ति योजना आदर्श ग्राम निर्माण योजना तथा आर्य स्वाध्याय केन्द्र की स्थापना के साथ शिक्षा-विभागों में आचार्य तथा प्रवाचकों के नये पदों को सरकारी स्वीकृति प्रदान कराने में भी श्री हूजा के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। उन्हीं की प्रेरणा से वैदिक-पथ का अंग्रेजी, गुरुकुल-पत्रिका (संस्कृत) तथा प्रह्लाद का हिन्दी में प्रकाशन हो रहा है।

प्रह्लाद विश्वविद्यालय के प्राच्यविद्या-विषयों का प्रमुख त्रैमासिक शोधपत्र है। विभिन्न क्षेत्रों के समकालीन साहित्य तथा मानविकी के विषयों के अध्ययन तथा शोधकार्य का आकलन करना इसका प्रमुख उद्देश्य है। आशा है, इस कार्य में हमें विद्वानों का भरपूर सहयोग मिलेगा।

यह अंक हिन्दी दिवस पर विशेष रूप से प्रकाशित हो रहा है। इस अवसर पर अधिक से अधिक हिन्दी में काम काज करने की शपथ लेकर यदि हम हिन्दी की सार्वदेशिकता स्थापित तथा व्यावहारिक स्तर पर प्रमाणित कर सके तो निश्चय ही भाषिक समस्या का अंतिम निदान ढूँढ़ सकते हैं। हिन्दी मात्र भाषा नहीं, राष्ट्र की सामाजिक चेतना भी है।

देश की एकता की कड़ी—हिन्दी

पद्मश्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'

भारत मूलतः संस्कृति प्रधान देश है। इस देश में अनेक धर्म और भाषाएँ होते हुए भी संस्कृति का ऐसा सूत्र है जो उसे एकता के सूत्र में पिरोए हुए है। इस एकता के सूत्र की परिपुष्टि करने की दृष्टि से हमारे संतों और सुधारकों ने अपने विचारों के प्रचार के लिए जिस भाषा को अपनाया वह काश्मीर से कन्या-कुमारी तक और राजस्थान से सुदूर पूर्वी अंचल तक के भूभाग में समान रूप से बोली और समझी जाने वाली भाषा थी। इस भाषा को हम हिन्दी के नाम से जानते और समझते हैं। यदि ऐसा न होता तो अतीत काल में जहां कबीर, गुरुनानक आदि अनेकों संतों और सुधारकों ने इसे अपने विचारों के प्रचार का साधन बनाया वहां आधुनिक भारत के अनेक सुधारकों ने भी इसे पूर्णतः अपनाया। ऐसे सुधारकों में राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सैन, जस्टिस शारदाचरण मित्र, स्वामी दयानन्द सरस्वती, बाल गंगाधर तिलक और महात्मा गांधी प्रभृति महानुभावों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी एकमात्र ऐसी भाषा है जो समस्त भारतीय जनता को एकता के सूत्र में जोड़ने वाली कड़ी का कार्य करती है। चाहे किसी भी प्रदेश का कोई भी व्यक्ति देश के किसी भी भूभाग में चला जाये तो वह टूटी-फूटी हिन्दी के माध्यम से अपने विचारों को दूसरे व्यक्ति तक पहुंचाने में सफल हो सकता है। दूर क्यों जायें, हम महाराष्ट्र की ही बात आपके सामने रखना चाहते हैं। छत्रपति शिवाजी की मातृभाषा मराठी थी। उनके सभी दरबारी महाराष्ट्र के थे और प्रजा भी मराठी बोलने वाली ही थी, किन्तु उन्होंने हिन्दी के समर्थ कवि भूषण को अपने दरबार में अत्यन्त सम्मान का स्थान दिया। यदि उनके दरबार में हिन्दी को समझने और उससे प्रेरणा लेने वाले न होते तो वे ऐसा कदापि न करते। जब वे वेष बदलकर शम्माजी के साथ दिल्ली से दक्षिण लौटे तब उनके विचारों के प्रचार और प्रसार का माध्यम हिन्दी ही थी।

किसी भी भाषा का अधिकाधिक प्रचार तभी हो सकता है जबकि उसके अधिकांश जनसमुदाय की सांस्कृतिक गरिमा को उनकी अपनी भाषा में प्रस्तुत

किया जाये। इसी बात को दृष्टि में रखकर अंग्रेजों ने हिन्दी को ही अपनाया और ईसाई मिशनरियों ने कलकत्ता के पास सीरामपुर नामक स्थान में एक हिन्दी प्रेस की स्थापना करके उसके द्वारा प्रचुर परिमाण में साहित्य प्रकाशित किया। इधर ईसाई मिशनरी जब अपने विचारों का प्रचार हिन्दी में कर रहे थे तब केशवचन्द्र सैन, स्वामी दयानन्द और नवीनचन्द्र राय जैसे सुधारकों ने भी अपने विचारों के प्रचार के लिए हिन्दी को ही अपनाया। यहां यह भी स्मरणीय है कि उक्त तीनों महानुभावों में से पहले दो बंगाली और तीसरे गुजराती थे।

महात्मा गांधी के देश के राष्ट्रीय जागरण में योगदान देने के साथ-साथ सांस्कृतिक एकता की कड़ी के रूप में हिन्दी का जो महत्त्व स्थापित हुआ वह भी कम उल्लेखनीय नहीं। गांधीजी ने अपने विचारों के प्रचार के लिये न केवल हिन्दी को अपनाया बल्कि वे दो बार अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशनों के अध्यक्ष भी रहे। यहाँ तक कि उन्होंने राष्ट्रीय जागरण के साथ-साथ देश की एकता के लिए हिन्दी के महत्व को इस सीमा तक अनुभव किया कि उन्होंने सुदूर दक्षिण में मद्रास में 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की स्थापना भी की। इस सभा के माध्यम से दक्षिण में जहाँ स्वाधीनता आन्दोलन के लिए अनेक कार्यकर्त्ता उन्हें मिले वहाँ हिन्दी के प्रचार को भी उन्होंने 'राष्ट्रीय एकता' का मूल प्रश्न माना। यही नहीं उन्होंने अपने सुपुत्र श्री देवदास गांधी को भी सर्वप्रथम वहाँ हिन्दी-प्रचारक के रूप में भेजा।

यह वह समय था जबकि 'हिन्दी' और 'राष्ट्रीय एकता' दोनों शब्द पर्यायवाची से हो गये थे। दोनों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता था। हिन्दी की यह परम्परा रही है कि जहाँ उसके अनेक लेखकों, कवियों और पत्रकारों ने देश की स्वतन्त्रता और उसके नव-जागरण में अपना उल्लेखनीय योगदान दिया वहाँ उनके सामने देश की सांस्कृतिक एकता का लक्ष्य भी प्रमुख रहा। यह वह समय था जबकि सांस्कृतिक और राजनीतिक एकता के इस यज्ञ में जहाँ हिन्दी-भाषी प्रदेशों के अनेक कवि और साहित्यकार अपना सहयोग दे रहे थे वहाँ दूसरे प्रदेशों में भी हिन्दी के माध्यम से राष्ट्रीय जागरण का उद्घोष हो रहा था। इसके साक्ष्य के रूप में हम हिन्दी के पुराने पत्रकार अमृतलाल चक्रवर्ती और विष्णु सखाराम देउसकर के नाम प्रस्तुत कर सकते हैं। अमृतलाल चक्रवर्ती बंगभाषी होते हुए भी हिन्दी के 'भारत मित्र' का सम्पादन करते थे थे और श्री देउसकर ने मराठी होते हुए भी हिन्दी पत्रकारिता को अपने विचारों के प्रचार का साधन बनाया था। बाद में तो यह परम्परा और भी तत्परता से आगे बढ़ी और सर्वश्री माधवराव सप्रे, सिद्धनाथ माधव आगरकर, लक्ष्मणनारायण गर्दे, बाबूराम विष्णु पराड़कर तथा रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर जैसे अनेक

महानुभाव मराठीभाषी होते हुए भी हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में अपना उल्लेखनीय स्थान बना गये।

कुछ लोग बंगभाषियों को हिन्दी का विरोधी मानते हैं, लेकिन मेरी ऐसी धारणा नहीं है। हिन्दी के उन्नयन तथा विकास में बंगभाषियों ने जो भूमिका निबाही उसका हिन्दी साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ यह स्मरणीय है कि सर्वप्रथम हिन्दी पत्रों का प्रकाशन कलकत्ता से ही हुआ और उन पत्रों के संचालक बंगभाषी ही थे। 'भारत मित्र' और 'हिन्दी बंगवासी' अपने समय में ऐसे पत्र थे जिनका अवदान राष्ट्रीय जागरण में बहुत महत्त्व रखता है। यही नहीं, जस्टिस शारदाचरण मित्र ने तो 'एक लिपि विस्तार परिषद्' के द्वारा 'देवनागर' नामक एक ऐसा पत्र प्रकाशित करके देश की सांस्कृतिक एकता में उल्लेखनीय योगदान दिया जो देवनागरी लिपि में सभी भाषाओं की रचनाओं को प्रकाशित करता था।

श्री मित्र ने जहां 'एक लिपि विस्तार परिषद्' के माध्यम से देवनागरी का प्रचार करने में एक अग्रणी कार्य किया वहां कालान्तर में अनेक बंगभाषी विद्वानों ने हिन्दी के ऐसे पत्र प्रकाशित किए जिन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी के उन्नयन तथा विकास में बहुत बड़ा योगदान दिया है। ऐसे पत्रों में बंगला 'प्रवासी' के सम्पादक रामानन्द चट्टोपाध्याय द्वारा संचालित 'विशाल भारत' और इण्डियन प्रेस, प्रयाग के संचालक श्री चिंतामणि घोष द्वारा संचालित 'सरस्वती' के नाम प्रमुख हैं। 'सरस्वती' ने जहाँ राष्ट्रभाषा हिन्दी के स्वरूप का निर्माण किया वहाँ 'विशाल भारत' के माध्यम से हिन्दी को अनेक लेखक मिले। हिन्दी के महत्त्व का इससे भी सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से संचालित उसकी सर्वोच्च परीक्षा 'साहित्य रत्न' जब प्रचलित हुई तब उसके प्रथम वर्ष के परीक्षार्थियों में श्री नलिनीमोहन सान्याल थे। श्री सान्याल ऐसे बंगभाषी सज्जन हैं जिन्होंने न केवल यह परीक्षा ही उत्तीर्ण की बल्कि अपने हिन्दी ज्ञान के अवदान के रूप में महाकवि सूरदास पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखा।

यदि ठंडे दिल से विचार किया जाये तो हमें यह मानने में कदापि कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि हिन्दी ने जहाँ देश की सांस्कृतिक एकता की समृद्धि में अपना अभूतपूर्व योगदान दिया वहाँ वह राष्ट्रीय जागरण की भी संवाहिका रही है। यदि ऐसा न होता तो हमारे अनेक राष्ट्रीय नेता एक स्वर से उसके महत्त्व को क्यों स्वीकार करते। स्व० बालगंगाधर तिलक जहाँ हमारी सांस्कृतिक एकता के संवाहक थे वहाँ उन्होंने स्वतन्त्रता आन्दोलन में भी बढ़-चढ़ कर भाग लिया। उनकी यह मान्यता थी कि केवल हिन्दी के माध्यम से ही हम

राष्ट्रीयता का मन्त्र देश के कोने-कोने तक पहुंचा सकते हैं। यही क्यों उड़ीसा के गोपबन्धु दास, तमिलनाडु के चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, आंध्र के टी० प्रकाशम और असम के श्री गोपीनाथ बरदोलोई भी उन्हीं व्यक्तियों में थे जो हिन्दी के माध्यम से भारतीय एकता को महत्त्व देते थे और उनकी दृष्टि में हिन्दी का प्रचार देश की भावात्मक एकता का एक अंग था।

इस परिप्रेक्ष्य में यदि उर्दू के हिमायतियों के उन तर्कों को ध्यान से देखें जो आज उर्दू को एक स्वतन्त्र भाषा का दर्जा देने के लिये प्रस्तुत किये जाते हैं तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि उर्दू कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं, बल्कि वह तो हिन्दी की ही शैली-मात्र है। यदि उर्दू के लिये देवनागरी लिपि का आश्रय ले लिया जाय तो उसका शैलीगत रूप ज्यों का त्यों बना रह सकेगा। उर्दू के हिमायती यह कैसे भूल जाते हैं कि जिस हिन्दी को जायसी, रहीम, रसखान, आलम, शेख और उसमान जैसे कवियों ने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया वह क्या केवल हिन्दुओं की भाषा कही जा सकती है? खड़ी बोली हिन्दी के आदिकवि के रूप में जहाँ अमीर खुसरो ने हिन्दी कविता को नये मुहावरे दिये वहाँ सैयद इन्शाअल्ला खां की 'रानी केतकी की कहानी' नामक रचना से हिन्दी कहानी की विधा में एक अभूतपूर्व निखार आया। हिन्दी साहित्य में जहाँ उक्त विभूतियों का विशिष्ट स्थान है वहाँ आधुनिक काल में भी ऐसे अनेक नाम हमारे समक्ष उभर कर आते हैं जिन्होंने जाति और धर्म की दीवार को लाँघकर साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में अनेक उल्लेखनीय कार्य किये थे। ऐसे महानुभावों में सैय्यद अमीर अली मीर, कासिम अली साहित्यालंकार, जहूरबक्श हिन्दी कोविद, बन्दे अली फातमी, मुन्शी अजमेरी और नबीबक्श फलक आदि के नाम गौरव के साथ स्मरण किये जा सकते हैं। पिछले तीन दशक में तो हिन्दी के लेखन में अनेक ऐसे मुसलमानों का स्मरणीय योगदान रहा है जिनकी रचना साहित्य का शृंगार कही जा सकती हैं।

भारत एक बहुभाषी देश है। इस देश की सभी भाषाओं और लिपियों को अपने-अपने प्रदेशों में अवश्य बढ़ावा मिलना चाहिए। लेकिन जहाँ तक देश की समग्र एकता का सम्बन्ध है उसके लिए हिन्दी ही एक ऐसा माध्यम हो सकती है जिसके द्वारा हम देश की अखण्डता की रक्षा कर सकते हैं। स्वतन्त्रता के लगभग ३७ वर्ष बाद आज तो ऐसी स्थिति आ गई है कि हम इससे इन्कार नहीं कर सकते कि हिन्दी वस्तुतः सारे देश की ही भाषा है। आज हिन्दी में जो लेखन हो रहा है उसमें सभी भाषाओं के लेखकों का योगदान है। इसमें जहाँ अनेक तमिल-भाषी महानुभाव अपना योगदान दे रहे हैं वहाँ केरल, कर्नाटक और आंध्र के लेखकों की संख्या भी कम नहीं है। यहां तक कि बंगाल और असम में भी लेखकों की ऐसी पीढ़ी तैयार हो गई है जो हिन्दी-भाषी क्षेत्र के लेखकों की भाँति ही

सहज और सरल हिन्दी लिखने लगी है। गुजरात और महाराष्ट्र इसके अपवाद कहे जा सकते हैं। यहाँ के लेखकों ने तो अनेक दशकों से हिन्दी-लेखन को अपना सांस्कृतिक धर्म ही समझ लिया था। आज ऐसे अनेक लेखक हिन्दी में हैं जिनकी मातृभाषा मराठी और गुजराती है लेकिन उन्हें हम अहिन्दीभाषी हिन्दी लेखक नहीं कहेंगे। सिन्धीभाषी जनता की बात दूसरी है। इनका अपना कोई प्रदेश नहीं है, देश के प्रत्येक भाग में यह देखे जा सकते हैं। लेकिन इतना सब होते हुए भी उनमें भी ऐसे अनेक लेखक हैं जो मूलतः अब हिन्दी में भी लिखने लगे हैं। पंजाब ने तो हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि में बहुत बड़ा योगदान दिया है। आज हिन्दी के ऐसे अनेक लेखक पंजाबीभाषी हैं जिनकी रचनाएँ हिन्दी साहित्य का श्रृंगार हैं। भारत–विभाजन के बाद तो स्थिति यहाँ तक बदल गई कि उर्दू के ऐसे अनेक लेखक हिन्दी में खुले रूप से छपने लगे जिन्हें हिन्दी भी नहीं आती। यह भी हिन्दी की लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण है। वैसे पंजाब में आर्यसमाज का प्रचार होने के कारण हिन्दी का प्रचलन पहले से ही था और यही कारण है कि आज हिन्दी के जितने शीर्षस्थ लेखक हैं उनमें पंजाब का योगदान कम नहीं कहा जा सकता। सर्वश्री सत्यदेव परिव्राजक, सन्तराम बी०ए०, सुदर्शन, यशपाल अश्क, अज्ञेय और मोहन राकेश पंजाब की ही देन हैं।

सांस्कृतिक एकता की कड़ी के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा का इससे अधिक ज्वलन्त प्रमाण क्या हो सकता है कि प्रेमचन्द जैसे लेखक को उर्दू में लिखना छोड़कर हिन्दी को अपनाना पड़ा। सुदर्शन जैसे हिन्दी कहानीकार भी पहले उर्दू में ही लिखते थे। बंगभाषी हेमन्तकुमारी चौधुरानी ने भी अपनी भाषा को छोड़कर हिन्दी में ही लेखन प्रारम्भ किया था और आज तो यह स्थिति है कि सभी भाषाओं के बोलने वाले हिन्दी को उन्मुक्त मन से अपना रहे हैं। दूर क्यों जायें, हिन्दी के विरोध की आवाज जहाँ से बराबर उठती रही है उसी नगर मद्रास से 'चन्दामामा' जैसी पत्रिका प्रकाशित हो रही है, जिसके द्वारा देश के हर कोने के बालक लाभान्वित होते हैं। हिन्दी को किसी विशेष प्रदेश या अंचल की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता, वह तो हमारी भावात्मक एकता का एक ऐसा सूत्र है जिसको हम अखिल भारतीय प्रतिष्ठा देकर ही सुदृढ़ बना सकते हैं।

अजय निवास, दिलशाद कॉलोनी
शाहदरा, दिल्ली ११००३२

हिन्दी-अभियान की रचनात्मक दिशाएँ

डा० हरवंशलाल शर्मा
कुलपति, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय

जहाँ तक हिन्दी के विकास और प्रगति का प्रश्न है, वह निश्चय ही शोचनीय है। क्योंकि अब व्यवस्था ने अंग्रेजी लादने की प्रक्रिया उलट दी है। अभी तक हम प्रशासन से अपेक्षा करते थे कि वह जगह-जगह अपने प्रशासनिक सूत्र से हिन्दी को प्रतिष्ठित करने का कार्य करेगा लेकिन वर्तमान सरकारी नीति से यह सम्भव प्रतीत नहीं होता। संविधान के प्रावधानों का भी सही-सही पालन नहीं हो रहा है। सरकार ने जगह-जगह कार्यालयों और सार्वजनिक क्षेत्रों में हिन्दी अधिकारियों की नियुक्ति और हिन्दी इकाईयों का संगठन तो किया है; किन्तु ये सारी व्यवस्थाएँ निस्तेज और निष्क्रिय हो जाती हैं, क्योंकि इन अधिकारियों की आवाज़ में कोई बल नहीं है, तथा जिस नौकरशाही के मातहत उन्हें काम करना पड़ता है वह अंग्रेजीपरस्त है और हिन्दी की प्रतिष्ठा करना ही नहीं चाहती। यदि आज यह पूछा जाय कि हिन्दी के विकास की दिशा में कितनी प्रगति हुई है तो प्रशासन इतने कार्य और आँकड़े हमारे सामने प्रस्तुत कर देगा कि देखने में लगेगा कि वास्तव में हिन्दी की प्रगति तेज हो रही है जबकि वस्तु-स्थिति यह है कि आज से १५ वर्ष पहले हिन्दी जिस तेज गति के साथ बढ़ रही थी, आज उतनी ही तेज गति के साथ पीछे खिसक रही है।

हिन्दी के आधुनिकीकरण के नाम पर भी अंग्रेजी को ही बढ़ावा दिया जा रहा है। कम्प्यूटर सिस्टम के माध्यम से आज जितने काम हो रहे हैं वे सब अंग्रेजी को ही प्रतिष्ठित कर रहे हैं। मशीनीकरण की इस चकाचौंध वाली स्थिति से निपटने के लिए हमको कुछ नये मार्ग निकालने होंगे। आज जिस एकरूपता और एकीकरण तथा आशुलेख और टंकण को बहाना बनाकर अंग्रेजी को आगे बढ़ाया जा रहा है वह भयानक है और यदि यह प्रक्रिया तेजी से बढ़ायी गयी तो सरकारी और प्रशासनिक स्तर पर हिन्दी अपने आप ही पीछे खिसक जायेगी और उसका विकास ठप पड़ जायेगा। यदि वर्तमान प्रशासन ने राजर्षि टंडन की सलाह मानकर हिन्दी अंकों को मान्यता दे दी होती तो आज कम्प्यूटर और मशीनीकरण के माध्यम से जो अंग्रेजी अंकों का बाहुल्य बढ़ रहा है वह रुक जाता। राजर्षि टंडन दूरदर्शी थे इसलिए उन्होंने इस आने वाले संकट को देख

लिया था। यदि हम उस समय जागते रहते और अंग्रेजी अंकों के माध्यम से अंग्रेजी का प्रचार-प्रसार इतनी तीव्रगति के साथ न बढ़ पाता। हमें अब इन परिस्थितियों में हिन्दी अंकों के लिए भी तीव्र संघर्ष करना चाहिए ताकि प्रकारान्तर से अंग्रेजी का आरोपण रोका जा सके।

अनुवाद के क्षेत्र में भी हिन्दी की स्थिति चिन्ताजनक है क्योंकि साहित्य अकादमी, नेशनल बुक ट्रस्ट, एन०सी०ई० आर०टी० तथा केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय एवं केन्द्रीय हिन्दी संस्थान आदि जैसी संस्थाएँ केवल निर्धारित (रुटीन) काम ही करती हैं। उनके संयोजन-नियोजन में न तो राष्ट्रीय दृष्टि दिखलाई पड़ती है और न वह दूरदर्शिता जिसके माध्यम से भारत की समस्त भाषाओं में पारस्परिक आदान-प्रदान बढ़ता और हिन्दी को पूर्णरूपेण विकास करने का अवसर मिलता। पिछले बीस वर्षों में हिन्दी का काम केवल औपचारिकता के स्तर तक ही सीमित रहा है और उसका क्रांतिकारी चरित्र दबता जा रहा है। यद्यपि सरकार की यह घोषित नीति है कि कार्यालयों में जहाँ अंग्रेजी में लिखना आवश्यक होगा वहाँ अंग्रेजी मसौदे के साथ हिन्दी का अनुवाद भी लगाया जायेगा किन्तु इस औपचारिकता को भी निभाना कठिन हो गया है। आज तो स्थिति यह है कि हिन्दी में लिखे गये पत्रों के उत्तर भी हमें अंग्रेजी में ही प्राप्त होते हैं।

तकनीकी तथा प्रायोगिक विज्ञान, मेडिसिन, वाणिज्य, कृषि तथा इन्जीनियरिंग आदि विषयों में अभी भी प्रमाणिक ग्रन्थ तैयार नहीं हो पाये हैं जिसका परिणाम यह है कि इन क्षेत्रों में हिन्दी की पहुँच ही नहीं हो पायी है। इसमें भी सरकार ने यदि दूरदृष्टि से काम लिया होता और हिन्दी की प्रतिष्ठित संस्थाओं द्वारा इस कार्य को कराया होता तो आज इतनी पाठ्य-पुस्तकें तैयार हो जातीं और प्राविधिक शिक्षण में काफी प्रगति हो गयी होती। विधि के क्षेत्र में भी यही विसंगति काम कर रही है। पिछले वर्ष हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने विधि के क्षेत्र में हिन्दी के प्रयोग और प्रचलन को लेकर एक बृहद् गोष्ठी का द्विदिवसीय आयोजन किया था जिसमें ८, १० उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों, विधि विशेषज्ञों और प्रमुख अधिवक्ताओं ने भाग लिया था। वहाँ भी समस्या यह नहीं थी कि हिन्दी में विधि शब्दावली और संवैधानिक मुहावरे नहीं हैं, वहाँ प्रायः सभी का मत था कि मुकदमों के फैसले और बहस हिन्दी में इसलिए नहीं हो पाते क्योंकि प्रशासन और न्यायालयों की ओर से हिन्दी के प्रयोग को प्रोत्साहित नहीं किया जाता। यदि संवैधानिक स्तर पर प्रशासन द्वारा यह अनिवार्य कर दिया गया होता तो निश्चय ही आज विधि-क्षेत्र में भी काम काफी आगे बढ़ा होता।

उपर्युक्त बातों की ओर मैंने संकेतमात्र किया है किन्तु हिन्दी के समर्थन का मुखौटा लगाकर हिन्दी की गति को अवरुद्ध करने की कुचेष्टाएँ अवांछनीय हैं। पिछले कई वर्षों से साहित्य अकादमी जैसी संस्थाओं द्वारा बोलियों को भाषा का स्थान देकर एक विचित्र प्रकार की संक्रमण की स्थिति पैदा की गयी। डोगरी बोली को साहित्य अकादमी द्वारा स्वतंत्र स्थान देने से भारत और विशेषकर हिन्दी-क्षेत्र की बोलियों को गलत प्रोत्साहन मिला। मैथिल बोली को भाषा का स्तर देकर साहित्य अकादमी ने कई क्षेत्रीय बोलियों को उकसाया है। बिहार में भोजपुरी अकादमी का संगठन यद्यपि एक सुखद वस्तु है किन्तु भोजपुरी, ब्रज, राजस्थानी आदि को भाषा का स्थान देना अवैज्ञानिक है क्योंकि भाषा मूल रूप से धर्म, पुराण, संस्कृति और मिथकों की सृजनात्मक अभिव्यक्ति से बनती है और उसकी विश्वजनीन चेतना होती है। बोलियाँ एक समृद्ध भाषा की अनेक इकाइयों के रूप में कार्य करती हैं और उसके सम्पूर्ण स्वरूप को बनाने-संवारने और समृद्ध करने में योग देती हैं। हिन्दी जगत् की भावुकता के आधार पर बोलियों को भाषा का रूप नहीं देना चाहिए किन्तु उन बोलियों के विकास को अवरुद्ध भी नहीं करना चाहिए क्योंकि जितनी समृद्ध बोलियाँ होंगी उतनी ही सशक्त भाषा भी होगी। स्वयं बोलियों के विकास के लिए आवश्यक है कि भाषा की समृद्धता बनी रहे। हमें आशा है कि भाषा के इस जटिल पक्ष पर पुनः विचार होगा। साहित्य अकादमी जैसी अनेक संस्थाएँ हैं जो सरकारी और अर्द्ध-सरकारी स्तर पर इस प्रकार का विष बो रही हैं। इस प्रवृत्ति को समूल नष्ट करने के लिए हमें एक कदम उठाना चाहिए।

अभी मैंने नागरी अंकों के विषय में कहा। आज नागरी लिपि के महत्त्व और उसकी उपयोगिता को नकारने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। वस्तुस्थिति यह है कि सार्वजनिक और प्रशासनिक स्तर पर भारत की विभिन्न भाषाओं के आदान-प्रदान के लिए हमें विशेष प्रयास करना चाहिए। वस्तुतः आज भारत की समस्त भाषाओं में लिपि-भेद होने के कारण ही भाषा-भेद की विषमता बढ़ी है। यदि स्वर्गीय गांधी और श्रद्धेय टण्डन जी की बात मानकर देश में प्रशासनिक और सार्वजनिक स्तर पर विभिन्न भाषाओं के साहित्य को मात्र नागरीलिपि में लिपिबद्ध कर दिया जाता तो भाषा की दूरी और पारस्परिक अजनबीपन समाप्त हो जाता। वस्तुतः भारत की समस्त भाषाओं की जड़ें संस्कृत भाषा में हैं, उनकी समस्त संस्कारिता भी एक ही धर्म, पुराण, मिथक और लोकतत्त्वों पर आधारित हैं। राम, कृष्ण, शिव, गंगा, यमुना, कृष्णा, कावेरी—इन सबका उल्लेख समान रूप से मिलता है। महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के अनुवाद और उनके नागरीलिपि में प्रकाशन से ये दूरियाँ समाप्त हो सकती थीं। खेद है कि समय रहते हमने इसको कार्यान्वित नहीं किया। यद्यपि हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने नागरीलिपि में ही

तेलगु, कन्नड़ और तमिल आदि कई भाषाओं के कोश संकलित कराये हैं फिर भी मात्र इतना ही पर्याप्त नहीं है। सरकार को चाहिए कि विशेष अनुदान देकर इस दिशा में योजनाबद्ध रूप में लम्बी स्कीम बनाये और केवल कोश ही नहीं, इन भाषाओं के साहित्य को भी अनूदित, रूपान्तरित और नागरीलिपि में मुद्रित कराये और देश के समस्त पुस्तकालयों में विशेष कक्ष स्थापित करके सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय को सुलभ कराने की चेष्टा करे, क्योंकि जब भारतीय भाषाओं का नैकट्य स्थापित होगा तब वह साहित्य और सांस्कृतिक वातावरण पैदा होगा जो अपनी देशीय अस्मिता के लिए आतुर होगा और यह आतुरता ही अंग्रेजी को समाप्त करके हिन्दी को प्रतिष्ठित करने में सहायक होगी।

इसी सन्दर्भ में उर्दू के विषय में भी चर्चा कर देना अप्रासंगिक न होगा। यह बड़े दुःख का विषय है कि उर्दू को देश के राजनैतिक दल केवल अपने निहित स्वार्थ के लिए समय-समय पर इस्तेमाल करते रहे हैं। मैं स्वयं उर्दू का प्रबल समर्थक हूँ क्योंकि मैं यह मानता हूँ कि उर्दू हिन्दी की एक शैली है और वह उसी मिट्टी से पैदा हुई है जिससे सूरदास, तुलसीदास, अष्टछाप के कवि, बिहारी, और पद्माकर ने जन्म लिया। यदि हमारी सांस्कृतिक दृष्टि सही होती और भारतीय अल्पसंख्यकों को अंग्रेजों और निहित स्वार्थ वालों ने गुमराह न किया होता, तो उर्दू को लेकर यह विषमता पैदा न हुई होती। मीर तकी 'मीर' की भाषा को हिन्दी के सिवाय और कुछ कहा नहीं जा सकता। गालिब का पूरा दीवान हिन्दी भाषा और मुहावरों से भरा हुआ है। अनीस के मर्सिये नितान्त भारतीय वातावरण को चित्रित करते हैं। ऐसा लगता ही नहीं कि जैसे हसन-हुसेन, जैनब और हज़रत अली इस देश के नहीं, विदेश के हैं। नज़ीर अकबराबादी के नज़्मों में हिन्दू-प्रतीकों, त्यौहारों, समारोहों और धार्मिक चरित्रों का जो चित्रण प्रस्तुत किया गया है उस पर हमें गर्व है। हमें इस पूरे साहित्य को नागरीलिपि में प्रकाशित करके उपलब्ध कराना चाहिए और इस बात का आन्दोलन करना चाहिए कि मात्र फारसी लिपि में लिखे जाने से उर्दू हिन्दी से अलग नहीं की जानी चाहिए। साथ ही यह कि उर्दू को नागरी लिपि में लिखने और प्रकाशित करने का आन्दोलन तीव्र करना चाहिए। उर्दू हिन्दी को समृद्ध करने वाली है।

जिस प्रकार उर्दू को राजनैतिक समस्या बनाकर देश के जन-मानस के साथ खिलवाड़ किया जा रहा है, ठीक उसी प्रकार अंग्रेजी साम्राज्य के प्रतीक-स्वरूप अंग्रेजी स्कूलों और कॉन्वेण्ट स्कूलों द्वारा भी हमारे देश के शिशुओं को अपने ही देश में अजनबी बनाने का षड्यन्त्र चल रहा है। आजादी के पहले अंग्रेजों की औपनिवेशिक नीति के अन्तर्गत जो विष बोया गया था वह आज स्वतन्त्रता के ३६ वर्ष बाद अपने विषाक्त रूप में पनप रहा है। इन कॉन्वेण्ट

स्कूलों में देश की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि के विरुद्ध नितान्त विदेशी, मूल्यहीन और विसंगतिपूर्ण शिक्षा दी जा रही है। यह सब सम्भव इसलिए हो रहा है, क्योंकि देश का सम्पन्न वर्ग उन स्कूलों में बच्चों को पढ़ाना अपनी प्रतिष्ठा का प्रतीक मानता है और प्रशासन भी परोक्ष रूप से उनको प्रोत्साहन देता है। आज जिस तर्क के अन्तर्गत ये प्रशिक्षण संस्थाएँ चल रही हैं वह नितान्त घातक है। इन संस्थाओं का कहना यह है कि चूँकि ये संस्थाएँ बिना सरकार से अनुदान लिये प्रशिक्षण करती हैं और साथ ही अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा संचालित हैं, इसलिए प्रशासन को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। स्वयं सरकार भी यह कहकर कि ये संस्थाएँ अल्पसंख्यकों द्वारा संचालित हैं, हस्तक्षेप नहीं करती। किन्तु ये दोनों तर्क असंगत हैं। देश में कौन-सी शिक्षा-पद्धति लागू होगी, किस प्रकार की शिक्षा दी जायगी, उनका विषय-सन्दर्भ तथा पाठ्यक्रम आदि क्या होगा, इसको राष्ट्रीय स्तर पर निर्धारित होना चाहिए और पूरे देश में, चाहे वे सरकारी प्रशिक्षण संस्थाएँ हों या सार्वजनिक, उनमें आधारभूत सांस्कृतिक और सामाजिक एकरूपता होनी चाहिए। सरकार को यह देखना चाहिये कि प्रशिक्षण में इस एकरूपता का निर्वाह हो रहा है या नहीं और यदि नहीं हो रहा है तो इन शैक्षणिक संस्थाओं को समाप्त कर देना चाहिए। यह दुःख की बात है कि जान-बूझकर या अनजाने सरकार इस आधारभूत नीति की उपेक्षा करके अपनी गलत उदारता की दुहाई देती है। सम्प्रति हम सिवाय शाब्दिक विरोध के और कर ही क्या सकते हैं। फिलहाल यदि ये कॉन्वेण्ट स्कूल वैकल्पिक रूप में हिन्दी के माध्यम से पठन-पाठन की सुविधा विद्यार्थियों को प्रदान करें तो सम्भव है कि यह पनपता हुआ विष कुछ कम हो। इसलिए मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इस मञ्च से यह माँग करता हूँ कि कॉन्वेण्ट स्कूलों को तत्काल ही हिन्दी को वैकल्पिक रूप में अध्ययन करने की छूट देनी चाहिए तथा हिन्दी के माध्यम से भी परीक्षाओं को आयोजित करके अपनी सदाशयता का प्रमाण देना चाहिए। साथ ही पाठ्यक्रम में भारतीय संस्कृति के मूल्यों का समावेश होना चाहिए।

कॉन्वेण्ट स्कूलों की पढ़ाई की चर्चा मैंने यों ही नहीं की। वस्तुतः इन स्कूलों का सीधा प्रभाव देश में होने वाली प्रतियोगी परीक्षाओं पर पड़ता है। कॉन्वेण्ट स्कूलों से निकले हुए विद्यार्थियों को अंग्रेजी माध्यम से शिक्षित होने के नाते यह सुगमता रहती है कि वे इन प्रतियोगी परीक्षाओं में अपनी निपुणता दिखा सकें। यद्यपि केन्द्रीय सरकार ने और प्रादेशिक सरकारों ने हिन्दी को एक विषय के रूप में स्वीकार किया है, कहीं-कहीं उसे माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया है, किन्तु यह व्यवस्था मात्र औपचारिक है। जबकि आवश्यकता है एक सुदृढ़ नीति की। विषय-ज्ञान अर्जित नहीं किया जाता और सभी प्रश्न-पत्र और उनके उत्तर भी अनिवार्यतः जब तक हिन्दी में नहीं होंगे, तब तक मात्र हिन्दी को एक

विषय के रूप में स्वीकार करने से उचित फल नहीं मिलेगा। इसलिए प्रतियोगी परीक्षाओं में हिन्दी को माध्यम के रूप में स्वीकार करना उतना ही आवश्यक है जितना कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए संविधान में उल्लिखित नैसर्गिक अधिकार।

यह खेद की बात है कि स्वतंत्रता के ३६ वर्ष बाद भी हमारे विदेश मंत्रालयों में व्यवहार की भाषा अंग्रेजी ही बनी हुई है। संवैधानिक रूप से हिन्दी को जो स्थान प्राप्त है उसके अनुसार राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी का ही प्रयोग होना चाहिए। किन्तु हीन भावनाओं से ग्रस्त हमारे भारतीय आफिसर्स और विदेश मंत्रालय आज भी अंग्रेजी के प्रयोग को जारी रखे हुए हैं। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रभाषा होते हुए भी हम विदेशों में विदेशी भाषा का प्रयोग करके अपने अराष्ट्रीय आचार-विचार का ही पालन करते हैं। संयुक्तराष्ट्र संघ में हिन्दी का अपना पद प्राप्त न कर सकना और अंग्रेजी माध्यम से वहाँ अपना काम चलाना नितान्त अपमानजनक है। इसलिए हम हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मञ्च से सरकार से माँग करते हैं कि शीघ्रातिशीघ्र विदेश मन्त्रालयों में हिन्दी माध्यम से काम प्रारम्भ किया जाए और सक्रिय रूप से हिन्दी को संयुक्तराष्ट्र संघ की कार्यालयीय भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया जाए।

जितनी शक्ति के साथ हमें काम करना चाहिए था, हमने नहीं किया। पिछले ३७ वर्षों की अवधि में हमें देश के भीतर हिन्दी के माध्यम से काय-व्यापार करने में सक्षम होना चाहिए था। थोड़ी देर के लिए हम यह मान भी लें कि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जिस तीव्र गति से हिन्दी को प्रतिष्ठित होना चाहिए था वह सम्भव नहीं हो पाया क्योंकि उसमें प्रशासन का हाथ था। किन्तु हम सार्वजनिक जीवन में हिन्दी को प्रतिष्ठित कराने में असफल रहे, यह हमारी अपनी अक्षमता का परिचायक है। यह दुःख की बात है कि उद्योग-व्यापारादि के क्षेत्र में हिन्दी पूर्णरूपेण प्रविष्ट नहीं हो पायी है। हमें इस दिशा में एक ठोस कार्यक्रम बनाकर कार्यशील होना चाहिए और अल्प समय में ही उद्योग-व्यापार के क्षेत्र में हिन्दी का प्रयोग बढ़ाने में योग देना चाहिए। इस दिशा में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने पिछले एक वर्ष में कुछ ठोस कदम उठाये हैं। विधि-क्षेत्र में हिन्दी के प्रयोग की समस्याओं को लेकर हमने एक बृहद् आयोजन किया था जिसके कुछ महत्त्वपूर्ण नतीजे भी निकले हैं। इसी क्रम में उद्योग-व्यापार में एक बृहद् गोष्ठी शीघ्र ही आयोजित की जाने वाली है और हमारा विश्वास है कि इस गोष्ठी से भी सार्वजनिक जीवन में हिन्दी के प्रचार-प्रसार में विशेष प्रेरणा मिलेगी। मैं हिन्दी की सार्वजनिक संस्थाओं से यह अपील करता हूँ कि वे अपने-अपने क्षेत्र में व्यापारियों, नागरिकों, बुद्धिजीवियों और उद्योगपतियों की सभाएँ बुलाकर इस आन्दोलन को गति प्रदान करें।

हिन्दी की संवैधानिक स्थिति के विषय पर भी यहाँ चर्चा करना आवश्यक है, क्योंकि हिन्दी को संविधान में जो स्थान प्राप्त है उसको मिटाने के लिए कुछ तत्त्व क्रियाशील हैं। हमारी कमज़ोर राष्ट्रीय नीति के कारण संविधान में कुछ ऐसे संशोधन हो गये हैं, जिनके कारण हिन्दी को अपना नैतिक पद प्राप्त करने में कठिनाई हो रही है। यह बड़े दुःख का विषय है कि हमारे राजनीतिज्ञों ने संविधान में संशोधन करके भाषा अधिनियम में यह जोड़ दिया है कि यदि देश का कोई भी भाग अंग्रेजी के हटाये जाने का विरोध करेगा, तो अंग्रेजी तब तक बनी रहेगी जब तक वह अल्पमत भी अंग्रेजी हटाये जाने का समर्थन न करे। यह स्वीकृति अपने आप में ही विडम्बनापूर्ण है, क्योंकि यह अल्पमत द्वारा बहुमत का गला दबाना है। देश की षड्यन्त्रकारी स्थितियाँ इतनी सशक्त हैं कि वे देश में कभी भी ऐसी स्थिति आने ही नहीं देंगी जिससे पूरा देश सर्वसम्मत रूप से अंग्रेजी का मोह त्याग सके। वस्तुतः यह बहुमत को अल्पमत में बदलने का कुकृत्य है। इसलिए हमारे देश के विधिवेत्ताओं एवं विद्वानों को कोई ऐसा मार्ग निकालना चाहिए जिससे अल्पमत का यह कुचक्र समाप्त हो सके और हम इस विडम्बनापूर्ण स्थिति से मुक्ति पा सकें। इस नीति से हिन्दीतर भाषाओं का समुचित विकास भी सम्भव नहीं है। वास्तव में सभी भाषाओं के विकास से ही हिन्दी का सामासिक रूप विकसित होगा।

संवैधानिक स्तर पर एक और भी समस्या उठ खड़ी हुई है और वह यह है कि शिक्षा के स्तर पर कहीं शिक्षा के क्षेत्र में द्वि-भाषा फार्मूला है और कहीं त्रि-भाषा फार्मूला। विडम्बना तो यह है कि त्रि-भाषा फार्मूला से भी शिक्षा की एकरूपता नष्ट हो रही है और प्रकारान्तर से अंग्रेजी प्रतिष्ठित हो रही है। इसी का यह परिणाम है कि तमिलनाडु और दक्षिण के अन्य प्रदेशों में त्रि-भाषा फार्मूला के आधार पर अंग्रेजी दूसरी भाषाओं का गला दबाकर हावी है। वस्तुतः त्रिभाषा फार्मूला के आधार पर नीति-निर्धारण होना चाहिए और हिन्दी तथा क्षेत्रीय भाषा को अनिवार्य करके देश की किसी अन्य भाषा को विकल्प के रूप में लेने की सुविधा होनी चाहिए। हम महाराष्ट्र सरकार के आभारी हैं कि उसने अपने प्रदेश में हिन्दी को अनिवार्य बनाकर एक समाधान प्रस्तुत किया है। अहिन्दी भाषाभाषी क्षेत्रों में इसका जितना ही अनुकरण किया जायगा उतना ही श्रेयस्कर होगा। संवैधानिक सन्दर्भ में अरुणाँचल और मिज़ोरम में जो अंग्रेजी को प्रमुखता प्रदान की गयी है वह घातक है, क्योंकि अरुणाँचल, मिज़ोरम और नागालैण्ड की भाषाएँ पूर्णतया विकसित और सुसंस्कृत हैं। अंग्रेजी को प्रधानता देने में वहाँ की क्षेत्रीय भाषाओं का हनन हो रहा है। उसे रोकना नितान्त आवश्यक है। मैं समझता हूँ कि इस दिशा में देश की सार्वजनिक संस्थाओं और प्रतिष्ठानों को एकमत से विरोध करना चाहिये तथा इस अभिशाप से उन प्रदेशों को मुक्त

करके उनको अपना स्वाभिमान और उनकी अपनी स्वायत्तता वापस देनी चाहिए।

मैंने अभी तक हिन्दी भाषा और उससे सम्बद्ध अनेक समस्याओं की ओर ध्यान आकृष्ट कराया और जगह-जगह आन्दोलन आदि को रेखाँकित किया है। ऐसी स्थिति में पूछा जा सकता है कि हिन्दी के सर्वव्यापी प्रयोग के लिए, देश के सभी क्षेत्रों और वर्गों में प्रेम उत्पन्न करने के लिए क्या करणीय कार्य हैं ? आप स्वयं इसका उत्तर देने में समर्थ हैं। सामान्यतः यह कहना तो सरल है कि हमें अपने कार्य-व्यापार में हिन्दी का अधिक से अधिक प्रयोग करना चाहिए किन्तु मात्र इतने से ही हिन्दी आन्दोलन या हिन्दी का प्रचलन और प्रयोग आगे नहीं बढ़ पायेगा। इसके लिए आवश्यक है कि—

१. आप स्वयं अपने निजी कार्य में हिन्दी का अधिक-से-अधिक प्रयोग करें। वैयक्तिक पत्र से लेकर बैंक-व्यापार आदि में भी हिन्दी ही को माध्यम के रूप में स्वीकारें।

२. दूसरा कार्य यह है कि आप जिस विषय के विशेषज्ञ हों, उसमें ग्रंथों की रचना करके प्रकाशित करें, क्योंकि सामान्य पत्र तो सभी लिख-पढ़ सकते हैं, किन्तु वैज्ञानिक और तकनीकी विषयों पर विशेषज्ञ ही लिख सकते हैं। इसलिए विशेषज्ञों की इस दिशा में विशेष जिम्मेदारी है।

३. जो विसंगतियाँ प्रशासनिक, संवैधानिक आदि कारणों से पैदा हुई हैं, उनके विरुद्ध प्रबल जन-मत तैयार करें, ताकि बहुत-सी संवैधानिक अड़चनों का जनतांत्रिक हल लोकमत के आधार पर निकल सके।

४. जहाँ कहीं भी हमें हिन्दी को प्रयोग में लाने का विकल्प प्राप्त हो, वहाँ उसका प्रयोग करें और अंग्रेजी की वरीयता को समाप्त करने में अपना योगदान दें।

५. कॉन्वेण्ट स्कूलों का तब तक बहिष्कार करें जब तक कि उन स्कूलों में हिन्दी को वैकल्पिक स्थान प्राप्त न हो।

६. नागरीलिपि और नागरी अंक को प्रयोग में लाने के लिए सशक्त आन्दोलन चलायें।

७. हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तत्त्वावधान में स्थापित विभिन्न समितियों से सहयोग प्राप्त करके विधि-क्षेत्र, उद्योग-व्यापार-क्षेत्र, शिक्षा-क्षेत्र में जो निर्णय लिये गये हैं, उनको कार्यान्वित करने के लिए प्रयत्नशील हों।

८. क्षेत्रीय भाषाओं और संस्कृतियों के प्रति उदार होकर उनकी प्रतिभाओं और विशेषताओं को राष्ट्रीय-स्तर पर स्थापित करने की चेष्टा करें।

९. सरकारी और सार्वजनिक-स्तर पर ऐसी अनेक पत्रिकाएँ निकलनी चाहिएँ जिससे विभिन्न क्षेत्रों और भाषाओं का विस्तृत परिचय और अध्ययन करके, विचारों का पारस्परिक आदान-प्रदान संभव हो सके।

१०. हिन्दी भाषाभाषियों को दक्षिण की किसी न किसी एक भाषा को अनिवार्यतः सीखना चाहिए ताकि अहिन्दी भाषाभाषी क्षेत्र के लोगों को विश्वास का आश्वासन मिले और सन्देह की भावना नष्ट हो।

द्वितीय राजभाषा उर्दू कैसी होगी ?

पद्मभूषण डा० श्रीनारायण चतुर्वेदी

उर्दू के स्वरूप के बारे में सामान्य लोग ही नहीं हिन्दी के बहुत से विद्वानों को भी भ्रम है। वे समझते हैं कि सिनेमा में या लखनऊ आदि बड़े नगरों में जो बोली समाज के एक विशेष स्तर में बोली जाती है, जिसमें बीच-बीच में कुछ चलते हुए फ़ारसी के वे शब्द आ जाते हैं, जिनसे वे परिचित हैं, वही उर्दू है और उसी को द्वितीय राजभाषा बनाने की माँग की जा रही है। हिन्दी के अनेक साहित्यकार उर्दू नहीं पढ़ते। वे यह कह कर संतोष कर लेते हैं कि उर्दू तो हिन्दी की एक शैली है। उनकी यह गलत धारणा है कि यदि वह देवनागरी लिपि में लिखी जाये तो वे उसे समझ लेंगे। उन्हें यह नहीं मालूम कि आज उर्दू वाले जिसे उर्दू कहते हैं, उसका रूप हिन्दी से कितना भिन्न है, या उसका कितना अधिक फ़ारसीकरण हो गया है। वह हिन्दी से कितनी दूर चली गई है। बहुवचन बनाने आदि में वह फ़ारसी और अरबी के व्याकरण से नियंत्रित होती है। जैसे उसमें 'वकील' का बहुवचन "वकीलों" न होकर "वकला" होता है। जिस उर्दू की माँग की जा रही है वह फ़ारसी से बोझिल है; उसके व्याकरण से बहुत कुछ नियंत्रित है। उसमें उपमा, अलंकार, संदर्भ फ़ारसी साहित्य या मध्यपूर्व एशिया के हैं। उसका आधार फ़ारसी और मध्यपूर्व एशिया की संस्कृति है। उसमें भारतीय संस्कृति नाममात्र को है। वही उर्दू आज उर्दू लेखकों, भाषण देने वालों और उर्दू का प्रचार करने वालों की निगाह में उर्दू है। उसी उर्दू को राज-भाषा बनाने की माँग की जा रही है। यह भी शर्त है कि वह विदेशी फ़ारसी लिपि में लिखी जाये। राज्य की जनता और हिन्दी के उक्त विद्वानों और सामान्य हिन्दी-शिक्षित लोगों की जानकारी के लिए आज की उर्दू के कुछ नमूने दिये जा रहे हैं। ये नमूने समाचार-पत्रों, कहानियों, उपन्यासों, उर्दू विद्वानों के लेखों और पुस्तकों से लिये गये हैं। इन्हें उन पत्र–पत्रिकाओं और उर्दू के उन मान्य लेखकों की पुस्तकों से लिया गया है जो सहज में मिल गयीं। इन्हें किसी क्रम में छाँटा नहीं गया। उर्दू की जो पुस्तक या पत्र हाथ लगा उसे खोलने पर जो अंश सामने आ गया, वही लिख लिया गया है। कविता चुनने में ध्यान रखा गया है कि प्रसिद्ध हिन्दू-मुसलमान उर्दू कवियों की कविताओं से कुछ पंक्तियाँ दे दी जायें।

समाचारपत्रों, कहानियों और उपन्यासों में सभी लेखक भरसक सरल भाषा का प्रयोग करते हैं क्योंकि इन्हें विद्वान ही नहीं, कम शिक्षित लोग भी पढ़ते हैं। पहले सरल उर्दू के नमूने, फिर विद्वानों की कविता और 'स्टैण्डर्ड' उर्दू गद्य के नमूने देखिये।

उर्दू समाचारपत्रों के शीर्षकों की भाषा के उदाहरण—

१. हुकूमत मज़दूरों के हक़ूक़ ग़सब कर रही है।

—सियासत जदीद, २६-२-८२

२. अम्न के नाम पर इश्तेआल फैलाने की दिल-आज़ार कोशिशें।

—ब्लिट्ज़ उर्दू, २७-२-८२

३. हिज़्बे मुखालिफ़ के इत्तेहाद के इम्कानात मादूम। जाब्ता कमेटी तोड़ दी गई।

—कौमी आवाज़, २४-२-८२

उर्दू समाचारों की भाषा के कुछ नमूने—

लोक दल के तीन पार्टियों के तालमेल के तोड़ देने के एकतर्फ़ा फ़ैसले ने हिज़्बे मुखालिफ़ के इत्तेहाद के इम्कानात मज़ीद मादूम हो गये हैं।

—कौमी आवाज़, २४-२-८२

मोआहदये शिम्ला के ज़रिये दोनों मुमलिकत ने बाहम जंग न करने का अहेद कर लिया है। नाजंग मोआहदे की तजवीज़ हिन्दोस्तान के अफ़सर व ख़यालात का आईना है।

—कौमी आवाज़, २७-२-८२

नई देहली—२५ फर्वरी : आज लोकसभा में ·········· हुकूमत की तरफ से मज़दूरों के खिलाफ़ किये जाने वाले मोअयना सख्त इक़दामात पर एहतेजाज करते हुए हिज़्बे मुख़ालिफ़ से तआल्लुक़ रखने वाले अराकीन बड़ी तादाद में एवान से वाकआउट कर गये।

—सियासत जदीद, २६-२-८२

कलकत्ते की अम्न की फ़ज़ा की परागदा करने की कोशिशें की गयीं लेकिन शुक्र है जिसे बांयां बाज़ू हुकूमत ने बर वक़्त मुदाख़लत करके नाकाम कर दिया।

ब्लिट्ज़ उर्दू एडीशन, २७-२-८२

यूनिवर्सिटियाँ अर्बाबे कमाल को ऐसी डिग्रियाँ देकर अपने वज़न व वक़ार में इज़ाफ़ा करती हैं। कश्मीर यूनीवर्सिटी को हम मुबारकबाद पेश करते हैं कि

इल्म व फ़न के एक सीमुर्ग के एक हुमा और खुशकलामी व शेवा बयानी के एक अन्दलीब को अपने हल्के में लेकर अपनी तौक़ीर बढ़ाई वर्ना मौलानाये मुहतरम के रुत्बे का शहबाज़ एक ऐसे सदत्तुलमुंतहा पर बैठ चुका है जहाँ इनको किसी कल्गी की जरूरत नहीं ख्वाह वह कैसी ही ज़रीं और मुकल्लल हो।

—"मुआरिफ" १९८१ (गुशुरात)

मज़हब की तबदीली के हालिया वाक़यात का तआल्लुक़ अक़ायद से नहीं है। यह वाक़यात समाज के खिलाफ़ एक बग़ावत की हैसियत रखते हैं और इस बग़ावत को रोकने के लिये इसके अस्बाब को ख़त्म करना होगा।

—कौमी आवाज़ एडीटोरियल, २४-२-८२

अब कहानियों और उपन्यासों की भाषा के नमूने देखिये—

शाहीन खूबसूरती से ज़्यादा ज़हानत के लेहाज़ से दिलचस्पी की मुस्तहक़ थी। वह होनहार, हँसमुख, हाज़िरजवाब और बहुत ज़्यादा जिद्दतपसन्द थी। हर नई चीज़ पर मिटना उसकी फ़ितरत में शामिल था। वह नये अन्दाज़ से अपने को संवारना पंसद करती थी। मश्रिक़ी माहौल में जहाँ लम्बे बालों को ही ख़ूबसूरती ख़याल किया जाता है उसने बाल कटवाने का जुरअतमंदाना एक़दाम किया। तान व तशनीअ की क़तई परवाह नहीं की।

—नया दौर, दिसम्बर १९८१

मियां 'आज़ाद' जब घर से निकले गिर्गिट की तरह रंग बदलते रहे। कभी दर्वेश शेखूखत पनाह, वली अल्लाह, आरिफ़-ब-अल्लाह, हक़ आगाह, मशीखत दस्तगाह, कभी जुरआ-नोश, मग़बचै बादा फ़रोश, रिन्दे आशाम, सुबह को शराब, शाम को जाम, कभी पहलवान कभी फिकैत बन गये।

—फ़सानैय आज़ाद

कमलादेवी अलाउद्दीन का शुक्रिया अदा करते हुए कहती हैं— "नहीं हुज़ूर मैं कुफ़राने नेमत नहीं कर सकती। मगर यहाँ महाराज का शुक्रिया अदा करने की जरूर जुरअत करती मगर मेरी खुश्क जबान, मेरे परेशान हवास और उर्दू जबान से मेरी नावाक्फ़ियत मुझको जबान खोलने की इजाज़त नहीं देती।"

मौहम्मद अली तबीब-खिज्रखाँ देवलदेवी

"काले खां की कुर्बानी अमरकान्त की जिंदगी का शीराज़ा बन गई। इसमें तड़पन न थी, बेकरारी न थी, इस्तेहकाम न था, फ़ौरी तग़युरात के झोंके इसके वर्क़ों को परेशान करते रहते थे। इस शीराज़े ने इसमें तबाजुन और दिली मुतावक़त पैदा कर दी।"

—मुंशी प्रेमचन्द – मैदान अमली

अब सामान्य उर्दू गद्य साहित्य के कुछ नमूने दिये जाते हैं—

अदब ख़याल और ज़बान की एक ऐसी तख़लीक़ी इकाई का नाम है जिससे मसर्रत के साथ बसीरत हासिल होती है। अदब में जमालियाती कैफ़ीयत ज़्ज़्बाती और तख़लीक़ी अन्सर की आमेज़िश से पैदा होती है और इसका इज़हार ज़बान की मजाज़ी शक्लों यानी तश्बीह, इस्तयारा, पैकर, अलामत, कनाया, मजाज, रसल और दूसरे तख़लीक़ी रिश्तों के ज़रिये ज़ाहिर होता है।

'शायर' उर्दू के मुक़तदर जरीदों में से एक हैं। इसे उर्दू तहज़ीब नुमायन्दा कहना ग़लत न होगा। 'शायर' उर्दू अदब की ख़िदमत और तरक्की व तर्बीज की एक रवायत का नाम है जिसकी इब्तदा १९३० से हुई। यह एक अदब–आफ़ीं जरीदा है जिसके इजराअ के बाद से इसने न सिर्फ़ आला व सेहतमंद अदब शाया किया बल्कि शायरों और अदीबों की मुतअद्दद नस्लों की तरबीयत व तरक़्क़ी में मुवानत की। आग़ाज़ 'शायर' से किया।

—'आजकल', दिसम्बर १९८१ 'कुंवरसेन'

—रिवियु माहनामा 'शायर' ख़ास नम्बर १९८०

'शेफ़ता' ने जिन शोअरा की तारीफ़ की है इनमें से वेश्तर वही हैं जिनकी तारीफ़ आज तक तमाम सुख़न-संज व सुखन-फ़हम नक्क़ाद करते चले आये हैं लेकिन बाज़ की तारीफ़ के सिल्सिले में 'शेफ़ता' ने जो सीग़ े अफ़ज़ल-उल्-मुतफ़ैजल के इस्तेमाल किये हैं वह उनके हरीफ़ों के लिये तो सक़ील थे ही लेकिन ऐसा मालूम होता है कि खुद इनके मम्दूहीन को भी इसका एहसास हो गया था कि "रकाब क़िज़ुउलसलान की बोसा-देही के लिये कुर्सीएनुह-फ़लक ज़ेर पाये अन्देशा" रख दी गई है।

(खादिल हुसेन 'क़ादरी')

—मआरिफ, फरवरी १९८२

मुतअद्दद मब्सूत व ज़ख़ूतों का कमाहक़ा पढ़ना भी कोई आसान काम नहीं। अहले-ज़बान को भी इससे ओहदा-बरआ होना मुश्किल है चेजाये कि किसी मग्रिबी से यह तवक़्क़ों की जाय कि वह हर्फ़न-हर्फ़न इसे पढ़कर इस करार-वाक़ई तौर पर इस्तेख़राज़ व इन्बिसात कर सकेगा।

(खालिद हुसेन 'क़ादरी')

—मआरिफ, फरवरी १९८२

उर्दू साहित्य और काव्य के कुछ नमूने—

करता है तो तै सवादनामा यूँ हर्फ़ हैं नक़्श पाये ख़ामा
यह दामने दश्ते शौक़ का ख़ार यानी ताजउलमुलूक दिल जार

एक जंगले में जा पड़ा जहाँ गर्द सैहराय अदम भी था जहाँ गर्द

(गुलज़ार नसीम—पं० दयाशंकर कौल)

गुमां आबाद हस्ती में यक़ीं मर्दें मुसलमा का
बयाबां की शबे तारीक में कंदील रहबानी
मिटाया क़ैसरो कसरा के इस्तिब्दाद को जिसने
वह क्या था ज़ोर हैदर, फुक्रे बूज़र, सिद्क़े सलमानी ।।

- इक़बाल

गुबार-आलूदए रंगों नसब हैं बालो पर तेरे
तु ऐ मुर्ग़ें हरम उड़ने से पहले पर-फिशां होजा
खुदी में डूब जा ग़ाफ़िल यह सर्रे जिन्दगानी है
निकल कर हल्क़ए शामो सहर से जाविदाँ होजा ।।

—इक़बाल

इसमें खूबी सी कुछ आईने मुकाफ़ात की थी
कुछ जुनूँख़ेज बग़ावत सी भी जज़्बात की थी
इक फ़सूँ-साज़ शरारत सी कुछ रात की थी
वर्ना उसको न मुझीको ख़बर इस बात की थी
कि यह रात मुक़द्दर में मुलाक़ात की थी

ठंडी काफ़ी —आनन्द नरायन 'मुल्ला'

'रामायन का एक सीन'

रुख़सत हुआ वह बाप से लेकर खुदा का नाम
राहे वफ़ा की मंज़िले अव्वल हुआ तमाम
मंज़ूर था जो माँ की ज़ियारत का एहतमाम
आँखों से अश्क पोंछ के दिल से किया कलाम
आख़िर है कुछ हद्दे सितमो जुल्मो जौर भी
हमको उदास देख के ग़म होगा और भी
ऐ ख़ाके हिन्द तेरी अज़मत में क्या गुमां है
दरयाए फ़ैजे कुदरत तेरे लिये रवां है ।
तेरी जबीं से नूरे हुस्ने अजल अयाँ है
अल्लाह रे जेबो ज़ीनत क्या औजे इज्ज़ोशां है
हर सुबह है यह ख़िदमत खुर्शेद पुर ज़िया की
किर्नों से गुँधता है चोटी हिमालिया की

—बृज नरायन 'चकबस्त' लखनवी

तोड़ी कलाई ज़ुल्म की ज़िन्दाँ के दर खुले
ज़ंजीर कट के गिर गई बावे असर खुले
बर्सों के बाद बुत-शिकन ओ हक़निगर खुले
थे जिसकी आरज़ू में वह राज़े सहर खुले
खुश्बू घुली फ़ज़ाओं में दिल शाद हो गये
गुलशन के फूल क़ैद से आज़ाद हो गये

वह बन्देमातरम की सदा वह सभों का ज़ोश
टकरा गये पहाड़ से ग़ार्ज़ी व सरफ़रोश
हैरत से देखती रही दुनिया अलम बदोश
एक मर्दे बावफ़ा का वह अन्दाज़ फ़िक्रो होश
पसपा किया हरीफ़ को हर हर महाज़ पर
लड़ता रहा निहत्था वह दुश्मन से बेख़तर

(वक़ार 'नासरी' —नयादौर, १९८१)

ख़ालिक़े नक्शैय फ़िर्दोसे वरीं शाहजहाँ
तुझ पे रोशन थे यह असरारे हक़ीक़त शायद
वक़्त है अस्ल में एक सैले रवाँ तेज़ क़दम
जिसकी एक लहर में एक मौज में बहे जाते हैं
सरवतो दौलतो इक़बालो ज़फ़र जाहो हशम
ज़िंदगी हुस्नो तबानाई, जवानी दम ख़म
तूने इन आर्ज़ी चेहरों से तग़ाफ़ुल बर्ता
कुछ न सम्झा इन्हें रंगीन फ़रेबों के सिवा
और यह चाहा कि इसी कारगहे फ़ानी में
तेरे दर्दे ग़मे पिन्हाँ को मिले उम्रे दवाम
हश्र तक ज़िंदा ओ पाइन्दा रहे इश्क़ का नाम

(आलम 'फतेहपुरी'—नयादौर, सितम्बर १९८१)

उर्दू के इन उदाहरणों से हिन्दी वालों को कुछ आभास हो जायगा कि किस "उर्दू" भाषा को भारत के इस हृदय-देश में द्वितीय राजभाषा बनाकर उसे ९५ प्रतिशत जनता पर लादने का प्रयत्न किया जा रहा है। द्वितीय राज-भाषा बनने पर सरकारी नौकरियों में ही नहीं, म्यूनिसिपैलटियों, नोटिफाइड और टाउन एरियाओं, यहाँ तक कि कोआपरेटिव सोसाइटियों और ग्राम सभाओं में कुछ लोग इस उर्दू के उपयोग की माँग कर सकते हैं, और द्वितीय राजभाषा होने के कारण उसका उपयोग करने से मना नहीं किया जा सकेगा। इस प्रकार द्वितीय राजभाषा के रूप में यह सभी को पढ़नी होगी। यही नहीं, उर्दू वाले इसे

फ़ारसी लिपि में लिखने की अनिवार्य शर्त लगाते हैं। इसलिये हमारे राज्य में उर्दू भाषा ही नहीं, फ़ारसी लिपि भी सीखना प्रायः अनिवार्य हो जायगा। द्वितीय राजभाषा होने के कारण शिक्षा विभाग और शिक्षा बोर्ड को उसका पढ़ना अनिवार्य करना होगा तथा परीक्षाओं के सब प्रश्न-पत्र उर्दू में भी छापने पड़ेंगे नहीं तो "माइनारिटीज" के हितों की रक्षा न हो सकेगी।

हमारे मंत्री, विधायक, नौकरशाह, अधिकारी, कर्मचारी इन नमूनों को पढ़कर देखें कि वे इस भाषा को कितना समझ सकते हैं। उन्हें यह भाषा सीखनी होगी, यदि न भी सीखें तो विधान सभा में उर्दू के भाषण या विज्ञप्तियाँ समझने के लिए उन्हें एक "फ़ारसी-हिन्दी" कोश की आवश्यकता होगी। विधान सभा और शासन का काम ठीक तरह से चलाने के लिये वित्त मंत्री को एक ऐसा बृहद् "फ़ारसी-हिन्दी" कोश तैयार कराकर मंत्रियों, मंत्रियों के सहायकों, सचिवों से लेकर सहायक सचिवों, विधायकों और राज्य के विभिन्न विधायकों को देना होगा। फ़ारसी कोश इसलिए आवश्यक होगा कि क्रियाओं, विभक्तियों और सर्वनामों तथा कुछ संज्ञाओं को छोड़कर इसमें अधिकांश फ़ारसी शब्द ही होते हैं। हिन्दी जानने वाले उन्हें तभी समझ सकेंगे जब उन्हें उनका अर्थ हिन्दी में बताया जाय। मैं थोड़ी उर्दू जानता हूँ किन्तु इन नमूनों के अनेक शब्द मुझे 'लुग़त' में देखने पड़े। एक नमूने में "ज़र्री और मुकल्लल" आया। "जर्री" के अर्थ तो मैंने लगा लिए पर "मुकल्लल" ने मुझे एकदम परास्त कर दिया। बड़ी कठिनाई से और प्रयास के बाद मालूम हुआ कि उसके अर्थ "जड़ाऊ" (जिसमें नग या रत्न जड़े हों) है। 'जड़ाऊ गहने' साधारण लोग समझ लेते हैं। किन्तु 'जड़ाऊ' "गँवारू" शब्द है। वह शाही ज़बान फ़ारसी में "फिट" नहीं बैठता, इसलिये "मुकल्लल" इस्तेमाल किया गया। स्कूली जीवन में मेरे उर्दू पढ़ने वाले साथियों ने उर्दू ली थी। उनकी उर्दू की किताब में एक बढ़िया शेर था, जिसे वे बहुधा सुनाया करते थे :—

पशशे, से साखे शेव-ए-मर्दानगी कोई
जब क़स्दे-ख़ूँ को आये तो पहले पुकार दे।

तब मेरी समझ में नहीं आता था कि शायर ने "मच्छर" ऐसे शब्द के लिए "पशशे" का क्यों उपयोग किया है। अब समझने लगा हूँ कि वही उर्दू है जिसमें इस देश के शब्द कम से कम उपयोग में लाये जायें और विदेशी भाषा फ़ारसी के अधिक से अधिक शब्द लाये जायें।

इस राज्य की जनता का ध्यान एक और बात की ओर दिलाना आवश्यक है। उर्दू हमें कितना अभारतीय बना देती है, उसका एक नमूना भी इन नमूनों

में है। पंडित बिरज नरायन 'चकबस्त' शायद क़ौम से "बिरहमन" थे और नाम से मालूम पड़ता है कि उनका मज़हब हिन्दू था। वे उर्दू के बहुत बड़े "क़ौमी शायर" थे। उन्होंने एक नज़्म भगवान रामचन्द्र जी पर भी लिखने की मेहर-बानी की। उसमें भगवान रामचन्द्र जी बनवास पर जाने के लिए अपने पिता महाराज दशरथ से विदा होकर अपनी माता के पास जा रहे हैं। पंडित जी ने उसे इस तरह अदा किया है—

"रुख़सत हुआ वह बाप से लेकर खुदा का नाम"

गद्य में इसका अन्वय होगा "वह (राम) बाप से खुदा का नाम लेकर रुख़सत (विदा) हुआ"। यहाँ आदरसूचक 'रुख़सत हुए' न कहकर कुली-कबाड़ी के लिए इस्तेमाल किया जाने वाला एकवचन का उपयोग किया गया है। यह हिन्दुओं के आराध्य के प्रति कितनी अशिष्टता और अवमानना है? दूसरी बात जो ध्यान देने की है वह "लेकर खुदा का नाम" है। हमारे भगवान रामचन्द्र जी के मुँह से "खुदा का नाम" निकलवाना शायर की शिष्टता और संस्कृति है।

लब लाल बदख्शाँ से लिये दुर्रे अदन से

यहाँ मध्यपूर्व की संस्कृति बोल रही है। जनाब चकबस्त को सीता जी के ओठों की उपमा बदख्शाँ के लाल (माणिक) और दाँतों की उपमा अदन के मोतियों (दुर) से देने की सूझी। उन्हें कोई भारतीय उपमा नहीं मिली। मिलती कैसे? उर्दू साहित्य, पढने वाले को मध्यपूर्व एशिया की संस्कृति सिखाता और उसमें दीक्षित कर देता है। वह भारतीयता से कट जाता है। यह ऐसा विषय है जिसे विस्तार से बाद में लिखा जायेगा। इस राज्य के नागरिक को हम मस्तिष्क और भावना से भारतीय बनाना चाहते हैं या मध्यपूर्व एशिया का निवासी?

किन्तु इस समय पाठक यह देखें कि जिस भाषा को हम पर थोपने का प्रयास किया जा रहा है, उसका स्वरूप क्या है और क्या वह हमारे और हमारी संतान की उन्नति में बाधक होगी या साधक?

कुछ प्रश्न

उर्दू को दूसरी राजभाषा बनाने के समर्थकों से मैं बड़ी विनम्रता के साथ कुछ प्रश्न करना चाहता हूँ। उत्तर देते समय यह याद रखिये कि यदि उर्दू को द्वितीय राजभाषा बना दिया गया तो (१) सरकारी कामकाज फ़ारसी लिपि में इसी उर्दू में करना होगा जिसके कुछ सामान्य उदाहरण दिये जा चुके हैं। अधिकारी तथा कर्मचारी आवश्यकता पड़ने पर इसी भाषा और लिपि को पढ़ने और लिखने और बोलने को बाध्य होंगे, (२) सरकारी सेवा में द्वितीय राजभाषा

उर्दू का उक्त स्तर का ज्ञान और कार्यकुशलता अनिवार्य कर दी जायगी, (३) राज्य की द्वितीय भाषा होने के कारण हाईस्कूलों और इंटर कॉलेजों में उक्त प्रकार की उर्दू का पढ़ना तथा फ़ारसी लिपि में उसका लिखना अनिवार्य कर दिया जायगा, (४) विधान मंडलों में जो सदस्य चाहेंगे वे उसी में बोल सकेंगे। उनके भाषण फ़ारसी लिपि में आशुलिपि में लिखे जायेंगे तथा विधान मंडलों की कार्यवाही में इसी लिपि में छापे जायेंगे। प्रश्न भी उसी उर्दू में किये जा सकेंगे और मंत्रियों को उनके उत्तर भी इसी भाषा में देने होंगे, (५) सरकार की सब विज्ञप्तियाँ, आदेश, रिपोर्टें, बजट, राज्यपाल का भाषण तथा अन्य सभी प्रकाशन इसी उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपि में भी प्रकाशित करने होंगे।

मेरा पहला प्रश्न मंत्रियों और विधायकों से है।

क्या आप उपर्युक्त स्तर की उर्दू में दिये गये भाषणों को ठीक तरह से समझ सकेंगे? यदि ठीक तरह से न समझ सके तो उनका उत्तर कैसे देंगे? उर्दू प्रश्नों का उत्तर उर्दू में ही देना होगा। क्या आप यह उर्दू बोल सकेंगे? यदि आप उर्दू भाषी विधायकों को अपनी बात समझाना चाहेंगे तो क्या आप उसे ऐसी उर्दू में कह सकेंगे जिसे वे बोलते या समझते हैं? अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ की तरह आप ऐसा प्रबन्ध करेंगे कि आप जो कुछ हिन्दी में कहें वह आपके कहने के साथ ही अनुवादित होकर उर्दू भाषी विधायकों को उर्दू में सुनाई पड़े? क्या आपके पास ऐसे साधन और ऐसे आशु अनुवादक हैं जिनका इस उर्दू और हिन्दी पर समान अधिकार हो? अध्यक्ष को भी कभी-कभी ऐसी भाषा में ही बोलना होगा और उनके व्यवस्था आदि देने के लिए ऐसा ही तात्कालिक अनुवाद का प्रबन्ध करना होगा। क्या यह सब हो सकेगा?

मेरा दूसरा प्रश्न उत्तर-प्रदेश के ८५-८६ प्रतिशत हिन्दीभाषियों, बुद्धिजीवियों और उनके राजनीतिक प्रतिनिधियों से है। क्या आप अपने बच्चों को यह अतिरिक्त भाषा पढ़ाने को और फ़ारसी लिपि सिखाने को तैयार हैं? इस उर्दू और फ़ारसी लिपि को सीखने तथा इसमें परीक्षा देने के लिए उन्हें कितना परिश्रम करना होगा, इसका आपको अनुमान है? क्या वे वर्तमान विषयों के अतिरिक्त इस भाषा के लिखने-पढ़ने का बोझ सहन कर सकेंगे?

तीसरा प्रश्न उत्तर प्रदेश के विद्यार्थियों से है। क्या आप लोग इस भाषा को, जिसके नमूने दिये गये हैं, पढ़ने और फ़ारसी लिपि को शुद्ध रूप से लिखने की कुशलता प्राप्त करने को तैयार हैं? यदि उर्दू द्वितीय राजभाषा बना दी गयी तो आपको इसे पढ़ना ही होगा क्योंकि राज्य से मान्य भाषा का दर्जा पाने पर स्कूलों में इसका पढ़ाना सरकार राजभाषा हिन्दी की तरह अनिवार्य कर देगी।

जो युवक सरकारी नौकरी करना चाहेंगे उन्हें इस उर्दू और फ़ारसी लिपि के पर्याप्त ज्ञान के बिना नौकरी न मिलेगी ।

मेरा चौथा प्रश्न सरकार से है । वह यह कि दो प्रतिशत से भी कम लोगों द्वारा प्रयुक्त भाषा को द्वितीय भाषा बनाने से इस गरीब और करों (टैक्सों) के भार से परेशान राज्य का कितना व्यय बढ़ जायगा ? राज्य में सचिवालय से लेकर जिलों के जिन अधिकारियों को आशुलिपिक (स्टेनोग्राफर) दिये जाते हैं, उर्दू के आशुलिपिक देने होंगे । इनकी कितनी संख्या होगी ? राज्य के लिए कितने उर्दू टाइपराइटर खरीदे जायेंगे और कितने टाइपिस्ट रखे जायेंगे ? इनके लिए कितना अतिरिक्त कागज़, मेज़, कुर्सियाँ, कार्बन पेपर, रिबन आदि की आवश्यकता होगी ? सचिवालय के विभिन्न विभागों में हिन्दी के आदेशों, ज्ञापों, विज्ञप्तियों, रिपोर्टों आदि का हिन्दी से उर्दू में, और उर्दू से हिन्दी में अनुवाद करने के लिए कितने अनुवादक रखे जायेंगे ? भाषा विभाग में उर्दू विभाग खोलकर उसका कितना विस्तार करना होगा ? बजट आदि को उर्दू में भी पेश करना होगा । सभी या अधिकांश सरकारी आदेश आदि उर्दू में भी छपाने होंगे । इस समय गवर्नमेंट प्रेस की उर्दू में इतना काम करने की क्षमता नहीं है । गवर्नमेंट प्रेस में एक नया उतना ही बड़ा उर्दू विभाग खोलना होगा जितना बड़ा हिन्दी का विभाग है । गवर्नमेंट प्रेस के इस विस्तार में कितना व्यय होगा ?

इसमें, तथा उर्दू को द्वितीय भाषा बनाने के परिणामस्वरूप जो नयी नियुक्तियाँ करनी होंगी या जो सामान खरीदना होगा, उसका आवर्तक (रिकरिंग) और अनावर्तक (नॉन–रेकरिंग) व्यय कितने करोड़ वार्षिक और एकमुश्त होगा ? आपको आज ही विकास योजनाओं पर व्यय के लिये धन जुटाने में परेशानी हो रही है । कर-भार अभी ही इतना अधिक है कि जनता उससे पिसी जा रही है । आप आज के व्यय को ही पूरा नहीं कर पाते । आपको कितना अधिक ओवर ड्राफ्ट लेना पड़ रहा है ? प्रतिवर्ष आप जनता से कितने करोड़ का ऋण लेते हैं और उसका ब्याज जनता के करों से दिया जाता है ? उर्दू को द्वितीय भाषा बनाने पर जो करोड़ों रुपयों का आवर्तक व्यय बढ़ जायगा, उसे पूरा करने का क्या आप ऐसा प्रबन्ध कर सकेंगे कि करों और महंगाई से त्रस्त इस राज्य की जनता पर बोझ न पड़े ? क्या आप में उर्दू की माँग करने वालों पर इस अपव्यय के लिए "उर्दू सेस" लगाने का साहस है? क्या आपने उत्तर प्रदेश की ९५ प्रतिशत जनता में अलोकप्रिय इस कदम को उठाने के पहिले इसके राजनीतिक, भावनात्मक, प्रशासनिक तथा आर्थिक परिणामों पर ठंडे दिल से विचार किया ?

उर्दू के प्रति हिन्दी वालों का दृष्टिकोण—

हिन्दी वालों का उर्दू के सम्बन्ध में क्या दृष्टिकोण है, उसे संक्षिप्त में बता देना आवश्यक है।

(१) राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन उर्दू को हिन्दी की एक शैली मानते थे। भाषा की दृष्टि से उर्दू हिन्दी का ही एक रूप है। यद्यपि सविधान ने उसे स्वतंत्र भाषा माना है तथापि अधिकाँश हिन्दी वाले उसे अब भी हिन्दी की एक शैली ही मानते हैं। मैं भी उनमें से एक हूँ। दोनों की क्रियायें, विभक्तियाँ, ढांचा मूलतः एक है। किन्तु संविधान के कारण हम उसे स्वतंत्र भाषा मानने को वाध्य हैं।

(२) हिन्दी वाले उर्दू को अपनी एक शैली समझने के कारण उसके सरल और हिन्दी की प्रकृति में आ जाने वाले शब्दों को बिना किसी संकोच के बराबर इस्तेमाल करते रहे हैं। सूर और तुलसी तक ने करार, जहर, गरीबनिवाज, निमकहरामी, गुलाम ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है। आज भी सामान्य लेखक उर्दू शब्दों का बहिष्कार नहीं करते।

हिन्दी वाले उर्दू के प्रति सद्‌भावना रखते हैं। हिन्दी पत्र–पत्रिकाओं में उर्दू की कहानियां, ग़ज़लें आदि बराबर छपती हैं।

(४) किन्तु हिन्दी और उर्दू के लेखकों और साहित्य में जो भेद है उसके कारण दोनों शैलियां एक दूसरे से दूर होती जा रही हैं। वे भेद यह हैं—

(क) हिन्दी साहित्य ने सदैव भारत या हिन्दोस्तान की बात कही, सोची, और प्रचारित की। उसकी दृष्टि सदैव अखिल भारतीय रही। उसने अपने साहित्य में भारतीय पशु–पक्षियों, नदियों, प्राचीन भारतीय महापुरुषों, वीरों और वीराँगनाओं का उपयोग किया।

उसका सौंदर्यबोध भारतीय है। उसकी उपमाएँ, उसके अलंकार, उसके विचार भारतीय हैं। वह सदैव अखिल भारतीय एकता का प्रचार करती रही है। उसके साहित्य में संकीर्णता नहीं है। वह सभी क्षेत्रों और वर्गों जैसे सिक्ख, मुसलमान, ईसाई, सभी के प्रति आदर के भाव दिखलाती रही है।

इसके विपरीत उर्दू का दृष्टिकोण भारत के प्रति उदासीन है। वह मध्यपूर्व की संस्कृति, विचारों, वहाँ के पशु–पक्षियों, वीरों (हीरो) का गुणगान करती है। वह भारतीय संस्कृति, इतिहास और विचारों की उपेक्षा करती है और मध्यपूर्व

की संस्कृति और इतिहास का, जो अभारतीय है, प्रचार करती है। यहाँ केवल संकेतमात्र दिया गया है। इस विषय पर विस्तार से एक लेख अलग लिखा जायेगा।

(ख) संविधान में हिन्दी की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को स्पष्ट कर सरकार का कर्त्तव्य इस प्रकार निश्चित किया गया है "हिन्दी की वृद्धि करना, इसका विकास करना ताकि वह भारत की सामाजिक संस्कृति के सब तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके।" हिन्दी यह काम अपने जन्म से बराबर करती रही है और हिन्दी वाले अब इस कार्य में और सचेत हो गये हैं।

इसके विपरीत उर्दू भारत की सामासिक संस्कृति (इण्टिग्रेटेड कल्चर) की कौन कहे, केवल मध्यपूर्व की संस्कृति का प्रचार करती है। वह अब तक भारत की सामासिक संस्कृति की अभिव्यक्ति करने में एकदम असमर्थ रही है। वह भारत की सामासिक संस्कृति की अभिव्यक्ति न करके केवल मध्य-पूर्व और अरब की संस्कृति की अभिव्यक्ति करती है।

(ग) संविधान में हिन्दी के लिये लिखा है—"इसकी (हिन्दी की) आत्मीयता (प्रकृति) में हस्तक्षेप किये बिना हिन्दुस्तानी और अष्टम अनुसूची में दी गयी भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात करते हुये तथा जहाँ आवश्यक हो वहाँ उसके शब्द-भण्डार के लिए मुख्यत: संस्कृत से तथा गौणत: अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुये उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना।"

इसके विपरीत उर्दू में उसका शब्द-भंडार भारतीय भाषाओं से समृद्धि न करके अभारतीय अरबी और फ़ारसी शब्दों की भरमार से किया जाता है। सामान्य चलते हुए हिन्दी शब्दों के स्थान पर फ़ारसी या अरबी शब्दों का प्रयोग करना उसमें गौरव की बात समझी जाती है (जैसे मच्छर ऐसे चलते शब्द के लिए सामान्य कविता में फ़ारसी का 'पश्शा' लिखना)। इस कारण वह दिनोंदिन अधिकाधिक अभारतीय और कठिन होती जा रही है।

(घ) उसकी लिपि अभारतीय है। उसमें शुद्ध रूप से इस देश की भाषाओं के शब्द नहीं लिखे जा सकते हैं। ऐसा सामान्य नाम जैसे "राम प्रसाद" भी "राम परसाद" ही लिखा जाता है। वह लिपि अभारतीय तो है ही वह अनेक भारतीय शब्दों को ठीक तरह से लिखने में भी असमर्थ है। भारत की सामासिक एकता के लिए इस शती के आरम्भ से ही जस्टिस शारदाचरण मित्र ने सब

भारतीय भाषाओं को देवनागरीलिपि में लिखने का आन्दोलन चलाया था और 'देवनागर' नामक मासिक पत्र निकाला थाजिसमें सभी भारतीय भाषाओं के लेख देवनागरी में शुद्धतापूर्वक छापे जाते थे। आचार्य विनोबा भावे भी उसी का प्रचार अभी तक कर रहे थे। किन्तु उर्दू वाले अभारतीय फ़ारसीलिपि—जो इस देश की भाषाओं के लिये अनुपयुक्त है—छोड़ने को तैयार नहीं। क्योंकि न तो वे भारतीय भाषाओं के शब्द लेना चाहते हैं और न अरबी, फ़ारसी से अधिकाधिक शब्द लेना बंद करना चाहते हैं।

अतएव उर्दू हिन्दी की एक शैली होते हुए भी उर्दू वाले उसे लिपि और शब्दावली में मध्य-पूर्व की संस्कृति की वाहिका और विदेशी अवैज्ञानिक लिपि का प्रयोग कर, उसे अभारतीय बनाने का आग्रह कर, इसे न तो भारतीय बनने देते हैं और न इसे भारत की सामासिक संस्कृति के प्रचार का माध्यम ही।

हिन्दी वाले फिर भी उर्दू का विरोध नहीं करते। आज तक हिन्दी के किसी विद्वान ने मुंशी रघुपति सहाय 'फिराक' गोरखपुरी (जो मेरे अभिन्न मित्र थे) की तरह "मैं हिन्दी का दुश्मन हूँ" लेख नहीं लिखा, और न लिख सकता है। न वे उर्दू वालों की तरह, जो भारतीय भाषाओं को अछूत समझते हैं, उर्दू शब्दों का प्रयोग करने में संकोच ही करते हैं। वे उर्दू कविताएँ आदि देवनागरी में छापते रहते हैं। वह उर्दू के विरोधी नहीं, केवल उसको द्वितीय राजभाषा बनाने का विरोध करते हैं जिसके कुछ कारण ऊपर दिये गये हैं। वे उर्दू की उन्नति चाहते हैं। उसे हिन्दी की एक शैली समझने के कारण वे उसका विरोध कैसे कर सकते हैं ? उसमें फ़ारसी के शब्द भी हों, इसके भी हम विरोधी नहीं। हम इसे शैली की विशेषता मानते हैं। किन्तु दाल में निमक डाला जाता है, निमक में दाल नहीं डाली जाती। उर्दू में फ़ारसी रुपी निमक नहीं डाला जा रहा है बल्कि फ़ारसी रुपी निमक में उर्दू की दाल डाली जाती है। इसी कारण वह हमें नहीं रुचती। सरल उर्दू का हम सदा स्वागत करते हैं और करते रहेंगे। किन्तु मध्य-पूर्व की संस्कृति से ओत-प्रोत एवं अनावश्यक उसे फ़ारसी तथा अरबी के निकट लाने वाली 'तथाकथित' भारतीय मुसलमानों की "छोटी फ़ारसी" हमें नहीं पसन्द है, वह कभी भारतीय जनता में लोकप्रिय नहीं हो सकती।

—खुर्शेदगंज, लखनऊ

महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनका पत्र-साहित्य

—डॉ० कमल पुंजाणी

महर्षि दयानन्द सरस्वती आधुनिक युग की महान् विभूति थे। जगद्गुरु शंकराचार्य के पश्चात् भारत ने ऐसे प्रखर तेजपुंज को प्राप्त कर वैदिक धर्म और आर्य संस्कृति की रक्षा की। स्वामी जी ने समाज में घुस आई कुरीतियों और अंध-परम्पराओं पर कठोर प्रहार किया तथा वैदिक संस्कृति पर आधारित जीवन की स्थापना की।

भारतीय पुनर्जागिरण के आन्दोलन में धार्मिक-सामाजिक क्षेत्रों का नेतृत्व धारण करने के कारण महर्षि दयानन्द सरस्वती को देश के विशाल जन-समुदाय के सम्पर्क में आना पड़ा। विभिन्न शहरों में आर्य-समाज की स्थापना के बाद उनका लोक-सम्पर्क और अधिक बढ़ गया था। परिणामस्वरूप आर्य-समाज के मंत्रियों, पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों, देशी राजाओं तथा प्रजा के विभिन्न वर्गों से उनका पत्र-व्यवहार भी उत्तरोत्तर बढ़ता गया। इसी विस्तृत पत्र-व्यवहार का एक अंश, उनके देहावसान के पश्चात्, महात्मा मुंशीराम के सम्पादकत्व में "ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार, भाग-१" शीर्षक से प्रकाशित हुआ।

"ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार, भाग-१" के प्रकाशन के बाद 'ऋषि के लिखे एक-एक पत्र-शब्द का सुरक्षित रखना आवश्यक है' इस शुभ संकल्प के साथ पं० भगवद्दत्त जी ने अथक् परिश्रम से खोज-खोज कर स्वामी जी के पत्रों का एक स्वतन्त्र संकलन "ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, भाग-१" शीर्षक से प्रकाशित कराया।

पं० भगवद्दत्त द्वारा सम्पादित "ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन" के चारों भागों के प्रकाशन के पश्चात् गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी से पं० चमूपति के सम्पादकत्व में "ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार, भाग-२" शीर्षक पत्र-संग्रह प्रकाशित हुआ।

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित बृहद् ग्रन्थ में स्वामी जी के सन् १९५५ तक प्रकाशित प्रायः सभी पत्र संकलित हैं। इसमें स्व० महात्मा मुंशीराम तथा पं० चमूपति द्वारा सम्पादित क्रमशः "ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार, भाग १ और २" के पत्र भी समाविष्ट हैं। इसमें पत्रों के साथ पाद-टिप्पणियों में सन्दर्भ भी दिये गये हैं। इस ग्रन्थ की भूमिका तथा प्रकाशकीय वक्तव्य में स्वामी जी के पत्र-व्यवहार पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। साथ ही जिनके नाम पत्र भेजे गये हैं, उनकी सूची भी दी गई है। इसमें स्वामी जी के जीवन-चरित्र में दी गई तिथियों तथा घटनाओं को पत्रों में निर्दिष्ट तिथियों और घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में देखने-परखने का प्रयास भी किया गया है। इसके अतिरिक्त स्वामी जी के ग्रन्थों के लेखकों—पं० भीमसेन, पं० ज्वालादत्त आदि के विषय में स्वामी जी की सम्मतियाँ भी उसमें प्रकाशित हैं। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ स्वामी जी के विशद् व्यक्तित्व का प्रकाशस्तम्भ है।

स्वामी जी के ग्रन्थों को पढ़कर उनकी विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता, वेदनिष्ठा, त्याग, तपस्या आदि का विशद् परिचय मिल जाता है, किन्तु उनके चरित्र के कुछ पहलू ऐसे भी हैं जिन्हें हम उनके पत्रों के द्वारा ही जान सकते है। यहाँ कुछ ऐसे ही पहलुओं पर प्रकाश डाला जा रहा है—

(१) निर्भीकता और स्पष्टवादिता—

निर्भीकता और स्पष्टवादिता स्वामी जी के स्वभाव की महत्वपूर्ण विशेषताएँ थीं। सच्ची बात कहने में वे किसी से नहीं डरते थे। लाला कालीचरणदास द्वारा आर्यसमाज के एक अखबार में नाटक का विषय छापने की बात को अनुचित ठहराते हुए, उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा था—

> "लाला कालीचरणदास जी, आनन्दित रहो।
>
> विदित हो कि तुम आर्य समाज के पत्र में नाटक का विषय मत छापो। यह अनुचित बात है। यह आर्यसमाज है, भडुआसमाज नहीं।..."
>
> (ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन (१९५५) पृ० ७९)

(२) व्यवहारकुशलता—

स्वामी जी के ग्रन्थों को पढ़ने से यही जाना जाता है वे वेद-शास्त्रों के उद्भट विद्वान्, त्यागी, तपस्वी और निरीह संन्यासी थे। परन्तु जब हम उनके पत्र पढ़ते हैं तो यह भी ज्ञात होता है कि वे एक कुशल व्यवस्थापक और प्रबन्धक भी थे। पाई-पाई पर उनका ध्यान रहता था। हिसाब-किताब सम्बन्धी रसीदें लेने, प्राप्तिकर्त्ता से नियमानुसार हस्ताक्षर कराने, अच्छे-बुरे कर्मचारी को

परखने आदि की भी उन्हें खूब जानकारी थी । यथा—

"स्वामी ईश्वरानन्द जी, आनन्दित रहो ।

(१) सब यन्त्रालय के पदार्थ और नौकरों पर दृष्टि रखना कि नियमानुसार सब काम होते हैं या नहीं; (२) जब कभी जिसका भी व्यतिक्रम देखें तो जो शिक्षा देने से सुधर सकता हो उसे वहीं सुधार देना, न माने तो हमको लिखना ।...."

(ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार, भाग १; पृ० १७-१८)

इससे स्पष्ट है कि स्वामी जी में व्यावहारिक बुद्धि भी अच्छी थी ।

(३) स्वदेश-भक्ति—

स्वामी जी सच्चे देशभक्त थे । देश के गौरव और ज्ञान की उनको सतत् चिन्ता रहा करती थी । उन्होंने अपने शिष्य प्रसिद्ध क्रांतिकारी विद्वान् श्यामजी कृष्ण वर्मा को विदेश भेजते समय जो सूचनायें दी थीं, उनमें उनकी स्वदेश-भक्ति स्पष्टरूपेण झलकती है । देखिए—

"......अब आपको उचित है कि जब वहाँ जावें, जो आपने अध्ययन किया है, उसी में वार्तालाप करें और कह देवें कि मैं कुल वेद-शास्त्र नहीं पढ़ा, किन्तु मैं तो आर्यावर्त्त देश का छोटा विद्यार्थी हूँ और कोई बात या काम ऐसा न हो कि जिससे अपने देश का ह्रास होवे......"

(ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ० ९२)

यह पत्र स्वामी जी के स्वदेश-प्रेम का ज्वलन्त प्रमाण है ।

(४) हिन्दी के प्रति अनुराग और उसके प्रचार में योगदान—

स्वामी जी की मातृभाषा गुजराती थी । संस्कृत पर उनका असाधारण प्रभुत्व था । परन्तु हिन्दी के प्रति उनके मन में असीम अनुराग था । हिन्दी की सम्पर्कक्षमता देखकर उन्होंने उसे 'आर्यभाषा' की गरिमायुक्त संज्ञा प्रदान की थी। लाहौर के आर्यसमाज के मन्त्री भाई जवाहरसिंह ने उनको टूटी-फूटी हिन्दी में एक लम्बी चिट्ठी लिखी थी, जिसके उत्तर में स्वामी जी ने उनको प्रोत्साहित करते हुए लिखा था—

"...जो तुमने इतनी बड़ी चिट्ठी आर्यभाषा में लिखी, यही हमने तुम्हारी शुद्धि जानी ।"

(ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार, भाग १, पृ० १२५)

स्वामी जी अपना बहुत-सा पत्र-व्यवहार दूसरों को बोलकर लिखवाते या लिखने को कह दिया करते थे । अतः उनके पत्रों में भाषायीय अशुद्धियाँ प्रायः

लेखक के प्रमाद का परिणाम ही हैं। यद्यपि गुजराती और संस्कृत पर उनकी जितनी पकड़ थी, उतनी हिन्दी पर शायद नहीं थी, तथापि हिन्दी के प्रति अनुरक्ति के कारण वे अपने विचार उसमें अच्छी तरह व्यक्त कर सकते थे। उन्होंने हिन्दी को राजभाषा का स्थान दिलाने के लिए सरकार द्वारा नियुक्त हंटर कमीशन के पास, हिन्दी के पक्ष में, स्थान-स्थान से स्मरणपत्र भिजवाये थे। इस सम्बन्ध में लाला कालीचरण को प्रेषित १४ अगस्त १८८२ के पत्र का निम्नांकित अंश—

"......आप लोग भी जहाँ तक हो सके, गोरक्षार्थ और आर्य-भाषा के राजकार्य में प्रवृत्त होने के अर्थ शीघ्र प्रयत्न कीजिए।"
(ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ० ३५४)

इससे स्पष्ट है कि हिन्दी की उन्नति और प्रचार-प्रसार में स्वामी जी का योगदान महत्वपूर्ण है। इस सन्दर्भ में डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के इस कथन का स्मरण हो जाता है कि—"हिन्दी भाषा के प्रचार और प्रसार में आर्यसमाज का योगदान सर्वविदित है। आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आज से एक शताब्दी पूर्व अपना लेखन हिन्दीभाषा में प्रारम्भ किया था। स्वामी जी हिन्दीभाषा को आर्यभाषा कहकर पुकारते थे।" (द्विवेदीयुगीन काव्य पर आयसमाज का प्रभाव (१९७३), भूमिका)

(५) दृष्टिकोण—

स्वामी जी को वेदों के प्रति अपार आस्था थी। वे भारतीय समाज की समस्त विकृतियों को हटाकर उसे वैदिक धर्म के अनुसार ढालना चाहते थे। "वेदों की ओर लौट चलो' उनका मुख्य नारा था। 'भारतमित्र' के सम्पादक के पास भेजे गये पत्र में उन्होंने वेद-विषयक अपनी सम्मति प्रकट करते हुए लिखा था—

"......मैं ईश्वर नहीं, किन्तु ईश्वर का उपासक हूँ। वेद मनुष्यों के हितार्थ परमात्मा ने प्रकाशित किये हैं। इस अभिप्राय से कि यहाँ तक मनुष्य की विद्या और बुद्धि पहुँच सकेगी और इतने तक कार्य मनुष्य कर सकेंगे। इसलिए यावत् मेरी बुद्धि और विद्या है, तावत् निष्पक्षपात होकर वेदों का अर्थ प्रकाशित करता हूँ।" (ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार, भाग-१, पृ०-६८)

इससे स्पष्ट है कि स्वामी जी की विचारधारा वैदिक धर्म के अनुकूल थी। वे वैदिक संस्कृति के अनुसार भारतीय समाज का निर्माण करना चाहते थे।

१।११।२ आर. टी. जाडेजा एस्टेट
गुरुद्वारा के निकट
जामनगर (गुजरात) ३६१००१

सिन्धु-संस्कृति के निर्माता

डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा

भारतीय इतिहास पर पूर्ण प्रकाश पड़ने से हज़ारों वर्ष पहले मानव सभ्य जीवन और व्यवस्थित समाज के लिये प्रयास कर रहा था। पाषाण-युग में उसकी चेष्टायें सफल हुयी थीं किन्तु जब उसे धातु-ज्ञान हुआ तो उसके जीवन में क्रान्ति उत्पन्न हो गयी। अब पत्थर से आगे बढ़कर उसने धातु का प्रयोग भी आरम्भ कर दिया। ताम्रयुग की मुख्य धातु सोना और ताँबा थी। ताँबे के साथ-साथ बहुधा टिन भी प्राप्त होता था। इन दोनों धातुओं को मिलाकर काँसा बनाया गया। यह ताँबे की अपेक्षा अधिक कठोर था। ताम्र-युगीन लोगों ने धातु को गलाना सीख लिया था। पत्थर, मिट्टी और लकड़ी के सांचे में तरल धातु को भरकर हथियार तथा अन्य उपकरण बनाये जाने लगे थे।

भारतीय इतिहास में सभ्य और समृद्ध जीवन का प्रथम उदाहरण सिन्धु-घाटी में मिला। यह एक नवीन खोज थी जिसके लिये प्रथम श्रेय रायबहादुर दयाराम साहनी और विद्वान राखलदास बनर्जी को दिया जा सकता है। बाद में सर जॉन मार्शल की अध्यक्षता में इस क्षेत्र में विधिवत् उत्खनन किया गया जिसके फलस्वरूप कई महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुयीं। विद्वान् पानिक्कर[1] के अनुसार यह संस्कृति आर्यों से पहले की है। अधिकाँश विद्वान् भी ऐसा ही मानते हैं, किन्तु कुछ विद्वान् इसे आर्यों की ही देन मानते हैं। निर्णायक उत्तर के लिये अभी और अनुसंधान की आवश्यकता है। इस संस्कृति का समय लगभग ३००० ईसा पूर्व माना गया है। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि इस नई खोज ने भारतीय संस्कृति को संसार की अन्य प्राचीनतम संस्कृतियों के बराबर में खड़ा कर दिया है।

यह प्रश्न सहज रूप से ही उठता है कि इस संस्कृति के निर्माता कौन थे ? इस सम्बन्ध में निम्न चार मतों का प्रतिपादन हुआ है—

क. सिन्धु-संस्कृति के निर्माता आर्य थे।
ख. सिन्धु-संस्कृति के निर्माता सुमेरियन थे।

---

1. A Survey of Indian History, pp. 3–4

ग. सिन्धु-संस्कृति के निर्माता द्रविण थे।

घ. सिन्धु-संस्कृति के निर्माण में अनेक जातियों का योग था।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में मनुष्यों के अस्थि-पिंजर भी मिले हैं। इनके अध्ययन से प्रगट होता है कि इस संस्कृति के निर्माण में अनेक जातियों का योग था। डॉ० गुहा के अनुसार, इन नगरों से प्राप्त अस्थि-पिंजर चार भागों में विभक्त किये जा सकते हैं—प्रोटो आस्ट्रेलायड, भूमध्यसागरीय, अल्पाइन और मेगोलियन। सबसे अधिक संख्या भूमध्यसागरीय नस्ल की थी। अत: परिणाम निकाला जाता है कि इसी नस्ल के लोगों ने सिन्धु-संस्कृति का निर्माण किया। भारत के द्रविण भी इसी नस्ल की एक शाखा थे। आज तो द्रविण लोग केवल दक्षिण भारत में ही निवास करते हैं, किन्तु शायद पहले उत्तरी भारत में भी ये लोग बसे हुए थे। बिलोचिस्तान के एक भाग में आज भी 'ब्राहुई' भाषा बोली जाती है। यह भाषा द्रविण वंश की है। इससे द्राविणों की सत्ता दक्षिण से बाहर भी सूचित होती है। हो सकता है कि किसी आक्रमण के कारण ही द्राविणों को उत्तरी भारत से भाग कर दक्षिणी भारत जाना पड़ा हो। कुछ विद्वानों का कहना है कि बिलोचिस्तान में ब्राहुई भाषा द्रविणों के पश्चिमी देशों के साथ केवल व्यापार को सूचित करती है। इस प्रसंग में एक बात और भी महत्त्वपूर्ण है कि अस्थियों और प्रतिमा-मस्तकों के वैज्ञानिक अध्ययन के परिणाम पर बहुत सतर्कता से विचार करना चाहिये। कलाकार कोई वैज्ञानिक नहीं थे और इन मस्तकों की संख्या भी इतनी कम है कि इससे अकाट्य निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है।

आर्यों का पक्ष अभी तक सबल नहीं बन पाया है। एक बड़ा अन्तर तो दोनों में यह है कि सिन्धु संस्कृति नागरीय है और वैदिक संस्कृति ग्रामीण है। स्वामी शंकरानन्द जैसे विद्वानों ने बड़ी योग्यता के साथ आर्यों के पक्ष का प्रतिपादन किया है। लेकिन यदि यह मान लिया जाय कि सिन्धु संस्कृति का निर्माण आर्यों ने किया है, तो ऋग्वेद की तिथि सुदूर अतीत में हट जाती है। वर्तमान जानकारी जहाँ तक है, उसके संदर्भ में इसे स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है।

कुछ विद्वान् सुमेरियनों तथा सिन्धु-संस्कृति की समानतायें प्रस्तुत करते हैं तथा यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इस संस्कृति के निर्माता सुमेरियन ही थे। किन्तु समानताओं के आधार पर दूसरी बात भी कही जा सकती है। अगर यह कहा जाये कि सुमेरियन संस्कृति का निर्माण सैन्धवयुगियों ने किया तो उपर्युक्त तर्क के आधार पर इसे भी मानना चाहिये। ये युक्तियाँ फिर भी दुर्बल ही हैं।

जहाँ तक सिन्धु-संस्कृति में अनेक जातियों के योग का प्रश्न है, उससे हटा नहीं जा सकता। यह क्षेत्र प्राचीन काल में अनेक संस्कृतियों का मिलन-स्थल रहा है। प्राचीन सभ्य-संसार में लेन-देन दोनों प्रचलित रहे। अगर अतीत काल में भारत ने संसार को कुछ दिया है तो निश्चय के साथ लिया भी है। हाँ, हमारी यह प्रतिभा अवश्य रही है कि बाह्य प्रभावों को लेकर हमने उनका भारतीयकरण कर दिया है। डॉ० संकालिया[2] ने लिखा है कि अगर हमें सिन्धु सभ्यता के नाश के कारणों का ठीक पता नहीं है तो हम इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी नहीं जानते हैं।

आचार्य एवं अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय संस्कृति, इतिहास तथा
पुरातत्त्व विभाग।
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

---

२. इण्डियन आरकेलॉजी टु-डे, पृ० ७१

वैदिक युग में प्रजातंत्र

डॉ० जबरसिंह सेंगर

वैदिक युग में राजतंत्र होते हुए भी राजा का स्वरूप प्रजातांत्रिक था। राजा की शक्ति अपनी न होकर प्रजा की शक्ति थी। प्रजा की कृपा पर राजा का अस्तित्व दिखाई देता था। प्रजा की कृपा उसके कार्यों, त्याग, देश-सेवा, वीरता एवं देश–भक्ति पर निर्भर रहती थी। राजा का चयन प्रजा खूब परख कर करती थी। उसको पुरोहित खूब उपदेश देता था। उसको अधिकार एवं कर्त्तव्यों का ज्ञान कराता था। उससे प्रजा के प्रति एवं राष्ट्र के प्रति वफादार रहने की प्रतिज्ञाएँ करवाता था। इससे भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि राजा को राज्य प्रजा सौंपती थी। राज्य सौंपते समय उसको कर्त्तव्यों का ज्ञान कराया जाता था। प्रजा भी राज्य को एक योग्य राजा के हाथों में तभी सौंपती थी, जब वह राजा को अच्छी तरह परख लेती थी। नीचे लिखें उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि यदि वंशानुक्रम राजा बनता होता तो उसे प्रजा से राज्य माँगने की क्या आवश्यकता थी? भले ही परम्परा रही हो कि राजा का पुत्र यदि इस योग्य पाया गया हो,तो उसे प्रजा ने राजा चुन लिया हो। राजा एवं प्रजा में राष्ट्र-हित के लिए काफी निकटता एवं पारस्परिक विश्वास था।

'राजा राज-संस्था से बाहर नहीं,अपितु वह भी एक अंग के रूप में है'— यह एक भारत का प्राचीन विश्वास है। जब राजा का अभिषेक होता था तो वह निम्न मंत्र पढ़ता था—

पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमंसौ, ग्रीवाश्च श्रोणी।
ऊरु, अरत्नी जानुनी, विशोमेंगानिसर्वतः॥

(यजुर्वेद—२०।८)

अर्थात् राजा कोई पृथक् वस्तु नहीं है। राजा का शरीर राष्ट्र और प्रजाओं से मिलकर बना है। राष्ट्र उसकी पृष्ठवंश है तथा नाना प्रकार की प्रजायें उसके नाना अंग हैं।

इससे स्पष्ट है कि राजा को यह आभास कराया जाता था कि राष्ट्र और प्रजा उसका शरीर है। यदि उनको कोई कष्ट या दुःख होगा तो राजा यह न समझे कि कष्ट किसी और को हो रहा है—अपितु यह कष्ट राजा को ही हो रहा है। दोनों—प्रजा एवं राजा के स्वार्थ समान ही थे। प्रजा एवं राजा का सम्बन्ध दामन-चोली जैसा था। राजा यह भी समझता था कि वह प्रजा का वैतनिक भृत्य है और उसका कर्तव्य है कि उस वृत्ति के बदले में प्रजा की सर्वप्रकार से रक्षा करे। अभिषेक के समय राजा निम्न वाक्य कहता था—**"योगंक्षेमं व आदाय अहं भूयासमुत्तमः** – (ऋग्वेद १०।१६६।५), अर्थात् हे प्रजा-जनो ! तुम्हारा अन्न खाता हूं, मैं अपने काम को श्रेष्ठता से निभा सकूं। राजा का योगक्षेम प्रजा के हाथों में समझा जाता था, न कि प्रजा का योगक्षेम राजा के हाथों में।

राज्य के व्यक्तियों में से योग्य पुरुष को ही राजा चुना जाता था। राजा को राजकुल में उत्पन्न होने की कोई विशेष शर्त नहीं थी—यह उल्लेख हमें वेद के राज-प्रकरण में कई स्थान पर मिलते हैं। कालचक्र के साथ-साथ राजकुल के योग्य व्यवित को राजा चुनने की परम्परा प्रचलित हो गई। राजा अपनी इच्छा-नुसार उत्तराधिकारी नहीं चुन सकता था। प्रजा जिसे राजा बनाने की अनुमति देती थी, वही युवराज बन सकता था। राज्य के श्रेष्ठ पुरुष को ही राजा चुना जाता था।

ऋषभ मा समामानां सपत्नानां विषसहिम् ।
हन्तारं शत्रूणां कृवि विराजं गोपतिं गवाम् ।।

(ऋग्वेद १०।१६६)

जो राजा बनना चाहता था, वह पुरोहित से कहता था—"मैं समान देशीय पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुआ हूँ। विरोधियों के आक्रमण को सहने वाला हूँ तथा शत्रुओं को मार भगाने वाला हूँ। इसलिये मुझे आप राजा बनाकर मेरा अभिषेक कीजिए। इस उदाहरण से राजकुल में उत्पन्न व्यक्ति को राजा बनाने की बात की पुष्टि नहीं होती है। जो राज्य-भार उठाने के लिए उपयुक्त व्यक्ति होता था, उसे राजा चुनने की आज्ञा वेद भगवान देते हैं—

इमं देवा असपत्नं सुवध्व महते क्षत्राय, महते ज्येष्ठ्याय,
महते जान राज्याय इन्द्रस्येन्द्रियाय ।।
इमममुष्य पुत्रं अमुष्यै पुत्रं अस्यै विश एष बोऽमी राजा ।।

(यजु० ९।४०)

अर्थात् "जिसका विरोधी कोई न हो और सारा राष्ट्र जिसके पक्ष में हो— ऐसे पुरुष को बड़े भारी विस्तृत राज्य की अभिवृद्धि, कीर्ति और ऐश्वर्य बढ़ाने के लिये चुनो और सब लोग कहें कि अमुक पिता और अमुक माता के पुत्र को हम राजा बनाते हैं।" अतः उक्त गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को ही राजा चुना जाता था। वेद भगवान प्रजा को कहने का उपदेश देते हैं और प्रजा राजा को सम्बोधित कर कहती है—

नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्यै इयन्ते राङ्‌यन्ता सिपमानो ध्रुवोऽसि धरुणः।
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषायत्वा ॥

(यजु० ६।२२)

अर्थात् प्रजा के प्रधान पुरुष कहते हैं—"हे मातृभूमि तुझे नमस्कार है। हे मेरी प्यारी मातृभूमि तुझे नमस्कार है। हे राजन तू हमारी मातृभूमि का नियन्ता और धारण करने वाला है। तुमको हम इसकी कृषि को प्रफुलित करने के लिए, समस्त देशवासियों के कल्याण के लिए, उनकी सम्पत्ति की रक्षा के लिए और इनके पालन-पोषण के लिए राजा बनाते हैं।"

वार्त्र हत्याय शवसे पृतनाषाह्यायच।
इन्द्र त्वा वर्तयामसि ॥

(यजु० १८।६८)

अर्थात् "शत्रुओं से रक्षा के लिए तुझे राजा बनाते हैं।" इससे स्पष्ट है कि जो पुरुष देशरक्षा, प्रजा का हित-चिंतन, राष्ट्र की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने में सक्षम होता था, वही व्यक्ति राजा चुना जाता था। इसके बाद राजा प्रजा से बड़े ही विनम्र शब्दों में राज्य माँगता था—

सूर्यत्वर्चसस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रंमेदत्त स्वाहा।
सूर्यत्वर्चसस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मैदत्त।
मान्दास्थ राष्ट्रदा राष्ट्रंमे दत्त स्वाहा।
व्रजक्षितस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रंमे दत्त।
वाशास्थ राष्ट्रदा राष्ट्रंमे दत्त।
शविष्ठास्थ राष्ट्रदा राष्ट्रंमे दत्त।
शकरीस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रंमे दत्त।
जनभृतस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रंमे दत्त।
विश्वभृतस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रंमे दत्त।

मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्महिक्षत्रं क्षत्रियाय वन्वाना।
अनाधृष्टाः सीदत संहौजसौमहि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतोः ॥

(यजु० १०।४)

अर्थात "सूर्य के समान दीप्ति वाले विद्वान प्रजा-पुरुषो ! राष्ट्र को देना आपके अधिकार में है। आप मुझको राष्ट्र दीजिए। आप सारे मनुष्यों को आनन्द देने वाले हैं। आप गौ आदि पशुओं की रक्षा करने वाले हैं। आप बलशाली और प्रजा की रक्षा करने वाले हैं। आप समस्त जीवमात्र की रक्षा करने वाले हैं। आप स्वयमेव राज्य करने वाले हैं। आप मुझे राष्ट्र दीजिए।" इसके बाद प्रजा को संबोधित करके राजा का उम्मीदवार पुनः कहता है—"हे प्रजाओ ! आप वीर हैं। आप सबके प्रति माधुर्य प्रदर्शित करने वाली हो। आप मिलकर यह विशाल राष्ट्र मुझे दीजिए और शत्रुओं से निर्भय होकर अपने बल को बढ़ाते हुए राष्ट्र में निवास कीजिए।" इससे स्पष्ट है कि राज्य राजा का न होकर प्रजा का ही समझा जाता था। प्रजा राजा को राज्य देते समय निम्न शब्दों का प्रयोग करके कहती है—

सोमं राजा नमवसेग्निमन्वारभामहे। (यजु० ९।२६)

अर्थात "प्रजाओं के प्रति शांति से व्यवहार करने वाले और शत्रुओं के प्रति अग्नि के समान क्रोध दिखाने वाले वीर पुरुष को हम राष्ट्र की रक्षा के लिए राजा बनाते हैं।" आगे पुरोहित राजा को निम्न आशीर्वाद रूप में संदेश देता है—

आत्वागन् राष्ट्रं सहवर्चसो दिहि प्रांङ् विशांपतिरेकराट्त्व विराज।
सर्वास्त्वा राजन प्रदिशो ह्वयन्तु उपसद्योनमस्यौ भवेह ॥
(अथर्व० ३।४।१)

अर्थात् "हे राजन ! तुझे राष्ट्र दिया जाता है। तू प्रजा का पालक होकर सिंहासन पर विराजमान हो। सारी दिशाएँ अथवा सर्वदिशाओं के पुरुष तुझे राजा स्वीकार करें और तेरे पास आकर तुमको नमस्कार करें। सारी दिशाओं, प्रदिशाओं की प्रजायें तुझे राजा चुने। राष्ट्र का तू मुखिया है। राष्ट्र के शिखर पर विराजमान होकर हम सबको धन-धान्य से अलंकृत कर।"

एक अन्य स्थान पर पुरोहित राजा को आशीर्वाद के शब्दों से आशीर्वाद देते हुए कहता है—**युंचन्तु त्वा मरुतौ विश्ववेदसः।** (यजु० ९।८), अर्थात् "हे राजन सकल विद्याओं के जानने वाले विद्वान पुरुष तुझे राजपद पर नियुक्त करें।"

ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनः प्रतिमित्राः अवृषत।
इन्द्राग्नी विश्वेदेवास्ते विशिक्षेमपदी धरन् ॥
अथर्व० ३।३।५

अर्थात् "हे राजन ! प्रजा के सभी पुरुष और तुम्हारे सारे मित्र तुम्हें राजा स्वीकार करें। मेघ एवं अग्नि आदि दिव्य पदार्थ तेरी प्रजा का कल्याण करते रहें।" इससे स्पष्ट है कि राजा का चयन प्रजा करती थी और जब प्रजा राजा चुन लेती थी तो पुरोहित पुनः कहता था—

स राजा राज्य मनुमन्यतान् ।
इदं विशष्त्वा सर्वा वांछन्तु ।।

अथर्व ४।२।८

अर्थात् "हे राजन ! हम आपको यह राज्य देना मान चुके हैं। अतः आप इसे स्वीकार कीजिए। व्याघ्र के समान इस सिंहासन पर विराजमान हूजिए और सारी दिशाओं पर विजय पाइये, जिससे प्रजायें तुमको राज्य के लिए पसन्द करें।" राजा की नियुक्ति प्रजा की ओर से होती थी। व्यास भगवान कहते हैं कि— राष्ट्रस्येत त्कृत्यतं राज एवाभिषेषमम्। अर्थात् 'यह राष्ट्र का काम है कि वह राजा नियुक्त करके उसका राज्याभिषेक करे।' पुरोहित राजा को उपदेश देता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि राजा की नियुक्ति प्रजा की सम्मति से होती थी।

आत्वा हार्ष मन्तरेधि ध्रुवास्तिष्ठा विचाचलिः ।
विशस्त्वा सर्वा वाच्छन्तु मात्वद्राष्ट मधिप्रशत् ।।

ऋग्वे० १०।१७३।१

अर्थात् "हे राजन ! तू अविचिलित होकर सिंहासन पर विराजमान हो। तू अपने आपको ऐसा बना कि सारी प्रजायें तुझे पसंद करें तथा कोई ऐसा अवसर न आवे कि तेरा राष्ट्र तेरे हाथ से निकल जाये।"

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि ।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम ।।

यजु० १८।४८

अर्थात् पुरोहित कहता है कि "हे राजन्! हमारी प्रजा में रहने वाले ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों की उन्नति करना तुम्हारा काम है।" राजा भी प्रजा के प्रति उत्तरदायी होता था। इस प्रकार का उद्धरण भी वेदों में मिलता है।

सोम राजन्विश्वास्त्व म्प्रजा उपावरोह ।
विश्वास्त्वां प्रजा उपावरोहन्तु ।।

यजु० ६।२६

अर्थात् "हे सौम्य गुण वाले राजन ! तू सब प्रजाओं पर शासन कर और

सब प्रजायें तुझ पर शासन करें।" इस प्रमाण से अधिक और कौन-सा प्रमाण मिल सकता है जिसमें स्पष्ट कहा गया है कि राजा ही केवल प्रजा पर शासन नहीं करता, किन्तु प्रजा भी राजा पर अंकुश रखती है। राज्याभिषेक के समय भी प्रतिज्ञा कराई जाती थी कि राजा प्रजा की सम्मति से राज-संचालन करेगा। वह स्वेच्छाचारी होकर राज्य–कार्य नहीं करेगा। एक स्थान पर पुरोहित राजा को उपदेश देता है—

त्वन्देव सोम इन्द्रस्य प्रियम्पाथो दीहि आस्मत्सखा।
त्वन्देव सोम विश्वेषां देवानां प्रियंपाथो दीहि ॥

(यजु० ८।५०)

अर्थात् "हे राजन्। तू हम लोगों का मित्र है। तू वही राज्य-कार्य कर, जो धार्मिक विद्वान् पुरुषों को प्रिय हों।" प्रजातन्त्र का यह भी उदाहरण मिलता है— राजा स्वेच्छाचारी न होकर प्रजा के प्रति उत्तरदायी होता था। वह शपथ लेकर प्रजा को आश्वासन देता था—'**अवै य वोमिनहृयामि उभै आर्त्नी इवज्यया।**' ऋग्वे० १०/१६६/३। पुरोहित राजा को जल देता था और जल देखकर राजा कहता था— "मैं इस राष्ट्र को समृद्ध बनाऊंगा। इसीलिए मैं इस जल को देखता हूँ।" आज भी गंगाजल लेकर शपथ-ग्रहण करने की प्रथा भारत में प्रचलित है। एक स्थान पर राजा सभाओं को स्वीकार करता है और राजसभा के समक्ष प्रतिज्ञा करता है —

पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमंसी ग्रीवाश्च श्रोणी।
उरू अरत्नी जानुर्नोर्विशो मेऽगानि सर्वतः ॥

(यजु० २०।८)

अर्थात् "मेरी प्रजाओ! मैं तुम्हारे विचारों और तुम्हारी सभा को स्वीकार करता हूँ। अर्थात् तुम्हारी सभायें जो भी निश्चय लेंगी, उसे मैं सदा ही स्वीकार करने की प्रतिज्ञा करता हूँ।"

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि वैदिक युग का राजा निरंकुश नहीं था। उसका स्वरूप प्रजातांत्रिक था, वह प्रजा के प्रति उत्तरदायी था। आज के प्रजातांत्रिक भारत के प्रधानमंत्री से अधिक, वेद–मंत्रों में राजा को प्रजापालक के रूप में दर्शाया गया है। वह प्रजा का सेवक है, राज्य की रक्षा करना उसका धर्म है। प्रजा का सुख राजा का सुख है और प्रजा का दुःख राजा का दुःख है—यही भावना हमें वैदिक युग के राजा के प्रजातांत्रिक स्वरूप में देखने को मिलती है। किन्तु राजा के चयन का यह अधिकार वेद, प्रजा के उन्हीं व्यक्तियों के हाथों में देता है जो राष्ट्र के हिताहित को पूर्णतया जानते हैं तथा प्रलोभनों एवं दवाबों के वशीभूत न होकर स्वस्थ निर्णय लेने में सक्षम हैं। ○

उपाध्याय,
प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग

परिसर परिक्रमा

११ अगस्त, १९८४ को श्रावणी तथा संस्कृत-दिवस के अवसर पर कुलपति महोदय द्वारा दिया गया भाषण

आदरणीय आचार्य सत्यकाम जी, आचार्य रामप्रसाद जी, देवियो, सज्जनो, मेरे सहयोगियो एवं सहपाठियो !

आज इस अमृतवाटिका में आप लोगों के संस्कृत में भाषण सुनकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई । सचमुच मैं वही सब सुनने के लिये गुरुकुल में आया था कि गुरुकुल में संस्कृत में सम्भाषण होंगे, आपसे संस्कृत में वार्तालाप होगा । गुरुकुल में स्वाध्याय और पठन-पाठन का माहौल होगा । मुझे खुशी है कि अब वह किसी हद तक गुरुकुल में उपलब्ध हो रहा है ।

मैं अपने आपको गुरुकुल की ९वीं कक्षा का विद्यार्थी मानता हूँ । नवम्बर १९७५ में, मैं गुरुकुल में प्रविष्ट हुआ था । मेरी संस्कृत अभी इतनी अच्छी तो नहीं कि मैं पूर्व वक्ताओं की भाँति धाराप्रवाह संस्कृत में बोल सकूं । इसीलिये आपके समक्ष संस्कृत में आरम्भ करने के पश्चात् संस्कृत की बेटी हिन्दी के माध्यम से अपने विचार प्रकट कर रहा हूँ ।

९ वर्ष तक भी मेरी संस्कृत सुदृढ़ नहीं हुई, इसका एक कारण मेरे गुरुजन भी हैं । यदि गुरुजन आपस में, अपने छात्रों से, अपने कॉलेज में, मेरे साथ संस्कृत में बात करते तो मेरी संस्कृत अब तक अवश्यमेव सुदृढ़ हो जाती । यदि मैं अपनी माँ की भाषा सुनकर हिन्दी बोलना सीख सकता हूँ, यदि मैं अपनी माँ की ज़ुबान से पंजाबी बोलना सीख सकता हूँ, यदि मैं अपनी माँ की ज़ुबान से लैंहदी पश्तो बोलना सीख सकता हूँ, तो कोई कारण नहीं कि मैं आपकी ज़ुबान से संस्कृत बोलना नहीं सीख सकता । मैं आप गुरुजनों को आह्वान करता हूँ कि आप मेरी माँ बनें और मुझे और सभी संस्कृत से अनभिज्ञ लोगों को संस्कृत सिखायें । मैं आपसे शुद्ध संस्कृत में बात करना चाहता हूँ ।

यदि सैंट जैवियर स्कूल में यह नियम हो सकता है कि, वे चाहे विद्यार्थी हों या अध्यापक, स्कूल समय में आपस में अंग्रेजी में ही बात करेंगे, चाहे वह अंग्रेजी

शुद्ध हो या अशुद्ध, तो क्यों नहीं गुरुकुल में यह नियम बन सकता कि कम से कम कक्षाओं के समय में अध्यापक अपने छात्रों के साथ संस्कृत में वार्तालाप करें, चाहे शुरु-शुरु में वह संस्कृत अशुद्ध ही क्यों न हो। आइये, आज श्रावणी और संस्कृत-दिवस के शुभ अवसर पर हम इस प्रतिज्ञा में बंध जायें कि हम संस्कृत की रक्षा करने हेतु अपने विद्यालय अथवा महाविद्यालय में आज से सदैव संस्कृत में सम्भाषण करेंगे।

आज संस्कृत-दिवस है। संस्कृत-दिवस का अर्थ है—स्वाध्याय दिवस। मैं स्वाध्याय के तीन अर्थ लेता हूँ—

(१) **स्व—अध्ययन** : स्व-अध्ययन का अर्थ है अपना अध्ययन करना। अपनी अच्छाई-बुराइयों की निगरानी रखना।

(२) **सु—अध्ययन** : जो भी पढ़ो, अच्छा ही पढ़ो। हम जब विद्यार्थी थे तो हमें बड़े आदमियों की जीवनियाँ पढ़ने को प्रेरित किया जाता था। अतः मैं आम छात्रों से भी यह कहना चाहूँगा कि जितना हो सके बड़े आदमियों की जीवनियाँ पढ़ो।

(३) **स्वयं—अध्ययन** : अपने अन्दर अपने आप पढ़ने की आदत डालो। किसी को आपसे यह न कहना पड़े कि अब पढ़ो।

आज से आठ वर्ष पूर्व मैंने गुरुकुल-पत्रिका में एक लेख दिया था। यह लेख गुरुकुल-पत्रिका के 'दयानन्द' अंक फरवरी १९७६ में प्रकाशित हुआ था। इस लेख में ३० प्रश्नों की एक प्रश्नावली थी और गुरुकुल के सभी सम्बन्धित व्यक्तियों से अनुरोध किया गया था कि इस प्रश्नावली के परिप्रेक्ष्य में गुरुकुल का मूल्यांकन करें। मैं आज भी उस प्रश्नावली के उत्तरों की प्रतीक्षा में हूँ। आप लोगों की सेवा में यह प्रश्नावली पुनः वितरित की गई है। आशा है आप लोगों के उत्तर मुझे अब शीघ्र ही मिलने आरम्भ हो जायेंगे।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार मनुष्य के दुश्मन हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य दुश्मन है—प्रमाद-आलस्य। प्रमाद के रहते हुये हम कभी भी उन्नति नहीं कर सकते। अतः हमें अपने प्रमाद पर नियन्त्रण रखना है। एक अन्य दुश्मन है—रागद्वेष। रागद्वेष के रहते हम उन्नति नहीं कर सकेंगे। पर-निन्दा के जाल में फँसे रहेंगे, परस्पर सहयोग न कर पायेंगे। सहयोग में ही शक्ति है उससे वंचित रहेंगे। आइये आज के दिन यह भी व्रत लें कि हम अपने इन दुश्मनों के ऊपर अपना पूरा नियन्त्रण रखेंगे।

अन्त में, मुझे आप लोगों से जो बात कहनी है वह है खेल-कूद के बारे में। आजकल लॉस एंजिल्स में २३वें ओलम्पिक खेल चल रहे हैं। भारत की जनसंख्या विश्व की जनसंख्या का एक-सातवां भाग है किन्तु पदक-तालिका में भारत का कहीं नाम भी नहीं है। जबकि विश्व के अनेक देश, जो कि हमारे उत्तर-प्रदेश प्रान्त के बराबर हैं और कई तो इससे भी छोटे-छोटे हैं, वे कई-कई स्वर्ण पदक जीत चुके हैं। आइये सोचें कि बात क्या है तथा आज यह भी प्रण लें कि १९८४ के लॉस एंजिल्स में जो हुआ सो हुआ, १९८६ के सियोल एशियाड और १९८८ के ओलम्पिक में हम अपने देश को यथोचित मान दिलायेंगे।

ओ३म् शान्ति।

प्रस्तुतकर्त्ता :
गिरीशचन्द्र सुन्दरियाल
निजी सहायक, कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

प्रौढ़ शिक्षा प्रशिक्षण शिविर

(१-८-८४ से ८-८-१९८४ तक)

—डॉ० त्रिलोक चन्द

प्रौढ़ शिक्षा प्रशिक्षण शिविर, जो १ अगस्त से ८ अगस्त तक चला, उसके प्रशिक्षक अत्यन्त उत्साहवश ३१ जौलाई ८४ की शाम से ही निवास के लिये निर्धारित स्टाफ रूम में पहुँचे। १ अगस्त को प्रातः संध्या व प्रातःराश के उपरान्त ११ बजे उद्घाटन हेतु उत्सव में, जो वेद मन्दिर में सम्पन्न हुआ, पहुँचे। सर्व-प्रथम ब्रह्मचारियों ने वैदिक मन्त्रों द्वारा यज्ञ का आयोजन किया, तत्पश्चात् समारोह में आमन्त्रित श्री मूलचन्द्र शास्त्री ने प्रौढ़ शिक्षा की उपयोगिता पर बोलते हुए ग्रामीण प्रौढ़ों को स्वच्छता आदि का प्रशिक्षण देने का अनुरोध किया। उसके बाद श्री बलदेवप्रसाद जी ने प्रौढ़ शिक्षा के सम्बन्ध में अपना संक्षिप्त भाषण दिया। साथ ही श्री सत्यकाम जी ने अपने वक्तव्य में प्रौढ़ शिक्षा पर कुछ कहा। अन्त में समारोह के मुख्य अतिथि महोदय के उद्घाटन-भाषण से पूर्व डॉ० त्रिलोकचन्द ने प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम के विकास का विवरण दिया। फिर मुख्य-अतिथि श्री कुलपति जी, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, ने अपने भाषण में सर्वप्रथम देश के महानुभावों का हवाला देते हुए प्रशिक्षकों को इस क्षेत्र में विशेष जिम्मेदारी निभाने का आदेश दिया। उसके बाद आचार्य रामप्रसाद जी ने वेद मन्त्रों द्वारा प्रशिक्षकों को शपथ दिलायी। फिर शान्ति पाठ के साथ समारोह समाप्त हुआ। अन्त में एक चाय पार्टी हुई, इसके बाद सायंकाल तक डॉ० त्रिलोक चन्द ने प्रौढ़ शिक्षा की समस्याओं पर महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रशिक्षकों को नोट कराये। सायंकाल ८-३० से १० बजे तक सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन हुआ, जिसमें संगीत दल कांगड़ी ग्राम व ब्रह्मचारी संजीव कुमार वर्मन के प्रेरणदायी गीतों को मान्य कुलपति जी ने भी पधार कर सुना। १० बजे शान्ति पाठ के पश्चात् सभा समाप्त हुई।

२-८-१९८४

दूसरे दिन भी सभी प्रशिक्षक प्रातः संध्याव्याम करने के उपरान्त, पूर्व निर्धारित कार्यक्रमानुसार १०.०० बजे प्रार्थना भवन में पहुंचे। श्री राजेन्द्र जी अग्रवाल, प्रो० आयुर्वेद विभाग ने स्वास्थ्य के सभी पहलुओं पर प्रकाश डालते

हुए उसके लिए स्वच्छता, व्यायाम व संयम आदि को उपयोगी बताते हुए सादा जीवन का मूल-मंत्र तथा परिवार-नियोजन के अनेक खोजपूर्ण तथ्यों का प्रकाशन किया। १२·३० बजे सभा विसर्जित की गई। पुनः ३ से ६ बजे तक गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के उप-कुलपति श्री रामप्रसाद वेदालंकार ने 'प्रौढ़ शिक्षा का राष्ट्र को योगदान' विषय पर व्याख्यान दिया। प्रशिक्षकों को त्याग-तपस्या से रहने पर बल दिया।

३–८–१९८४

तीसरे दिन पूर्व की भाँति प्रातःकालीन कार्यों को करने के उपरान्त ६ बजे सभी प्रशिक्षक जमाल गांव का सर्वेक्षण करने के लिये चल पड़े। सभी ने पूरे गांव में प्रेमपूर्वक प्रौढ़ शिक्षा का प्रचार किया तथा शिक्षा के सिद्धान्तों को साकार करते हुए सर्वेक्षण-पत्रों को पूर्ण किया। १२·३० बजे तक सभी वापिस लौट आये। पुनः भोजन एवं विश्राम के बाद २ बजे सभी सभाभवन में गये। वहाँ डॉ० विजय शंकर जी ने उपयोगी तथ्यों पर विद्वतापूर्वक प्रशिक्षकों को भाषण दिया और अपने आँकड़े प्रस्तुत करते हुए सिद्ध किया कि हमारे देश में पूंजीपती तो बेहद धनवान है व गरीब अत्यन्त गरीब होता चला गया। प्रौढ़ शिक्षा से उनमें चेतना भरनी होगी। ६ बजे सभा विसर्जित की गई।

४–८–१९८४

प्रशिक्षण शिविर के चौथे दिन प्रातः ही सभी प्रशिक्षक प्रातःकालीन अनुष्ठानों से निबट कर सात बजे स्कूटरों में बैठकर मातृ गाँव कांगड़ी एवं गाजीवाला का सर्वेक्षण करने के लिये चल पड़े। कांगड़ी गाँव में पहुंचते ही मेरी आँखों के सामने गरीब भारत का नक्शा घूम गया व हृदय को झंकझोरने लगा। फिर वहाँ के प्राईमरी स्कूल के बच्चों की छुट्टी कराकर जुलूस के रूप में शिक्षा से सम्बन्धित नारे लगाते हुए, रुक–रुक कर सभी ग्रामीणों को प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम समझाते हुए, सम्पूर्ण गांव का भ्रमण किया। उसी के मध्य एक ऐसे वृद्ध पुरुष के सभी ने दर्शन किये जिन्होंने कुलपति स्वामी श्रद्धानन्द जी के साथ काम करने का सुअवसर प्राप्त किया। उसके बाद पुस्तकालय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में कार्यरत श्री गोविन्द जी व अन्य श्रेष्ठ कार्यकर्त्ताओं ने शानदार चाय पार्टी का आयोजन किया। तत्पश्चात् स्कूटरों के द्वारा गाजीवाला की ओर सभी ने प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचते ही 'भारत सोने की चिड़ियाँ है' यह नारा नितान्त असत्य प्रतीत होने की आशंका उत्पन्न होने लगी। ग्रामीणों को प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम समझाते हुए जैसे ही आगे बढ़े, एक टूटी–सी चारपाई पर गरीब माँ-बाप की एक सन्तान को देखकर मेरा तो हृदय टीस से भर गया। सभी ने घूम-घूम कर गाँव में प्रौढ़ शिक्षा का प्रचार किया। फिर सभी ११ बजे के लगभग गुरुकुल कांगड़ी

वापस लौट आये। पुनः ३ से ६ बजे शंका समाधान कार्यक्रम के अन्तर्गत अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर निष्कर्ष निकाले गये। ६ बजे सभा उत्साह के वातावरण में विसर्जित की गई।

५-८-८४—

प्रशिक्षण शिविर के पाँचवे दिन भी गुरुकुल के पवित्र वातावरण को सराहते हुए, प्रशिक्षकगण ने सभी प्रातःकालीन कृत्यों को उत्साहपूर्वक सम्पन्न किया। प्रातराश की परवाह न करते हुए पूर्व निर्धारित कार्यक्रमानुसार प्रातः सात बजे थ्रीव्हीलरों पर लाउडस्पीकर बाँध कर सर्वप्रथम वेदमंत्रों से, मानों वातावरण को सात्विक बनाते हुए, गांव में प्रौढ़ शिक्षा के पैगाम को लेकर उत्साहसम्पन्न वातावरण में चल पड़े। सर्वप्रथम जगजीतपुर गांव में जाकर शिक्षा की उपयोगिता को समझाते हुए, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा अपनाये, भारतीय सरकार के प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम को सरल भाषा में व प्रभावयुक्त शैली में, वाहनों को प्रत्येक चौराहे पर रोक कर, ग्रामीणजनों को समझाकर दूसरे गांव जमालपुर में प्रौढ़ शिक्षा के प्रति लोगों में दर्शनीय आस्था को उत्पन्न किया। उसके बाद सराय गांव में जाकर प्रशिक्षकों ने उच्च स्वर में उद्घोष किया कि 'लो दुनियाँ वालों जगाने वाले आ गये। घर-घर में प्रौढ़ शिक्षा फैलाने वाले आ गये'। उसके बाद गांव रोहालकी में जाकर प्रशिक्षकों ने प्रौढ़ शिक्षा के महत्त्व पर प्रभावोत्पादक भाषण देकर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की भाषा में कहा कि "सबसे प्रथम कर्तव्य है कि शिक्षा बढ़ाना, देश में शिक्षा बिना ही पड़े रहे। आज हम सब-क्लेश में हैं।' गांव रोहालकी में नरेशकुमार आर्य ने गांव के प्रतिनिधि के रूप में प्रौढ़ शिक्षकों के सम्मान में शानदार चाय पार्टी का आयोजन किया।। सभी प्रशिक्षक ११ बजे गुरुकुल पहुँचे।

६-८-८४—

प्रशिक्षण शिविर के छठे दिन भी सभी प्रशिक्षक प्रातः १० बजे कक्षा में पहुंचे। डॉ० विजयेन्द्र शर्मा, प्रिंसिपल एस० एम० जे० एन० डिग्री कालेज हरिद्वार का राष्ट्रीय एकता पर भाषण हुआ। उन्होंने विभिन्न धर्म, भाषा व संस्कृतियों के कारण भारत को घुन लगे राष्ट्र की संज्ञा दी। सायंकाल ३ से ६ बजे तक डॉ० त्रिलोकचन्द ने प्रौढ़ शिक्षा के स्वरूप को बताते हुए समस्याओं का निस्तारण किया।

७-८-८४—

सातवें दिन भी प्रातःकालीन दिनचर्या के उपरान्त सभी प्रशिक्षकों ने गांव टिबड़ी व केशवकुञ्ज में रिक्शा पर लाउडस्पीकर बाँध कर प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम को दोनों गांव घूम-घूम कर ग्रामीणजनों को समझाया। ग्रामवासियों में प्रौढ़ शिक्षा के प्रति चेतना भाषित हो रही थी। १० बजे सभी प्रशिक्षक गुरुकुल वापस पहुँचे।

१०-३० से १२-३० बजे तक श्री सुरेशचन्द त्यागी, प्रिंसिपल विज्ञान विभाग ने प्रौढ़ शिक्षा की समस्या का समाधान सरल तथ्यों के द्वारा किया। श्री त्यागी जी ने अत्यन्त उत्तरदायी तरीके से इस कार्यक्रम को चलाने का निर्देश दिया जो प्रशिक्षकों की समझ में आ गया।

८-८-८४—

आज समापन समारोह वेदमंदिर के भव्य भवन में आयोजित किया गया। सर्वप्रथम समारोह के मुख्य अतिथि का गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के ब्रह्मचारी श्री हरिशंकर व उनके साथियों ने वैदिक गान गाकर स्वागत् किया। इसके बाद प्रशिक्षकों ने मातृभूमि की वन्दना एक गीत गाकर की। मुख्य अतिथि श्री आचार्य प्रियव्रत जी का माल्यार्पण किया गया। उन्होंने कहा कि अंग्रेजी शासनकाल से ही शिक्षा का उद्देश्य सर्विस करना रहा है। प्रौढ़ शिक्षा को वेद-मंत्रों के आधार पर अनिवार्य बताते हुए आचार्य जी ने संकल्प देकर कहा कि इस कार्य-क्रम को साहस के साथ चलाना चाहिए। शान्ति-पाठ के बाद प्रशिक्षकों को आशीर्वाद दिया। यह १ अगस्त से चल रहा आयोजन अत्यन्त उत्साह के वातावरण में सम्पन्न हुआ। इसमें उन्नीस प्रशिक्षकों ने प्रशिक्षण प्राप्त किया है।

संयोजक
प्रौढ़ शिक्षा-विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार।

अनुदान आयोग की अध्यक्ष गुरुकुल में

हरिद्वार, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय परिसर में शिक्षकों तथा शिक्षकेत्तर कर्मचारियों द्वारा आयोजित सभा में स्वागत-समारोह का उत्तर देते हुए जब विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की अध्यक्ष श्रीमती माधुरी शाह ने स्वामी श्रद्धानन्द की राष्ट्रीय आन्दोलन के मंच से की गई सेवाओं तथा शिक्षा क्षेत्र में दी गई नवीन दिशाओं का उल्लेख करते हुए, गुरुकुल के उद्देश्य को स्पष्ट किया तो तालियों की गड़गड़ाहट में जैसे काल अपनी गति को ही भूल गया। उन्होंने कहा कि गुरुकुल विश्वविद्यालय के सुरम्य, शान्त वातावरण को देखकर जहाँ मुझे प्रसन्नता हुई है, वहाँ इसकी शैक्षिक प्रगति तथा स्थायित्व को देखकर भी मुझे संतोष हो रहा है। मेरी इच्छा है कि विश्वविद्यालय के अधिकारी आगामी २५ वर्षों तक की योजनाएँ बनाकर आयोग को दें, हम वरीयता को दृष्टि में रखते हुए इस संस्थान के विकास के लिये हर सम्भव सहायता देंगे। गुरुकुल में प्रारम्भ से ही प्राचीन परम्परा तथा आधुनिकता का, वैदिक ज्ञान तथा आधुनिक विज्ञान का समन्वय रहा है। मैं चाहती हूँ कि एक ओर प्राचीन भारतीय विद्याओं के, विशेषत: वैदिक साहित्य के, उच्चतर अध्ययन और अनुसन्धान के अद्वितीय केन्द्र के रूप में जहाँ इसका विकास हो, वहाँ इसमें संगणक विज्ञान के आधुनिकतम पाठ्यक्रमों का भी सपावेश होना चाहिये। प्राचीन दुर्लभ पाण्डु-लिपियों के संरक्षण की दिशा में भी विशेष प्रयत्न होना चाहिये तथा व्यवसा-योन्मुख और प्रसार शिक्षा के लिए कार्य होना चाहिये। अन्य विश्वविद्यालयों से इसका अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है। अतः उस व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए, इसकी स्थापना के मूल उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए, आप लोगों को आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में रचनात्मक योग देना है। उन्होंने आश्वासन दिया कि कन्या गुरुकुल तथा स्त्री शिक्षा के लिये भी आयोग, विश्वविद्यालय को यथासंभव सहायता देगा।

इससे पूर्व विश्वविद्यालय की प्रगति का विवरण देते हुए कुलपति श्री बलभद्र कुमार हूजा ने, जहाँ विश्वविद्यालय द्वारा संचालित वैदिक कार्यशाला, जीवन-मूल्य और समाज के अन्तः सम्बन्धों पर आश्रित राष्ट्रीय संगोष्ठी, वैदिक योग केन्द्र, कांगड़ी ग्राम विकास योजना तथा गंगा प्रदूषण अध्ययन योजना की उपलब्धियों पर प्रकाश डाला, वहीं जनोपयोगी दृष्टि से विज्ञान के लिये किये गये कार्यों का भी परिचय दिया। विश्वविद्यालय के प्रकाशनों को देखकर श्रीमती शाह ने संतोष प्रकट किया। स्मरण रहे, पुराविद्याओं की दृष्टि से गुरुकुल का पुस्तकालय उत्तर भारत में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

—**भोपाल सिंह**
एम० ए० (प्रथम वर्ष)

निकष पर

(पुस्तक-समीक्षा)

पुस्तक-परिचय	—	**वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त (तीन भाग)**
लेखक	—	**आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति** पूर्व–कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।
प्रकाशक	—	मीनाक्षी प्रकाशन, बेगम ब्रिज, मेरठ
पृष्ठ संख्या (तीनों भाग)	—	१५००
मूल्य	—	२४० रुपये

'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' नामक प्रस्तुत ग्रन्थ एक अनुसन्धानात्मक ग्रन्थ है। भारतीय आर्य-परम्परा में सभी ऋषि-मुनि और आचार्य वेद को विविध विद्या-विज्ञानों से युक्त मानते आये हैं। महर्षि व्यास और आचार्य शंकर की सम्मति में तो वेद इतना अधिक ज्ञान-विज्ञान का सागर हैं कि उन्होंने वेद की विद्यमानता को ईश्वर की सिद्धि में एक युक्ति के रूप में उपस्थित किया है। उनकी सम्मति में वेद का रचयिता सर्वज्ञ परमात्मा ही हो सकता है। मनु ने कहा है कि वेद को जानने वाला व्यक्ति सेनाओं का संघटन और संचालन कर सकता है, राज्यों का संचालन कर सकता है, न्याय–व्यवस्था का संचालन कर सकता है, और सारी धरती के विशाल राज्य का भी संचालन कर सकता है। ऐसा कोई प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, जिसमें वेद के आधार पर और वेद के अपने शब्दों में वेद में वर्णित किसी विद्या–विज्ञान को प्रदर्शित किया गया हो। प्रस्तुत ग्रन्थ में वेद के आधार पर और वेद के अपने शब्दों में वेद में वर्णित राजनीति-विज्ञान को विस्तृत रूप में दिखाया गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि वेद में सर्वांगपूर्ण राजनीति शास्त्र का वर्णन है।

ग्रन्थ के संविधान काण्ड, अभ्युदय काण्ड और प्रतिरक्षा काण्ड में तीन भाग हैं। ग्रन्थ में छोटे माण्डलिक राज्यों से लेकर सारी धरती के चक्रवर्ती राज्य (विश्वराज्य) तक के निर्माण, उनकी संसदों, मंत्रीमण्डल, चुनाव–पद्धति, प्रजा-तन्त्र का स्वरूप, न्याय-व्यवस्था, स्त्रियों के राजनीतिक अधिकार, उदार राजनीति, समाज का संघटन और उसकी आर्थिक व्यवस्था, प्रजाओं के सुख-समृद्धि के उपाय, राष्ट्रवासियों का परस्पर प्रेम, सहयोग और सद्भाव, राष्ट्रों को पतन से बचाने के उपाय, सैन्य संघटन, शस्त्र- अस्त्र, और युद्धनीति आदि अनेकानेक विषयों के सम्बन्ध में वेद के विचारों को प्रदर्शित किया गया है। यह ग्रन्थ लेखक के २५ वर्ष से भी अधिक समय के अध्ययन, अनुसंधान और चिन्तन का परिणाम है, तथा अपने प्रकार का सर्वथा मौलिक और पहला ग्रन्थ है। सारे वैदिक-साहित्य में इस प्रकार का दूसरा ग्रन्थ नहीं है।

वेद में अनेक ऐसे राजनीतिक तत्त्व वर्णित पाये जाते हैं जिनसे आज का राजनीतिक जगत् भी लाभ उठा सकता है। उदाहरण के लिये वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि "जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्, सहस्रः धारा द्रविणस्य मे दुहा ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती" अर्थात् यदि कभी किसी राष्ट्र में अनेक भाषाओं को बोलने और अनेक धर्मों को मानने वाले लोग रहने लग जायें तो उन्हें इस प्रकार परस्पर प्रेम से मिल कर रहना चाहिये जिस प्रकार एक घर के लोग प्रेम से मिल कर रहा करते हैं। ऐसा करने से राष्ट्र की भूमि राष्ट्रवासियों के लिये धन-सम्पत्ति और कल्याण-मंगल की हजारों धाराओं को बहाने लगेगी, जिस प्रकार दुधारू गाय दूध की धारायें बहाती है। भाषाओं और धर्मों के नाम पर बुरी तरह अशान्त और संकट-ग्रस्त आज के भारत के लिये वेद का यह उपदेश कितना सामयिक और उपयुक्त है। इस प्रकार वेद के राजनीति विज्ञान को अपने इस ग्रन्थ में उद्घाटित करने और उसे जनता के सम्मुख लाने के प्रयत्न द्वारा लेखक ने प्राणिमात्र की महाती सेवा की है।

महान् हुतात्मा दिवंगत श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के चरणों में बैठकर, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार में लेखक ने जो दीर्घकाल तक संस्कृत और वैदिक साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है, उसी का परिणाम यह विशाल मौलिक ग्रन्थ है।

—बलभद्र कुमार हूजा
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

× × ×

पुस्तक का नाम — **"संस्कृत काव्यशास्त्र पर भारतीय दर्शन का प्रभाव"**
लेखक — **अमरजीत कौर**
प्रकाशक — भारतीय विद्या प्रकाशन, १-यू०बी०, जवाहरनगर, बंगलो रोड, दिल्ली—११०००७ (भारत)
संस्करण — प्रथम, १९७९
पृष्ठ संख्या — २६०
मूल्य — ४०-०० रुपये

प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य संस्कृत-काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर भारतीय दर्शन-पद्धतियों के प्रभाव का आकलन एवं मीमांसा करना है। वस्तुतः संस्कृत-काव्यशास्त्र भारतीय दर्शन की विविध पद्धतियों से प्रभावित रहा है। उसने अनेक दार्शनिक विचारों एवं सिद्धान्तों को अपनी आवश्यकतानुसार ढालकर ग्रहण किया है। अतएव संस्कृत किंवा भारतीय काव्यशास्त्र को भलीभाँति हृदयङ्गम करने के लिए भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि का सम्यक् ज्ञान अनिवार्य है। काव्यशास्त्र के प्रसङ्ग में भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि के तन्तु संस्कृत काव्यशास्त्रीय मूल-ग्रन्थों तथा टीका-टिप्पणियों में बिखरे पड़े हैं। मूल-ग्रन्थों तथा टीका-टिप्पणियों में विकीर्ण इस सामग्री के मूल आधार को तत्तद्दर्शनशास्त्र के मूल-ग्रन्थों में खोजकर आधुनिक पाठक के समक्ष उपस्थित करना और उसकी मीमांसा करना अपने-आपमें एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। उदाहरणार्थ, शब्दवृत्तियों को समझने के लिए वाक्यवादी मीमांसकों के वाक्य तथा तात्पर्य के सिद्धान्त का ज्ञान, अनुमान ही में ध्वनि का अन्तर्भाव करने वाले महिमभट्ट एवम् अन्य नैयायिक आचार्यों के हृदय को समझने के लिए नैयायिकों की अनुमान-प्रक्रिया तथा न्यायशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली का सम्यक् बोध, सङ्केतग्रह के प्रसङ्ग में पतञ्जलि, भर्तृहरि आदि वैयाकरणों के जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा के सिद्धान्त, जातिमद्व्यक्तिवादी नैयायिकों की धारणा, जातिवादी मीमांसकों के सिद्धान्त तथा बौद्धों के अपोहवाद का सुपरिचय आवश्यक है। इसी प्रकार रस-सिद्धान्त के सम्यक् अवबोध के लिए सांख्य के सत्कार्यवाद, शैवदर्शन तथा वेदान्तदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों का ज्ञान अपेक्षित है। काव्यशास्त्र में व्याकरण-शास्त्र, कामशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि की उपयोगिता भी कम नहीं है। यद्यपि काव्यशास्त्र को पल्लवित, पुष्पित तथा फलित करने में प्रायः सभी शास्त्रों का न्यूनाधिक योग रहा है तथापि दर्शनशास्त्र तथा व्याकरण ने उसे सर्वाधिक प्रभावित किया है। अतः काव्यशास्त्र पर दार्शनिक प्रभाव का अध्ययन अत्यन्त उपादेय तथा महत्त्वपूर्ण है। काव्यशास्त्र के प्रसङ्ग में भारतीय दर्शन की विविध शाखाओं की पृष्ठभूमि का एकत्र सङ्कलन एवं समालोचन कदाचित् सर्वप्रथम

प्रस्तुत पुस्तक ही में हुआ है, यद्यपि छिटपुट लेख इस विषय में लिखे जाते रहे हैं।

डॉ० अमरजीत कौर की यह पुस्तक पाँच अध्यायों में विभक्त है, जिनके बाद तीन परिशिष्ट, सहायक ग्रन्थसूची एवं नामपदानुक्रमणी दी गई हैं। इसके "साहित्यशास्त्र एवं दर्शन" नामक प्रथम अध्याय में लेखिका ने काव्यशास्त्र का तर्कशास्त्र, पूर्वमीमांसा एवम् अन्य दर्शनों से सम्बन्ध निर्दिष्ट कर धर्मकीर्त्ति, भामह, दण्डी, मुकुलभट्ट, अभिनवगुप्त, महिमभट्ट, भोज, हेमचन्द्र, शौद्धोदनि, अप्पयदीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ इन दार्शनिक आलङ्कारिकों द्वारा अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अपने दार्शनिक चिन्तन का उपयोग सङ्केतित किया है। "रस-विवेचन का दार्शनिक आधार" नामक द्वितीय अध्याय में रस-संज्ञा की औपनिषद् पृष्ठभूमि प्रदान करने के बाद रसनिष्पत्तिविषयक भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद अथवा आरोपवाद, श्रीशङ्कुक के अनुमितिवाद, भट्टनायक के भुक्तिवाद तथा अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद, रस की सांख्यवादी व्याख्या, रसमीमांसा में वेदान्तीकरण, रसस्वरूप और प्रमुख रसों पर दार्शनिक प्रभाव आदि का अध्ययन किया गया है। तृतीय अध्याय "काव्यात्ममीमांसा का दार्शनिक आधार" में दर्शन में आत्मा के विवेचन के सङ्केत के पश्चात् विदुषी लेखिका ने काव्यशास्त्र में काव्यात्मा के रूप में स्वीकृत रीति, ध्वनि, रस, वक्रोक्ति तथा औचित्य तत्त्वों के दार्शनिक मूल का सफल अन्वेषण किया है। "शब्दशक्तिमीमांसा का दार्शनिक आधार" नामक चतुर्थ अध्याय में दर्शन में शब्दार्थ–विवेचन के सङ्केत के बाद काव्यशास्त्र में अभिधा तथा सङ्केतग्रह विषयक विभिन्न मतों तथा काव्यशास्त्र द्वारा वैयाकरणों के अनुगमन, लक्षणा एवं लक्षणाभेदों और तद्विषयक दार्शनिक मतों, तथा व्यञ्जना की मीमांसा की गई है। व्यञ्जनाप्रसङ्ग में तात्पर्य तथा अनुमिति-सिद्धान्त का और अधिक स्फुट एवं निष्पक्ष विवेचन अपेक्षित था। "अलङ्कार-निरूपण का दार्शनिक आधार" नामक पञ्चम अध्याय में काव्यशास्त्रगत अलंकार-वर्गीकरण के दार्शनिक आधार के निर्देश के बाद अर्थान्तरन्यास, अर्थापत्ति, अनुमान, अभाव, असङ्गति, उत्प्रेक्षा, उदाहरण, उपमा, उपमान, ऐतिह्य, काव्यलिङ्ग, जाति, दृष्टान्त, साम्य, वैषम्य, परिणाम, परिसंख्या, प्रत्यक्ष, शब्दप्रमाण, सम्भव, सम्भावना, स्मृति, संशय, सूक्ष्म, स्वभावोक्ति इन अलंकारों की दार्शनिक पृष्ठभूमि का विवेचन किया गया है। परिशिष्टों में प्रथम में काव्यशास्त्र में प्रयुक्त दार्शनिक शब्दावली का परिचय दिया गया है, जो यदि और अधिक विस्तृत रहा होता तो अच्छा होता। द्वितीय में काव्यशास्त्र में उपलब्ध दर्शनशास्त्र की अभिव्यक्तियाँ और तृतीय में काव्यशास्त्र में दर्शनशास्त्र के भावों को अभिव्यक्त करने वाली अभिव्यक्तियाँ संकलित की गई हैं। इस प्रकार इस पुस्तक में काव्यशास्त्रीय तत्त्वों एवं सिद्धान्तों की दार्शनिक पृष्ठभूमि

का संयत शब्दों में सफल आकलन हुआ है। आशा है यह पुस्तक काव्यशास्त्र-प्रेमी पाठकों को पर्याप्त रुचेगी और अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगी।

पुस्तक का मुद्रण तथा साज-सज्जा भी उत्तम है, जिसका श्रेय कुशल प्रकाशक को जाता है।

—मानसिंह
प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

× × ×

पुस्तक-परिचय	—	**नागार्जुन**
सम्पादक	—	**डॉ० सुरेशचन्द्र त्यागी**
प्रकाशक	—	आशिर प्रकाशन, सहारनपुर
पृष्ठ संख्या	—	२७६
मूल्य	—	४० रुपये

'नागार्जुन' अनियतकालीन पत्रिका 'सम्पर्क' का विशेषाङ्क है। हिन्दी के प्रख्यात जनवादी कवि वैद्यनाथ मिश्र 'नागार्जुन' के व्यक्तित्व और कर्तृव्य पर २८ निबन्ध इसमें संकलित हैं। कवि के व्यक्तित्व, जीवनी, काव्य-चेतना, सौन्दर्य-बोध, प्रकृति-प्रियता, उपन्यास, लोकतत्त्व, क्रान्ति-चेतना तथा व्यंग्य-हास्य जैसी काव्यप्रवृत्तियों का विशद विवेचन विभिन्न विद्वानों ने अपने लेखों में किया है।

कवि नागार्जुन पर एक ओर विष्णु प्रभाकर तथा प्रभाकर माचवे जैसे साहित्यकारों ने तो लिखा ही है, डॉ आनन्दप्रकाश दीक्षित, डॉ० प्रेमशंकर, डॉ० विश्वनाथ अय्यर तथा डॉ० विश्वंभरनाथ उपाध्याय जैसे रसवादी और जनवादी समीक्षकों ने भी लिखा है। विद्वान् सम्पादक ने विभिन्न लेखकों से लिखवाकर नागार्जुन का समग्र मूल्यांकन एक स्थान पर प्रस्तुत करने का कुशल प्रयत्न किया है।

पत्रिका में दो परिशिष्ट हैं—(१) नागार्जुन का साहित्य, तथा (२) नागार्जुन की कविताएँ। ये दोनों परिशिष्ट शोधार्थियों के लिए उपयोगी हैं। विवेच्य कवि के साहित्य का वर्षक्रम से वर्गीकरण करते हुए रचनाओं का प्रकाशन संस्थान, पृष्ठ संख्या, मूल्य तथा संक्षिप्त प्रतिपाद्य देकर कवि के सुदीर्घ रचना-अन्तराल का परिचय दिया गया है। इस सामग्री से कुछ अज्ञात तथा अल्पज्ञात तथ्यों की प्राप्ति भी होती है। 'युगधारा' का पुनर्मुद्रण १९८२ में हुआ पर इसके प्रथम संस्करण के ज्ञापन से ही प्रतीत होता है कि १९४३ तक कवि 'यात्री' उपनाम से लिखते रहे तथा उनकी प्रथम प्रकाशित रचना 'राम के प्रति' थी जो १९३५ में लाहौर से प्रकाशित साप्ताहिक 'विश्वबन्धु' में छपी थी। मैथिली में प्रकाशित प्रथम रचना 'मिथिला' थी जो १९३० में लहेरिया सराय से छपी थी।

नागार्जुन की कविताओं के वर्णन-वैभव, सांस्कृतिक सम्पदा, शोषण-चक्र, सत्ता की असंगति तथा जीवन की प्रगतिशील सामाजिक भूमिका को समझने के लिए इस पुस्तक के लेख अत्यन्त उपयोगी हैं। डॉ० विजयबहादुर सिंह का यह कथन उल्लेखनीय है कि हिन्दी की वामपंथी कविता भले ही मुक्तिबोध को कला-गुरु की उपाधि दे किन्तु अनुसरण वह नागार्जुन का ही करेगी क्योंकि नागार्जुन का सर्जक व्यक्तित्व विविधासम्पन्न और लोक की निकटस्थ पहचान से निखरा हुआ है। नागार्जुन ही एक ऐसे कवि हैं जो कभी भी किसी के द्वारा पालतू या सरकारी बनाए जाने की नियति से बच सके हैं। उनकी भाषा-सामर्थ्य पर डॉ० प्रेमशंकर के इस निष्कर्ष से कौन असहमति व्यक्त कर सकता है कि कविता के गद्य का संस्करण बनते हुए समय में नागार्जुन की छंद और लय की सही पहचान विशेष रूप से हमारा ध्यान अपनी ओर खींचती है—छंद पर नियन्त्रण की क्षमता। नागार्जुन की कविता भाषा के आभिजात्य को ललकारती हुई आगे बढ़ती है, ज़िन्दगी के बीच से पाए गए मुहावरे में अपनी बात कहती हुई, और यही हमें आश्वस्त करता है कि उनकी रचनायात्रा स्वयं को निरन्तर संदर्भों से जोड़ती रहेगी।

प्रेमचन्द की ग्राम्यचेतना को समाजवादी-चेतना में परिणित कर उन्होंने कथा साहित्य की रचना की। उन्होंने बिहार प्रान्त के १९३७-३८ के सशक्त किसान आन्दोलन को निकट से देखा। गोदान की सुषुप्त कृषकचेतना बलचनमा में आकर पूर्ण हुंकार के साथ जागृत हुई। जमींदारी के उन्मूलन के बाद कृषि का आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण, पंचवर्षीय योजनाएँ, सहकारी समिति, चकबंदी, भूमि सुधार तथा राजनीतिक उथल-पुथल सभी कुछ तो उनके कथा-साहित्य में मिलता है। वर्ग-संघर्ष और सक्रिय नेतृत्व का जो अभाव अन्य प्रगतिशील साहित्यकारों में—विशेषतः प्रेमचन्द में दिखाई पड़ता है—उसकी पूर्ति नागार्जुन की रचनाओं

में है। हर्ष है कि इस पुस्तक के लेखकों ने ईमानदारी के साथ नागार्जुन की सामूहिक चेतना के साथ न्याय किया है। यशपाल, फणीश्वरनाथ रेणु तथा रांगेय राघव से तुलना करते हुए यथार्थबोध, तीव्रता, संश्लिष्टता, आक्रोश, प्रतिहिंसा, प्रतिरोध तथा मध्यकालीन रोमांस, रहस्य तथा रुढ़िविरोध की दृष्टि से नागार्जुन की प्रतिबद्धता पर, सामाजिक लक्ष्य पूर्त्ति पर इन लेखकों ने गम्भीर दृष्टि डाली है।

अंततः कहा जा सकता है कि नागार्जुन को समग्र रूप से समझने के लिए यह पुस्तक उपादेय है और इस एक कसौटी के आधार पर ही इसकी महत्ता निर्विवाद स्वीकार्य है। यह पुस्तक पुस्तकालयों में खरीदी जानी चाहिए। हिन्दी के अध्येताओं के लिए तो संग्रहणीय है ही। संघर्षशील जनता के विपन्न बहुलांश को तथा उसके सह-संवेदनशील चिन्तकों को भी इससे प्रेरणा मिलेगी; स्वयं नागार्जुन के निजी जीवन की यही शक्ति है। बाबा के ही शब्दों में—

जली ठूँठ की डाल पर गई कोकिला कूक
बाल न बाँका कर सकी शासन की बंदूक।

—विष्णुदत्त 'राकेश'

× × ×

पुस्तक का नाम	—	**हरियाणा का हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास**
लेखक	—	**डॉ० शिवप्रसाद गोयल**
प्रकाशक	—	नटराज पब्लिशिंग हाउस, करनाल
पृष्ठ	—	१०६
मूल्य	—	४५ रुपये

हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रान्तीय साहित्यकारों के कर्त्तृव्य का विवरण प्रायः उपलब्ध नहीं होता। इधर हिन्दी में शोधोपाधि सापेक्ष तथा निरपेक्ष, दोनों दृष्टियों से भिन्न-भिन्न प्रदेशों के योगदान का स्वतंत्र आकलन और विवेचन हुआ है और इस प्रकार सम्पूर्ण देश की एक साहित्यिक चेतना उजागर हुई है। हरियाणे के प्रसिद्ध गद्य-लेखक बाबू बालमुकुन्द गुप्त तथा पण्डित माधवप्रसाद मिश्र की चर्चा प्रायः सभी साहित्यग्रन्थों में उपलब्ध है, किन्तु १२वीं शती से लेकर आज तक के आठ सौ वर्षों के सुदीर्घ अन्तराल में

लिखे गए ग्रन्थों की चर्चा ऐतिहासिक प्रवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य में डॉ० गोयल से पूर्व हिन्दी के किसी विद्वान् ने अपने ग्रन्थ में नहीं की। नाथपंथी साहित्य, सूफी काव्य, वैष्णवभक्ति काव्य, जैन काव्यधारा, संत काव्य, शृंगार काव्य तथा हिन्दी गद्य लेखन की दृष्टि से हरियाणे के साहित्यकारों का विवेचन इस कृति में पहली बार हुआ है। यों डॉ० चन्द्रकांत वाली ने पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास में कुछ साहित्यकारों का परिचय दिया था तथा हरियाणा के हिन्दी-सेवी पुस्तक में शांत शास्त्री ने भी विहंगावलोकन किया था पर काल-क्रमानुसार प्रवृत्तिमूलक अध्ययन की दृष्टि से डॉ० गोयल की रचना साहित्यिक जिज्ञासुओं तथा शोधकर्त्ताओं के लिए अधिक उपयोगी है।

सुप्रसिद्ध हिन्दी साहित्येतिहास के विद्वान् डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के इस कथन से हम सर्वथा सहमत हैं कि डॉ० शिवप्रसाद गोयल ने इस पुस्तक की रचना करके हिन्दी साहित्य की—विशेषतः हरियाणा के हिन्दी-साहित्य की बहुत बड़ी सेवा की है तथा उन्होंने हरियाणा के अनेक जाने–अनजाने साहित्यकारों की कृतियों का मूल्यांकन करके हरियाणा के गौरव की अभिवृद्धि में योग दिया है। साथ ही मैं यह भी निःसंकोच कह सकती हूँ कि यह रचना हरियाणा के साहित्येतिहास के जिज्ञासुओं एवं शोध-कर्त्ताओं के लिए भी अत्यन्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी।

पुस्तक की साज-सज्जा आकर्षक है, कहीं-कहीं छापे की त्रुटियाँ रह गई हैं। आशा है, आगामी संस्करण में ठीक कर दी जायेंगी। हिन्दी के उद्‌भवकाल से ही समानान्तर हरियाणा–साहित्यकारों का लेखन निःसन्देह गौरव की बात है। श्रीधर कवि से लेकर डॉ० लक्ष्मीनारायण शर्मा तक का परम्पराबद्ध ऐतिहासिक विवरण जहाँ इस कृति की प्रमुख विशेषता है, वहाँ व्यवस्थित लेखन-योजना तथा स्वच्छ, सरल और सारगर्भ प्रतिपादन–शैली इसकी दूसरी विशेषता है।

डॉ० गोयल इस कृति के लिए बधाई के पात्र हैं। आशा है, निरन्तर वर्धमान हरियाणा–साहित्य का वह आकलन करते रहेंगे तथा इस कृति को सर्वांग और अद्यतन बनाने का प्रयत्न करते रहेंगे।

—**श्रीमती प्रतिमा शर्मा**
रिसर्च स्कॉलर (हिन्दी)

पुस्तक का नाम — **संस्कृत नाटकों का जीव-जगत्**
लेखक का नाम — **डॉ० कृष्ण कुमार**
पृष्ठ संख्या — २१८
मूल्य — ८२-०० रुपये
प्रकाशक — मयंक प्रकाशन, भूषण भवन, मण्डी बांस, मुरादाबाद ।

जीव जगत् का मानव के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, विशेषकर भारतीय संस्कृति में, जहाँ वृक्ष भी देवों का पुत्रत्व प्राप्त कर लेते हैं तथा लताएँ भी अपने स्नेहीजनों के प्रति पुष्प एवं फल प्रदान करतो हैं, उस साहित्य में जीव-जगत् के विभिन्न रूपों का निदर्शन स्वाभाविक ही है ।

नाटकों में पशु-पक्षियों का वर्णन इतना विशद नहीं हो सकता जितना कि काव्य में या गद्य-साहित्य में इसका अवसर होता है, क्योंकि अभिनेय होने तथा वर्णनात्मक प्रसंगों की न्यूनता के कारण यह कठिन होता है । परन्तु संस्कृत नाटककारों को जहाँ भी इसका जरा-सा भी अवसर प्राप्त हुआ, उसका उन्होंने पूर्ण उपयोग किया है । अतः जन्तुओं के विभिन्न पक्ष दर्शकों के समक्ष स्पष्ट होते चले गये हैं, फिर भी वे अपना इतना प्रभाव नहीं छोड़ पाते कि जो चिरस्थायी हो सके । इस दृष्टिकोण से नाटकों के जीव-जगत् को एकत्र करना उपादेय है ।

प्रस्तुत पुस्तक भास से दिङ्नाग पर्यन्त (४०० ई०पू० से १००० ई० तक) लगभग १४०० वर्ष के लम्बे अन्तराल में स्थित ४६ नाटकों के आधार पर लिखी गयी है । ४१ पृष्ठ की विस्तृत प्रस्तावना, जन्तुओं का मानव से सम्बन्ध, प्राचीन साहित्य में जन्तुओं का उल्लेख, संस्कृत नाटकों में जन्तुओं का उल्लेख, जन्तु-विज्ञान, जन्तुओं का वर्गीकरण, जन्तुओं का पालना एवं अलंकरण, जन्तुओं के प्रति धार्मिक आस्थाएँ, मानवीय भावनाएँ, कवि प्रसिद्धियाँ, अलंकारों के रूप में उपमान आदि के माध्यम से प्रयोग, मानव के लिए जन्तुओं का उपयोग, इत्यादि सामग्री के माध्यम से अत्यन्त रुचिकर एवं प्रभावकारी बन पड़ी है । पुस्तक का उपयोग इस प्रस्तावना से पर्याप्त बढ़ा है ।

विभिन्न जन्तुओं के मानवोपयोग पर भी लेखक ने कृषि, भोजन, वस्त्र और अलंकार आदि के माध्यम से संस्कृत नाटकों की छवि को उभारा है । अनेक स्थानों पर वेद, ब्राह्मण,उपनिषद्, रामायण एवं महाभारत तथा पुराणों के वाक्यों से उन वर्णनों को प्रमाणित करने का प्रयास किया है । उदाहरणार्थ -

पृष्ठ ३३ पर मांसाहार पर विचार करते समय विभिन्न शास्त्रों से प्रमाण प्रस्तुत किए हैं।

जन्तुओं के माध्यम से स्वास्थ्य-विषयक विचार करते समय विद्वान् लेखक ने अपने आयुर्वेदिक ज्ञान का भी पर्याप्त लाभ उठाया है। वर्गीकरण करते समय प्राचीन साहित्य को दृष्टि में रखा गया है, तो आधुनिक वर्गीकरण भी ओझल नहीं हुआ है। इस विवाद से बचने के लिए ५ वर्ग बनाए गए हैं, जिनमें क्रमशः पशु, पक्षी, जलचर, सरीसृप और क्षुद्र जन्तु लिए गए हैं।

पशुओं के नाटकों में वर्णित आधार के अतिरिक्त उनके विषय में सामान्य जानकारी भी दी गई है जो बहुत स्थानों पर महत्त्वपूर्ण बन पड़ी है। उनका स्वभाव, निवास, आकार-प्रकार तथा भोजनादि भो विभिन्न स्थानों पर प्रदर्शित किए गए हैं। इसके साथ ही जन्तुओं के अनेकों संस्कृत नाम, अंग्रेजी तथा लैटिन नाम देने से पुस्तक की उपयोगिता और बढ़ गई है। इस प्रकार ८० जन्तुओं पर विचार प्रस्तुत किया गया है, जो अत्यन्त उपादेय है।

पुस्तक के अन्त में ५ परिशिष्ट दिए गए हैं, जो क्रमशः आलोच्य नाटकों की सूची, जन्तुओं की संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी तथा लैटिन नामानुक्रमणिका के रूप में हैं तथा सम्बद्ध प्रकरण को ढूंढने में सहायक हैं।

पुस्तक के प्रकाशन में प्रकाशक का श्रम भी प्रतीत होता है, क्योंकि मुद्रण सम्बन्धी त्रुटियाँ नहीं हैं। कागज सामान्य है जिसे देखते हुए पुस्तक का मूल्य कुछ अधिक प्रतीत होता है। किन्तु पुस्तक का कलेवर आकर्षक है और लेखक का श्रम इस मूल्य को देने का दुःख दूर करने में पर्याप्त सहायक है।

—डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार
वेद-विभाग, गु० कां० वि० वि०

पुस्तक का नाम	—	**सत्यदेव परिव्राजक : व्यक्तित्व एवं साहित्यिक कृतित्व**
लेखक का नाम	—	**डॉ० दीनानाथ शर्मा**
प्रकाशक	—	राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली–६
पृष्ठ संख्या	—	२६६, साइज – ८"×६"
मूल्य	—	४० रुपये।

इस संसार में कुछ ऐसे व्यक्तित्व होते हैं जो अपने जीवन के अनुभवों तथा प्रतिभा द्वारा समाज का, राष्ट्र का मार्ग-निर्देशन करते हैं और अपनी लेखनी के प्रसाद से साहित्य को समृद्ध करते हैं। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक इसी प्रकार के महापुरुषों में से हैं। उन्होंने पञ्जाब से लेकर तिरुचापल्ली तक हिन्दी भाषा का पताका को फहराया और अपनी प्रबुद्ध मेधा से कविता, कहानी, निबन्ध, जीवनी, यात्रा-वृत्तान्त आदि हिन्दी-साहित्य की अनेक विधाओं को अपनी लेखनी से समृद्ध किया।

स्वामी सत्यदेव जी त्याग और तपस्या की प्रतिमूर्ति थे; उन्होंने आजीवन अविवाहित रहकर, पूर्ण समर्पणभाव से हिन्दी साहित्य की सेवा की। अपने सम्पूर्ण जीवन की अर्जित सम्पत्ति भी अन्त में उन्होंने 'सत्य ज्ञान निकेतन' की स्थापना के अनन्तर नागरी प्रचारिणी सभा को दान देकर अपनी सात्विक-त्याग भावना का परिचय दिया।

इस प्रकार के महान् व्यक्तित्व पर लेखनी उठाना तथा उनके उत्कृष्ट साहित्य की समालोचना करना भी कोई सरल कार्य नहीं है। डॉ० दीनानाथ शर्मा ने इस महत्त्वपूर्ण कार्य को दायित्व के साथ पूर्ण किया है; इस प्रशंसनीय कार्य के लिए वे हार्दिक बधाई के पात्र हैं।

इस ग्रन्थ को लेखक ने नौ अध्यायों में विभक्त किया है, प्रथम अध्याय में स्वामी सत्यदेव परिव्राजक का विस्तृत परिचय दिया है। द्वितीय अध्याय में उनके निबन्ध-साहित्य का परिचय देते हुए उसका संक्षिप्त विवेचन किया है। तृतीय अध्याय में उनकी लेखन-शैली के १३ प्रकारों का उल्लेख करते हुए उनका सोदाहरण विश्लेषण किया है, इसी अध्याय में उनके शब्द-चयन पर भी विचार किया गया है। चतुर्थ अध्याय में परिव्राजक जी की लेखन–कला का विवेचन किया गया है। पञ्चम अध्याय में उनके यात्रा-साहित्य का उल्लेख करते हुए उसका विस्तृत विश्लेषण किया गया है, जो अत्यन्त मौलिक बन पड़ा है। षष्ठप

अध्याय में उनके जीवनी तथा कथापरक साहित्य का मूल्यांकन हुआ है। सप्तम अध्याय में उनकी कहानियों का संक्षिप्त परिचयपूर्वक विस्तृत विवेचन है। अष्टम अध्याय में उनके काव्यपक्ष तथा भावपक्ष पर विचार हुआ है तथा नवम् अध्याय में परिव्राजक जी द्वारा राष्ट्रभाषा प्रचार और सेवाएँ शीर्षक के अन्तर्गत हिन्दी और ईसाई प्रचारक, हिन्दी और ब्रह्मसमाज, काशी नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी सम्मेलन, गुरुकुल, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ तथा डी०ए०वी० कालेजों को उनका योगदान, भारतेन्दु और उनका मित्रमण्डल, दक्षिणी भारत तथा पञ्जाब में उनके द्वारा हिन्दी प्रचार आदि विषयों का प्रतिपादन है। अन्त में उपसंहार के पश्चात् परिव्राजक जी के साहित्य का काल-क्रमानुसार उल्लेख करते हुए तीन पृष्ठों में सहायक-ग्रन्थों की सूची दी गई है। वस्तुतः लेखक ने परिव्राजक जी के व्यक्तित्व एवं साहित्यिक उपलब्धियों का इस पुस्तक में अधिकारिक विवेचन किया है।

राजपाल एण्ड सन्ज़ जैसे प्रतिष्ठित प्रकाशक द्वारा पुस्तक का प्रकाशित करना ही इस बात का द्योतक है कि कार्य अत्यन्त उत्तम तथा जिज्ञासु अध्येताओं के लिए पठनीय तथा संग्रहणीय है। कागज़ तथा मुखपृष्ठ अत्यन्त उत्कृष्ट एवं आकर्षक बन पड़ा है।

—**राकेश शास्त्री**
संस्कृत विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

प्रह्लाद

(प्राच्यविद्याओं की त्रैमासिक शोध-पत्रिका)

कुलपिता स्वामी श्रद्धानन्द,
समीक्षक कुलगुरु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
तथा
भारत-रत्न श्रीमती इन्दिरा गाँधी
स्मृति-अंक

सम्पादक
डॉ० विष्णुदत्त 'राकेश'
पी-एच०डी०, डी०लिट्०

संयुक्त-सम्पादक
डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा
एम०ए०, पी-एच०डी०

वर्ष : १९८४] (अक्तूबर से दिसम्बर तक) [अङ्क : ३

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रधान संरक्षक

श्री बलभद्रकुमार हूजा

कुलपति

संरक्षक

श्री रामप्रसाद वेदालंकार

आचार्य एवं उप-कुलपति

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ० राधेलाल वार्ष्णेय, जनसम्पर्क अधिकारी

व्यवस्थापक

जगदीश विद्यालंकार

प्रकाशक

वीरेन्द्र अरोड़ा, कुलसचिव

विषय-सूची

क्रम संख्या	विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
१—	वैदिक दीपमाला	पं० सत्यकाम विद्यालंकार	१
२—	सम्पादक की कलम से		२
३—	कुलपुत्र सुनें, कुलपरम्परा के संवाहक सुनें !	श्री बलभद्रकुमार हूजा	१२
४—	गुरुकुल शिक्षा-पद्धति के पुरोधा स्वामी श्रद्धानन्द	वेदमार्तण्ड आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति	१६
५—	नव-जागरण के प्रणेता : स्वामी श्रद्धानन्द	डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा	२०
६—	परम्परागत भारतीय काव्य-चिन्तन और आचार्य शुक्ल जी की लोकमंगल सम्बन्धी अवधारणा	डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी	२४
७—	श्यामपुर-कांगड़ी क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण प्रस्तर प्रतिमाएँ	डॉ० आर०सी० अग्रवाल	२६
८—	आचार्य का स्वरूप	श्री वेदप्रकाश शास्त्री	३४
९—	बालक के विकास में माता-पिता एवं शिक्षकों का योगदान	श्री चन्द्रशेखर त्रिवेदी	४१
१०—	छान्दोग्योपनिषद् का महत्त्व	आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार	४६
११—	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : व्यक्ति और आलोचक	श्री भगवानदेव पाण्डेय	४८
१२—	परिसर परिक्रमा		५५
	(अ) दयानन्द निर्वाण-शताब्दी व्याख्यानमाला	श्री भोपालसिंह	५७
	(आ) विश्वविद्यालय द्वारा संचालित प्रौढ़-शिक्षा के प्रगति-क्रम का निरीक्षण	डॉ० त्रिलोकचन्द	६०
	(इ) गुरुकुल विश्वविद्यालय में माइक्रोबायोलोजी	डॉ० वी०डी० जोशी	६३
१३—	निकष पर (पुस्तक-समीक्षा)	समीक्षक	६९
	(अ) कल्पसूत्र	डॉ० मानसिंह	७१
	(आ) नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती	श्री बलभद्रकुमार हूजा	७४
	(इ) ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यम् खण्ड १-२	डॉ० विष्णुदत्त 'राकेश'	७६
	(ई) बृहस्पति देवता	डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार	८०

'प्रह्लाद' के मुख-पृष्ठ पर अंकित चित्र का विवरण

काँगड़ी ग्राम में आयोजित दस-दिवसीय राष्ट्रीय सेवा योजना शिविर का उद्घाटन कुलाधिपति श्री वीरेन्द्र ने किया। चित्र में श्री कुलाधिपति, कुलसचिव श्री वीरेन्द्र अरोड़ा, आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार, डॉ० सुरेश त्यागी और डॉ० वी० डी० जोशी बैठे हुए हैं तथा कुलपति सम्बोधित कर रहे हैं।
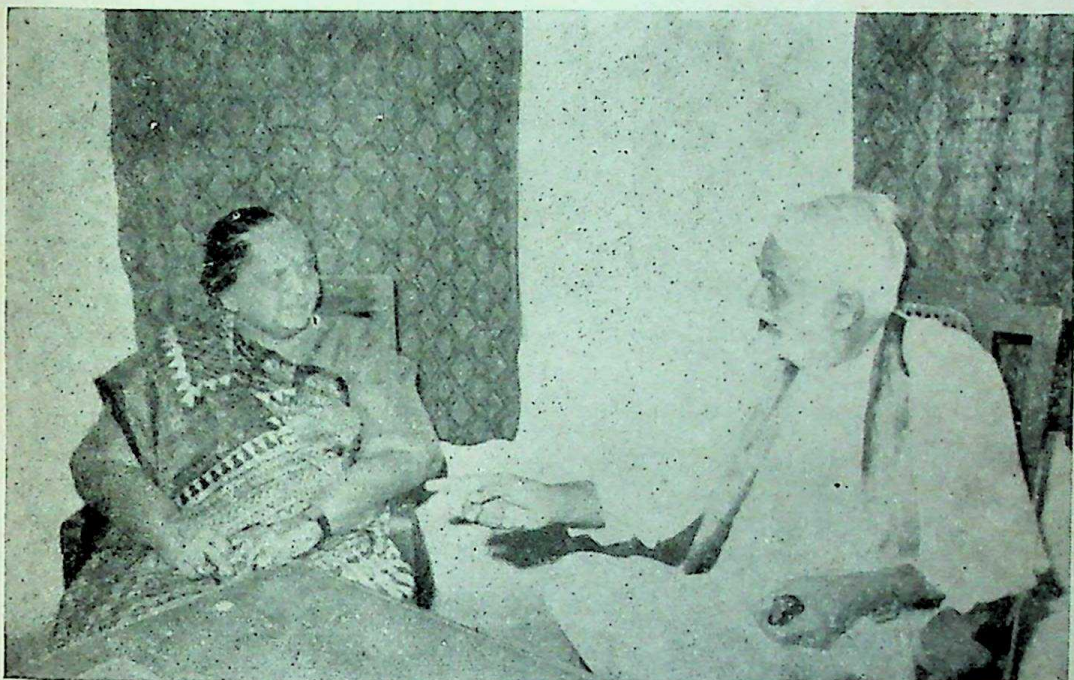
१३ अक्तूबर को विश्वविद्यालय परिसर में विश्वविद्यालय अनुदान–आयोग की अध्यक्ष सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री श्रीमती डॉ० माधुरीशाह पधारीं। डॉ० शाह ने विश्वविद्यालय की प्रगति पर हार्दिक संतोष प्रकट किया। (चित्र में) विश्वविद्यालय के कुलपति श्री बलभद्रकुमार हूजा, श्रीमती शाह को विश्वविद्यालय द्वारा संचालित शैक्षिक क्रिया-कलापों तथा योजनाओं का परिचय देते हुए।
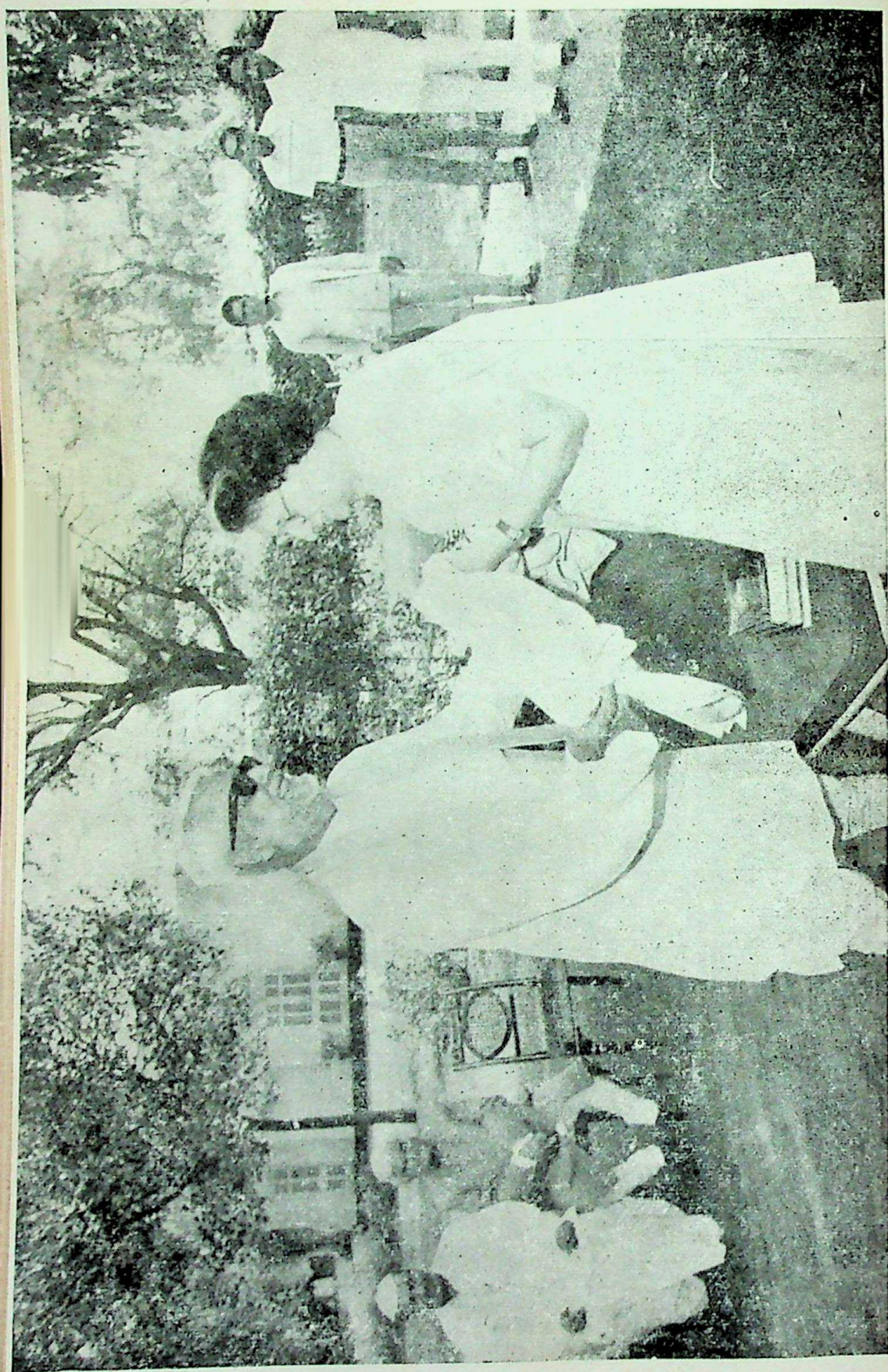
आचार्य प्रियव्रत वेदमार्तण्ड प्रणीत "वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त" ग्रन्थ के विमोचन–समारोह में प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी

वैदिक दीपमाला

गूहता गुह्यं तमो, वियात विश्वमत्रिणम्
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि ।
(ऋक्—१,८६.१०)

खोलो ज्योतिर्द्वार हृदय के, खोलो ज्योतिर्द्वार ।
गूढ़ अँधेरा छाया मन में,
गहन उदासी है जीवन में,
टूट गया आधार, खोलो ज्योतिर्द्वार ।
जीवन का यह पथ दुर्गम है,
आँखों के आगे सब भ्रम है,
कौन करेगा पार, खोलो ज्योतिर्द्वार ।

एह्यूषु ब्रवाणि ते अग्न इत्थेतरा गिरः
एभिर्वर्धास इन्दुभिः ।
(ऋक् ६,१६.१६)

ज्योति अभिनन्दन तुम्हारा ।
आज नैनों के छलकते अश्रुओं से—
ही करूँगा मौन मैं वन्दन तुम्हारा ।

गीत मेरे थम गये हैं,
गान में अक्षम हुए हैं ।
हे हृदयवासी निकट अपने बुलाओ,
कर सकूँ जिससे कि पद–वन्दन तुम्हारा ।

—पण्डित सत्यकाम विद्यालंकार
(वैदिक वन्दना गीत—पृष्ठ १०४,१०५)

सम्पादक की कलम से

कुलपिता शत-शत नमन लो

आधुनिक भारत के पुनर्जागरण के प्रस्तोता तथा गुरुकुल काँगड़ी विश्व-विद्यालय क संस्थापक, कुलपिता स्वामी श्रद्धानन्द जी की एक धर्मान्ध ने २३ दिसम्बर १९३६ को गोली मारकर हत्या कर दीं। स्वामी जी के भौतिक जीवन का अन्त हुआ किन्तु एक पवित्र उद्देश्य तथा मानव-निर्मात्री संस्था के रूप में स्वामी जी मौत के सिर पर पाँव रख कर आज भी जीवित खड़े हैं। हर २३ दिसम्बर को आने वाला सबेरा उस सन्यासी के अमर बलिदान की गैरिक चादर जब ऊषा देवी के हाथ में थमाता है तब लगता है धार्मिक और सामाजिक स्वतन्त्रता और विकास का सूना आकाश एक दिव्य चमक में डूब गया है, इतिहास की स्याही कुंकुम बन गई है और आर्यसमाज का कीर्तिरथ दिग्विजय के पथ पर खड़ा किसी अविचल और निर्भय हुतात्मा सारथी की खोज कर रहा है। उनके निधन पर–कहना चाहिए उनकी वीरगति पर स्पृहा करते हुए **महात्मा गाँधी** ने कहा था— 'मृत्यु एक वरदान है, परन्तु उस योद्धा के लिए वह दुगुना वरदान है जो अपने लक्ष्य तथा सत्य के लिए प्राण दे देता है। मुझे उनकी मृत्यु पर शोक नहीं। मुझे तो उनसे तथा उनके स्वजनों से ईर्ष्या होती है क्योंकि यद्यपि स्वामी जी की देह-लीला समाप्त हो गई तथापि वह जीवित हैं। वह उस समय की अपेक्षा अब अधिक सच्चे अर्थ में जीवित हैं जब वह अपनी विशाल काया के साथ हमारे बीच विचरण किया करते थे। ऐसी शान-दार मृत्यु के कारण वह देश जिसमें उन्होंने जन्म लिया और वह राष्ट्र जिससे उनका सम्बन्ध है, वस्तुतः बधाई के पात्र हैं। वह सम्पूर्ण जीवन एक वीर की तरह जिए और अन्त में एक वीर की तरह ही उनकी मृत्यु हुई।' **महाकवि रविन्द्र नाथ ठाकुर** ने श्रद्धाँजलि में अपने उद्गार व्यक्त करते हुये लिखा— 'सत्य के प्रति श्रद्धा के मूर्तरूप इस श्रद्धानन्द को हम उनके चरित्र के मध्य सार्थक आकार में देख रहे हैं। उनकी मृत्यु कितनी ही दुःखदायक क्यों न हुई हो किन्तु इस मृत्यु ने उनके प्राण एवं चरित्र को उतना ही महान् बना दिया है।' **राष्ट्ररत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद** उन्हें भारत का सांस्कृतिक अग्रदूत मानते थे। उनका यह कथन कितना सार्थक है कि उनकी निर्भीकता, साहस व स्पष्ट-वादिता के गुणों को अंग्रेजी सरकार अच्छी तरह जानती थी। जो लोग काले कानून के विरोधी आन्दोलन के समय दिल्ली के चाँदनी चौक में मौजूद न भी थे, उनके हृदय-पट पर स्वामी जी की वह निर्भीक मूर्ति अमिट रूप से चित्रित

है। उस समय स्वामी जी ने अंग्रेजी गोलियों और संगीनों के सामने अपना सीना खोलकर हृदय की निर्भीकता तथा उच्चता का प्रत्यक्ष उदाहरण उपस्थित किया। उनकी उस शुद्ध तथा उच्च भावना ने जामा मस्जिद के मिम्बर से उनसे उपदेश कराया और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का मनोरम दृश्य दिखलाया और उसी दृढ़ता, सत्यनिष्ठा, स्पष्टवादिता और निर्भीकता के कारण आततायी के हाथों से शहादत पाई। भारत के आधुनिक इतिहास में स्वामी जी का स्थान प्रथम सांस्कृतिक पथप्रदर्शक का है। जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड के बाद पंजाब के आतंकपूर्ण वातावरण में कांग्रेस के महाधिवेशन का सयोजन उनके निर्भीक व्यक्तित्व का ही परिणाम था। सत्य, अहिंसा और सदाचार पर आधारित राजनीति का उन्होंने समर्थन किया। विदेशी परिधान, रहन-सहन खान-पान तथा विचारधारा का उन्होंने विरोध किया। वह कौम की जरूरत पूरी करने वाले राष्ट्रभक्त नौजवान पैदा करना चाहते थे इसीलिये उन्होंने पण्डित मोतीलाल नेहरू के एक पत्र के उत्तर में कहा था कि वह ब्रह्मचर्याश्रम पद्धति पर आधारित प्राचीन शिक्षा प्रणाली का उद्धार करना चाहते हैं। अछूत कहलाने वाली जातियों को विराट् आर्य जाति की धारा में मिलाना चाहते हैं, हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर समासीन करना चाहते हैं तथा अहिंसा के क्रियात्मक प्रचार और पददलित मनुष्यों तथा स्त्री जाति के उद्धार के लिये प्रयत्न करना चाहते हैं। कहना न होगा, स्वामी जी अपने महान् उद्देश्य में सफल हुए।

स्वामी श्रद्धानन्द ने पंजाब तथा दिल्ली में शिक्षा तथा हिन्दी प्रचार का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अंग्रेजी तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सामंजस्य के साथ वैदिक तथा संस्कृत साहित्य और दर्शन के पठन-पाठन पर उन्होंने विशेष ध्यान दिया। गुरुकुल काँगड़ी उनके इन्हीं सपनों का साकार रूप है। स्त्री-शिक्षा समर्थक होने के कारण १८९१ ई० में जालंधर में उन्होंने कन्या महाविद्यालय की भी स्थापना की। इस विद्यालय की ओर से 'पाँचाल पण्डिता' नामक पत्रिका अंग्रेजी और हिन्दी में निकली जिसने नारी-जागरण की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

स्वामी जी ने उर्दू में 'सद्धर्म प्रचारक' निकाला, बाद में उसे हिन्दी में कर दिया गया। साप्ताहिक उपदेशों के साथ शिक्षा तथा राजनीति पर उनके लेख हिन्दी में छपने लगे। 'श्रद्धा' नामक पत्रिका भी स्वामी जी ने निकाली। 'सद्धर्म प्रचारक' उनके पुत्रों हरिश्चन्द्र वेदालंकार तथा इन्द्र विद्यावाचस्पति के निरीक्षण में प्रकाशित होता रहा। स्वामी जी की हिन्दी पर उर्दू गद्य के ओज का पूर्ण प्रभाव देखा जा सकता है। उनसे प्रेरणा लेकर इन्द्र जी ने विजय, अर्जुन

और सत्यवादी साप्ताहिक निकाले। कुछ समय बाद 'अर्जुन' दैनिक हो गया। अर्जुन ने कई स्नातक पत्रकारों को पत्रकारिता का क्रियात्मक प्रशिक्षण दिया था। स्वामी जी के दौहित्र श्री सत्यकाम विद्यालंकार ने भी १९३३-३४ में दिल्ली से 'नवयुग' नामक एक दैनिक का सम्पादन किया। स्वामी जी की आत्मकथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' १९२४ में ज्ञानमण्डल काशी से छपी। उनसे पूर्व जीवनी साहित्य तो लिखा गया पर आत्म-कथा लेखन के क्षेत्र में हिन्दी में भाई परमानन्द कृत 'आपबीती' (१९२१) के अतिरिक्त और कोई कृति नहीं थी। १९१० में सत्यानन्द अग्निहोत्री कृत 'मुझमें देव-जीवन का विकास' एक कृति अवश्य प्रकाशित हुई थी पर यह कृति साहित्यक गुणों से पूर्ण नहीं है। महात्मा-गांधी को आत्मकथा का अनुवाद हिन्दी में हरिभाऊ उपाध्याय नें १९२७ में किया था।

स्वामी जी का व्यक्तित्व इतना महान् था कि महात्मा गाँधी और श्री दीनबन्धु एण्ड्रूज़ उन्हें भी 'महात्मा' कहकर ही सम्बोधित करते थे। महात्मा जी तो गुरुकुल देखने के लिये इतने अधीर हो गये थे कि ८ अप्रैल १९१५ को गुरुकुल के उत्सव पर कांगड़ी पधारे। उन दिनों वह कच्छी पगड़ी बाँधा करते थे। महात्मा जी ने महामना मालवीय जी से कहा था कि महात्मा तो मुंशी राम हैं जो गंगा किनारे प्राचीन ऋषियों की परम्परा को पुनरुज्जीवित कर रहे हैं। रेम्जे मैकडानल्ड उनके ऋषि जीवन से इतने प्रभावित हुए कि उन्हें लिखने को विवश होना पड़ा— 'एक महान्, भव्य और शानदार मूर्ति— जिसको देखते ही उसके प्रति आदर का भाव उत्पन्न होता है, हमारे आगे हमसे मिलने के लिये बढ़ती है। आधुनिक चित्रकार ईसा मसीह का चित्र बनाने के लिए उसको अपने सामने रख सकता है और मध्यकालीन चित्रकार उसे देखकर सेंट पीटर का चित्र बना सकता है।'

उनके बलिदान पर्व पर हम कुलवासी उन्हें डबडबाये नेत्रों से श्रद्धाँजलि अर्पित करते हैं। कुलपति श्री बलभद्रकुमार हूजा ने कांगड़ी ग्रामोद्धार का महान् यज्ञ श्रद्धाँजलि के रचनात्मक अंग के रूप में ही प्रारम्भ किया। महान् विचारक श्री दीनबन्धु एन्ड्रूज ने कहा भी था कि जब-जब उनकी बलिदान तिथि आये तब-तब उनके सच्चे प्रेमियों का ध्यान उनके प्रिय पात्र गरीबों और दलितों की ओर जाना चाहिये और उन दलितों-गरीबों को भी परमात्मा की सन्तान समझना चाहिए।

आत्मत्याग, कर्तव्यपालन तथा कष्टसहन की प्रेरणा लेकर हमें कहना होगा—

तू ये दो जहाँ की नियामतें उन्हें बख्श दे जो तलब करें,
मुझे बन्दगी का शऊर दे, तेरी बन्दगी मेरा काम है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल शताब्दी समारोह

हिन्दी ही नहीं, भारतीय भाषाओं के साहित्य-समीक्षकों में मौलिक समीक्षाकार आचार्य शुक्ल की जन्म शताब्दी पूरे देश में सोत्साह मनाई जा रही है। शुक्ल जी का जन्म बस्ती जिले के अगोना नामक गाँव में १८८४ में हुआ। इनके पिता पण्डित चन्द्रबली शुक्ल मीरजापुर जिले में सदर कानूनगो थे। उन पर मुस्लिम तहजीब और उर्दू का गहरा रंग था, पोशाक भी अभारतीय और उस पर दाढ़ी, वे किसी मुसलमान नवाब की तरह प्रतीत होते। एक बार वे चुनार का दौरा कर रहे थे, हिन्दू दंगाइयों ने उन्हें मुसलमान समझकर पकड़ लिया। यदि चुनार के पण्डित राजाराम उनसे परिचित न होते तो वे उस दिन निश्चय ही मार डाले गये होते। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के भ्रातुष्पुत्र श्री चन्द्र-शेखर शुक्ल ने लिखा है कि १८८० के बाद आर्य समाज की लहर उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में उमड़ आयो। पण्डित चन्द्रबली जी भी उससे बच न सके। आर्य समाज के कतिपय सिद्धान्तों का उन पर असर पड़ा। सत्यार्थ प्रकाश और ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका उन्होंने खरीद कर पढ़ी। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों में आर्य समाज के विचारों का अच्छा प्रचार हुआ। उन्हें आर्य समाज के तर्क पसंद आए। धीरे-धीरे पुराणों की ऊट-पटांग बातों में लोगों का विश्वास घटने लगा। इस तरह वे आर्य समाज की पुस्तकें और प्रचार पुस्तिकाएँ पढ़ने के सिलसिले में हिन्दी से अधिकाधिक परिचित होते गये।[1] तात्पर्य यह है कि आचार्य शुक्ल का परिवार आर्य विचारधारा का परिवार था। उन पर आर्य समाज का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

शुक्ल जी की प्रारंभिक शिक्षा एंग्लो संस्कृत जुबली स्कूल में हुई। मिडिल पास करके वे लंदन मिशन स्कूल में भर्ती हुए। इसके हैडमास्टर श्री काशीनाथ बरुआ आसामी ब्राह्मण थे, जो ईसाई हो गये थे। प्रधानाचार्य एफ० एफ० लांगमैन थे जो अंग्रेजो और दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान थे। लांगमैन से उक्त दोनों विषयों का गहरा ज्ञान उन्हें मिला। १६ वर्ष की वय में ही उन्होंने एडिसन के 'एसे ऑन इमेजिनेशन' का हिन्दी अनुवाद कर दिया था। हिन्दी के प्रसिद्ध समीक्षक तथा जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० नामवर सिंह ने साहित्य अकादमी दिल्ली द्वारा आयोजित शुक्ल शताब्दी समारोह में कहा था कि अपने समकालीन समीक्षकों में शुक्ल जी इतने जागरूक पाठक थे कि इधर रिचर्डस् की पुस्तक बाजार में आई और उधर उन्होंने हिन्दी में उसके धुर्रे उड़ा दिये। क्रोचे की उन्होंने बखिया उधेड़ी और साधारणीकरण तथा ध्वनि-विवेचन में भरत मुनि से लेकर आनन्दवर्धन तथा

केशवप्रसाद मिश्र तक को बिना किसी दबाव और साहित्यिक आतंक के ललकार दी। शुक्ल जी के पट्टशिष्य, हिन्दी के मूर्धन्य विद्वान् आचार्य पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ठीक ही कहा है कि हिन्दी में नित्य अनुसंधान हो रहा है। यह कैसे कहा जाये कि कुछ नहीं हो रहा है, हो अवश्य रहा है पर शुक्ल जी की कसौटी पर कसते हैं तो हम जहाँ के तहाँ हैं। आधुनिक युग में उपन्यास कहानी का जैसा वर्गीकरण शुक्ल जी ने कर दिया, कविता का जैसा निरूपण प्रस्तुत कर दिया, पश्चिमी आलोचना का समुद्र पी जाने वाले भी उतना न उगल सके। शुक्ल जी ने समीक्षा की जो दृष्टि हिन्दी को दी वह किसी आधुनिक भारतीय भाषा या साहित्य में नहीं है।[2] जो उन्हें रिचर्ड्स या डंटन से प्रभावित कहते हैं वे अंग्रेजी से अभिभूत हैं। रिचर्ड्स को उन्होंने साक्षी रूप में पेश किया है। डंटन की आधी बात भी पूरी नहीं मानते। चरित्र-चित्रण का अपना नपना उन्होंने तुलसीदास में अपनाया।

अलंकारों का अपना निकष निकाला उन्होंने। न मम्मट के कहने पर चले न बेन के इशारे पर। फिर भी ऐसे मेरु-सुमेरु को बात की फूँक से उड़ा देना चाहते हैं, कलके जोगी आज के महंत। वास्तविकता यह है कि शुक्ल जी की वाणी जिस कवि को ऊँचे उठा गई वह ऊँचे उठ गया, जिसे गिरा गई वह गिर गया।

शुक्ल जी ने हिन्दी में एक स्वतन्त्र समीक्षा-निकाय की स्थापना ही कर डाली। ऐतिहासिक और व्याख्यात्मक आलोचना की नींव उन्होंने ही डाली। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में प्राचीन कवियों की समीक्षा तथा नये साहित्य की प्रवृत्तियों के आकलन में साहित्यकार की अन्तर्वृत्तियों का सामाजिक परिस्थितियों के साथ सामंजस्य दिखाते हुए साहित्यिक धाराओं के विश्लेषण, वर्गीकरण तथा उपस्थापन में उन्होंने मनोवैज्ञानिक पद्धति का भी उपयोग किया। धार्मिक तथा साहित्येतर मूल्यों को वह साहित्य से बाहर की वस्तु मानते रहे। नाथपंथी तथा रहस्यवादी काव्य को उन्होंने कभी शुद्ध कविता नहीं माना। शान्ति निकेतन के प्रभावापन्न हिन्दी-आचार्य शुक्ल जी से तथा उनके परिकर के समीक्षकों से इसीलिए अन्त तक खिंचे रहे। शुक्ल जी प्राचीन रसपद्धति की उपयोगितावादी व्याख्या सामाजिक नैतिकता के आधार पर करते रहे। योरुप में उन्नीसवीं शताब्दी में बैन्थम तथा ऑस्टिन आदि दार्शनिक कला को सामाजिक तथा नैतिक चेतना से जोड़ चुके थे। शुक्ल जी की यहाँ नवीनता इस बात में भी है कि उन्होंने साहित्य में आरोपित धार्मिक, नैतिक तथा राजनीतिक प्रतिबद्धता का विरोध किया है। रस्किन और टॉलस्टाय की तरह वह धार्मिक व्याख्या के लिये हठी नहीं, उनकी दृष्टि विशुद्ध साहित्यिक

है। रक्षा और रंजन, करुणा और प्रेम उनके काव्यास्वाद में निहित है। रूपसौंदर्य, भावसौंदर्य और कर्मसौंदर्य के प्रतिपादन तथा विश्लेषण में ही वह कवि और समीक्षक के कार्य की सार्थकता मानते हैं। शुक्ल जी के शिष्यों में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय, पण्डित कृष्णशंकर शुक्ल, जनार्दन प्रसाद झा द्विज तथा डा० केशरी नारायण शुक्ल ने पाठसम्पादन, मध्यकालीन काव्य, आधुनिक काव्य, कथा, नाटक पर समीक्षाएँ लिखीं। व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में शुक्ल जी ने जायसी, सूर, तुलसी पर तर्कपूर्ण, परस्पर सम्बद्ध, भावप्रधान तथा लोकसंग्रही दृष्टि से ग्रन्थ रचना की। मार्मिक जीवनानुभूतियों की हृदयग्राही अभि-व्यक्ति की दृष्टि उन्होंने सर्वत्र अपनाई। आधुनिक काव्यप्रवृत्तियों के विवेचन में उन्होंने बाद में अपना स्वर भी बदल लिया। १९३१-३२ तक आचार्य नन्द-दुलारे वाजपेयी तथा १९३८ में डा० नगेन्द्र ने छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियों और रूपशिल्प पर अधिकृत विवेचन प्रकाशित कराया। शुक्ल जी ने अपने इतिहास में इस तथ्य को स्वीकार किया। तात्पर्य यह है कि शुक्ल जी नवीन ज्ञान और स्थापनाओं के विरुद्ध न थे, वह परीक्षा के बाद उचित और उपयोगी को स्वीकार करते थे। शुक्ल जी के इतिहास में नवीन तथ्यों की तो खोज नहीं है पर उपलब्ध सामग्री का ऐसा विराट् खाका खींच दिया गया है कि उपलब्ध नवीन तथ्यों का श्रमपूर्वक लगाया गया ढेर भी मूल स्थापनाओं को सर्वथा खण्डित करता नहीं जान पड़ता। चिन्तामणि, रसमोमांसा, हिन्दी साहित्य का इतिहास, जायसी तथा तुलसी ग्रन्थावली उनकी कालजयी रचनाएँ हैं।

वे सिद्धहस्त निबन्धकार थे। बुद्धचरित और शशांक के अनुवाद से उन्हें कुशल अनुवादक भी कहा जा सकता है। वे कवि थे। उनकी प्रथम कविता भारत और बसंत आनन्द कादम्बिनी में १८९६ में तथा मनोहर छटा १९०१ में सरस्वती में छपी। उनकी प्रसिद्ध कविता मधुस्रोत १९३० में सुधा में छपी। नागरी प्रचारिणी सभा ने उनकी कविताओं का संकलन प्रकाशित कराया है। उन्होंने १९०८ से १९२७ तक सभा में रह कर शब्दकोष का सम्पादन किया। इसके प्रधान सम्पादक डा० श्यामसुन्दर दास ने अपनी आत्मकहानी में लिखा है कि यदि यह कहा जाय कि शब्दसागर की उपयोगिता और सर्वांगपूर्णता का श्रेय पण्डित रामचन्द्र शुक्ल को प्राप्त है तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। एक प्रकार से यह उन्हीं के परिश्रम, विद्वत्ता और विचारशीलता का फल है। कोश ने शुक्ल की को बनाया और कोश को शुक्ल जी ने।"

शुक्ल की अंग्रेजी के उद्भट् विद्वान थे। वही ऐसे व्यक्ति थे जो पढ़ाई और परीक्षा का कार्य अंग्रेजी माध्यम द्वारा करा सकते थे। यूनिवर्सिटी का

तब नियम ही वैसा था। मालवीय जी ने १६१६ में ही उन्हें काशी में अध्यापक बना दिया था। हिन्दी पद्यों के भावों को चटपट अंग्रेजी में बदल देना उनके बायें हाथ का खेल था। डा० श्यामसुन्दर दास १६२१ में विश्वविद्यालय आये थे। उनसे पूर्व शुक्ल जी निबन्ध-लेखन पढ़ाया करते थे। लाला भगवानदीन जी अलंकारशास्त्र तथा प्राचीन साहित्य के पण्डित थे। केशव की रामचन्द्रिका तथा कविप्रिया की टीका लिखकर उन्होंने आचार्य मिश्र के शब्दों में हिन्दी प्राध्यापकों की इज्जत बचाई थी पर अंग्रेजी के अभ्यास के न होने से वह विश्व-विद्यालय में उस आसन पर न बैठ सके जिस पर बाबू श्यामसुन्दर दास बैठे। पराधीन भारत के विश्वविद्यालय की यह विडम्बना थी। शुक्ल जी सभा के अध्यक्ष रहे, उन्होंने नागरी प्रचारिणी पत्रिका का सम्पादन किया। १६३७ में वह विश्वविद्यालय के अध्यक्ष पद पर आसीन हुए तथा २ फरवरी १६४१ में हृदय गति रुक जाने से उनका निधन हुआ। अन्तिम समय में उनके पास तसव्वुफ और सूफी मत के लेखक पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय थे जिन्हें शुक्ल जी शाह साहब कहा करते थे। उनके निधन का समाचार सुनते हो काशी विश्वविद्यालय के प्रो-वाइसचांसलर वयोवृद्ध श्री श्यामाचरण डे विह्वल होकर मार्ग में ही गिर पड़े थे। १६४१ की माधुरी में छपी उनके निधन पर रोहिताश्व कुमार अग्रवाल की ये पंक्तियाँ उनकी मृत्यु का पूर्वाभास कराने के लिये पर्याप्त हैं—

'शुक्ल जी ने शुक्रवार ३१ जनवरी सन् ४१ तक क्लास लिया। मैथिली-शरण जी की यशोधरा पढ़ा रहे थे जिसमें बुद्ध कहते हैं— 'क्षणभंगुर भव राम राम।' आलोचना करते हुए उन्होंने कहा—बुद्ध देव संसार से कहते हैं—हे नाश-वान् जगत्! तू मुझे छोड़ दे नहीं तो मैं ही तेरे हित के लिये तुझे छोड़ दूँगा। कौन जानता था कि वे स्वयं संसार से विदा ले रहे हैं। चलते समय उन्होंने एक बार फिर कहा--आदाब अर्ज़! राम-राम!'

आचार्य शुक्ल के पट्ट शिष्य और मेरे गुरुवर्य आचार्य पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, शुक्ल जी के निधन पर पढ़ी गई श्रद्धाँजलि के दो श्लोक सुनाया करते थे, जिनका भाव है— साक्षात् आलोचना के रूप में जायसी, तुलसी और सूर के काव्य-वैभव की पहचान कराने वाली तथा साहित्य के इतिहास की सृष्टि कराने वाली हिन्दी ही जिस महापुरुष के निधन पर हा-हा करती रो पड़ी थी, यदि काव्य-कला के न जानने वाले छिद्रान्वेषी उनकी निन्दा करें तो कोई आश्चर्य न होगा क्योंकि वे असज्जन गिद्ध के समान दूसरों के दोष ही देखा करते हैं—

आलोचना विभव विग्रह निर्विशेषः,
श्री जायसी तुलसि सूर गतिः स चासीत्।

भाषेतिहास सुसमीक्षितकाव्यसृष्टेः,
हा हेति यस्य निधनेन रुरोद हिंदी ॥
छिद्रानुकर्षणपरैरपरैर्यदि स्या-
न्निंदाकृता सकल काव्यकलाऽनभिज्ञैः ।
तच्छोभनं महदसत्यपदं न चैत-
द् दुष्टः प्रसह्य परदूषण गृध्र दृष्टिः ॥

इन शब्दों के साथ हिन्दी समीक्षक कुलगुरु आचार्य शुक्ल को प्रणाम।

१—आचार्य रामचंद्र शुक्ल—पृष्ठ ३१
२—शुक्ल जी को आधुनिक भारत के संश्लिष्ट काव्यशास्त्र का मेरुदण्ड मानना चाहिये।

डा० नगेन्द्र— भारतीय समीक्षा-पृष्ठ ३३

भारत-रत्न श्रीमती इन्दिरा गाँधी का बलिदान

३१ अक्टूबर ८४ का दिन विश्वशान्ति के इतिहास में धूम्रकेतु की तरह आया। भारतीय राजनीतिक वर्चस्व का सूर्य श्रीमती इन्दिरा गाँधी के रूप में अस्त हो गया। प्रधानमंत्री आवास ही में उनके सुरक्षा सिपाहियों ने उनकी गोली मार कर हत्या कर दी। स्वामी श्रद्धानन्द तथा महात्मा गाँधी के बलिदान के द्विभुज में यह तीसरी भुजा जुड़ी। इतिहास का फीता इस त्रिवेणी की बलि-दान-धारा को नापने के लिए बहुत छोटा पड़ गया है।

इन्दिरा जी का जीवन और मृत्यु दोनों शानदार रहे हैं। निर्गुट सम्मेलन का आयौजन और फिर निर्गुट राष्ट्रों का नेतृत्व कर अपनी प्रतिभा, सूझबूझ, संगठन-क्षमता, निर्भीकता और विश्व-संवेदनशीलता के कारण उन्होंने तीसरी शोषणमुक्त शान्तिप्रिय दुनियाँ के निर्माण की नींव डाली। सार्वजनीन लोक-प्रियता तथा धर्मनिरपेक्षता के प्रतीक रूप में उनका वर्चस्व न सह सकने के कारण वह एक बड़े षड्यंत्र का शिकार बनीं। दीन-दलितों की मसीहा तथा शक्ति-सम्पन्न समृद्ध भारत की निर्माता, आज हिमालय के हिम-मण्डित शिखरों में अनन्त निद्रा में लीन होकर भी भारतीय युवकों को ऊँचा और ऊँचा उठने की प्रेरणा दे रही हैं। लोकतंत्र, समाजवाद तथा धर्मनिरपेक्षता के लिए बलिदान हो जाने वाली इस राष्ट्र-जननी को हमारे शत-शत प्रणाम।

१९ नवम्बर १९१७ को उनका जन्म प्रयाग के आनन्द भवन में हुआ था। उनके पिता पण्डित जवाहरलाल नेहरू और पितामह पण्डित मोतीलाल नेहरू स्वतन्त्रता संग्राम की रीढ़ थे। मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में सम्पन्न होने वाले कांग्रेस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष स्वामी श्रध्दानन्द रहे और इस प्रकार नेहरू परिवार को स्वामी जी का आशीर्वाद तथा सक्रिय सहयोग सहज प्राप्त हो गया। कांग्रेस के क्रिया-कलापों का प्रतीक था आनन्द भवन। अतः इन्दिरा जी को शैशव में घुट्टी के साथ राष्ट्रप्रेम, त्याग, तप और स्वतन्त्रता के लिए मर-मिटने की प्रेरणा प्राप्त हुई। बड़ी होने पर जहाँ उन्होंने १९३४ में शान्ति निकेतन में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सान्निध्य में शिक्षा प्राप्त की वहाँ १९३६ में आक्सफोर्ड के समरविल कालेज में प्रविष्ट होकर वह पाश्चात्य साहित्य, राजनीति तथा दर्शन की अध्येता बनी। वह भारतीय सांस्कृतिक इतिहास, धर्म, दर्शन, साहित्य तथा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का अनोखा संगम थीं। इंग्लैंड में रहते हुए वह कृष्णमेनन से प्रभावित हुई तथा लेबर पार्टी में शामिल होकर मजदूर दल के अधिवेशनों में भी भाग लेने लगी। १९४२ में उनका विवाह श्री फिरोज गाँधी से हुआ तथा विवाह के छह महीने बाद ही वह १३ महीने के लिए जेल चली गई। १९४४ से १९४६ के बीच उनके पुत्र राजीव और संजय का जन्म हुआ। श्री राजीव योग्य माता के योग्य पुत्र हैं और उनके अधूरे कार्यों को पूर्ण करने का संकल्प लेकर प्रधानमंत्री पद पर आसीन हुए है। उनसे देश को बड़ी आशाएँ हैं।

१९४७ में देश आज़ाद हुआ। साम्प्रदायिक दंगों के बीच महात्मा गाँधी की प्रेरणा से वह निर्भीकतापूर्वक आगे बढ़ीं। आपसी सद्भाव के निर्माण में उनके योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। नेहरू जी के प्रधानमंत्री होने पर वह उनकी मुख्य सहायक रहीं। ढेबर भाई के कांग्रेस अध्यक्ष का पद छोड़ने पर २ फरवरी १९५९ को वह बयालीस वर्ष की आयु में काँग्रेस का अध्यक्ष चुनी गईं। ९ फरवरा को काँग्रेस संसदीय पार्टी ने जब उनका सम्मान किया तो पण्डित नेहरू ने कहा था—'मुझे उनके अच्छे मिजाज पर, काम करने की शक्ति पर, ईमानदारी और संजीदगी पर गर्व है।' इन्दिरा जी उनकी पुत्री ही नहीं, शिष्या भी थीं। १९३० से १९३३ तक विश्व इातहास की झलक दिखाने के लिए नेहरू जी ने इन्दिरा जी के नाम जो पत्र लिखे थे, वह उनका पत्राचार द्वारा किया गया शिक्षण ही था। १९६४ में नेहरू जी के निधन के बाद श्री लालबहादुर शास्त्री के मंत्रिमण्डल में उन्हें सूचना-प्रसारण मंत्रालय का काम सौंपा गया। २४ जनवरी १९६६ को वह भारत की तीसरी तथा पहली महिला प्रधानमंत्री बनीं। पाकिस्तान के साथ युद्ध में विजय, बांगला देश का निर्माण, नक्सलवाद का ध्वंस, बैंकों का राष्ट्रीयकरण, उपग्रह प्रणाली का विकास, पोकरन का अणु विस्फोट, काँग्रेस का विभाजन, गरीबी उन्मूलन, बीस सूत्री कार्यक्रम,

भू-उपग्रह और दूर-संचार तकनीक का विकास, पंजाब के आतंकवाद का सामना तथा गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का नेतृत्व उनके राजनीतिक जीवन की उपलब्धियाँ हैं। अपने कार्यकाल में वह सबसे विवादास्पद रहीं और विवाद के घेरे में पड़कर भी वह प्रगति की राह से विचलित नहीं हुईं, यह थी उनकी अडिगता और स्थितप्रज्ञता।

उनका सारा जीवन चुनौतियों का सामना करते हुए व्यतीत हुआ। जिस धर्मनिरपेक्षता, समानता और लोकतंत्र के लिए वह जीवन भर कार्य करती रहीं, उन्हीं मूल्यों की रक्षा के लिए उन्हें अपनी जान गँवानी पड़ी। यह दुर्घटना राष्ट्र की एकता को तोड़ने का षड्यंत्र करने वालों की चुनौती है, जिसका सामना इन्दिरा जी के बताए हुए मार्ग पर ही चल कर किया जा सकता है। उनके अभाव से देश लड़खड़ा अवश्य गया है, देश की आंतरिक व्यवस्था को भी छिन्न-भिन्न करने की चेष्टा की गई है, पर यह चुनौती मुश्किल तो है, असाध्य नहीं। देश की सम्बद्ध परम्पराओं को टूटने से बचाने के लिए हमें एकजुट होना है और इसी रूप में हम दिवंगत प्रधानमंत्री को सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित कर सकते हैं। उनके बलिदान का स्वर्णकलश युग-निर्माण की पवित्र गायत्री को जन्म देगा। कौन कहता है कि उनसे युग का अन्त हुआ ? अब तो नये युग का प्रारम्भ होगा।

वर्तमान अंक

प्रह्लाद का यह अंक कुलपिता स्वामी श्रद्धानंद तथा समीक्षक कुलगुरु आचार्य शुक्ल की स्मृति में संयुक्तांक है। इस अंक के लेखक, सह–सम्पादक तथा प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने सामग्री, सुझाव तथा सहायता देकर अंक आपके हाथों तक पहुँचाने में सुकरता प्रदान की।

— **डा० विष्णुदत्त राकेश**
सम्पादक

———

कुलपुत्र सुनें, कुलपरम्परा के संवाहक सुनें !

बलभद्रकुमार हूजा
कुलपति

प्रतिवर्ष २३ दिसम्बर को अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी का बलिदान-दिवस आता है। हम उस दिन प्रातःस्मरणीय स्वामी जी को श्रद्धा-सुमन सर्मपित करते हैं और समझते हैं कि हमारा कर्त्तव्य पूरा हो गया। स्वामी जी ने अपने बलिदान से पूर्व जो वसीयत लिखी थी, उसमें विशेष रूप से कहा था कि गुरुकुल की अपनी सभी विशेष परम्पराओं के साथ रक्षा की जाय। मैं ९ वर्ष पहले यही संकल्प लेकर इस पुण्यभूमि में प्रविष्ट हुआ। मुझे बताया गया कि गुरुकुल में अराजकता है और पठन-पाठन का कार्यक्रम भी व्यवस्थित और सुचारु रूप से नहीं चल पा रहा है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की जो जाँच समिति मुझ से पूर्व आई थी उसने अपने प्रतिवेदन में स्पष्ट रूप से लिख दिया था कि विश्वविद्यालय स्वामी जी द्वारा निर्धारित तथा आयोग द्वारा अपेक्षित लक्ष्य को पूर्ण करने में असमर्थ रहा है, अतः इसका विश्वविद्यालय के समकक्ष स्तर समाप्त कर, इसे मेरठ विश्वविद्यालय से सम्बद्ध महाविद्यालय बना देना चाहिए। आयुर्वेद महाविद्यालय तब हमारा अंग था। वहाँ के अध्यापकों को कई मास से वेतन नहीं मिला था। वेतनभोगियों की उस दुर्वह स्थिति का अनुमान लगाना भी क्लेशकर है। मेरे आग्रह पर तत्कालीन कुलसचिव डा० गंगाराम ने विश्वविद्यालय फंड से तीस हजार रुपया देकर उनके बकाया वेतन का भुगतान किया। आर्थिक संकट से विपन्न विश्वविद्यालय की समस्याओं में गहराई से उतर कर मैंने विचार किया और पाया कि विश्वविद्यालयीय संविधान के संशोधन के बिना विश्वविद्यालय दलगत राजनीति की काली छाया से उबर कर ज्ञान और समृद्धि का सूर्य परिसर में नहीं उगा सकता। विश्वविद्यालय के गुरुजन तथा शिष्य अनुसंधान, शिक्षा तथा प्रसार के कार्य में दत्तचित्त होकर आगे नहीं बढ़ सकते। फलतः इस हेतु पद्मभूषण डा० सूर्यभानु की अध्यक्षता में १० सदस्यीय समिति का निर्माण हुआ जिसने संविधान में उपयुक्त संशोधन प्रस्तावित किए। संतोष का विषय है कि आज विश्वविद्यालय के पास ऐसा संविधान है जो उसके स्वरूप की रक्षा तथा स्थायित्व में पूर्ण सहायक हो सकेगा। इसके लिए श्री पिल्ले तथा डा०गंगाराम धन्यवाद के पात्र हैं। इस संविधान में यह व्यवस्था है कि कुलपति के मनोनयन में अनुदान आयोग का प्रतिनिधि

रहेगा ताकि कुलपति पद के दो-दो दावेदार न पैदा हो सकें जिसके कारण पिछले वर्षों में गुरुकुल की खिल्ली उड़ती रही है। कुलाधिपति की चयन-प्रक्रिया भी बदली गई। किसी भी विद्वान् को अब इस पद हेतु तीन वर्ष के लिए चुना जा सकता है। इन दो मुख्य संशोधनों से गुरुकुल में स्थायित्व आया।

गुरुकुल का प्रारंभ में कार्यभार सँभालते ही गुरुजन के परामर्श और सहयोग से गुरु-शिष्य परम्परा का उद्धार करने के लिए हमने श्रद्धानन्द, दयानन्द, लाजपतराय, भगत सिंह तथा नेहरू परिवारों का गठन किया और आश्रमों में दैनिक संध्या-हवन का प्रबन्ध किया। शनैः शनैः गुरुकुल का वातावरण बदला और गुरुकुल प्रगति के पथ पर अग्रसर हुआ। वैदिक मैगजीन को पुनर्जीवन देकर 'वैदिक पाथ' तथा गुरुकुल पत्रिका के नियमित प्रकाशन की व्यवस्था में डा० हरगोपाल सिंह तथा पं० भगवद्दत्त वेदालंकार ने पूर्ण सहयोग दिया। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री डा० चेन्ना रेड्डी ने ७६ के दीक्षान्त पर आकर गुरुकुल की प्रगति पर पूर्ण संतोष व्यक्त किया। इस बीच मैंने ग्रीष्मावकाश में इंग्लैण्ड, कनाडा जाने का कार्यक्रम बनाया। मैं गुरुकुल के परिपार्श्व में वहाँ के शिक्षण-संस्थानों का अध्ययन करना चाहता था। इस बीच अराजकतत्वों ने गुरुकुल पर अधिकारपूर्वक कब्जा कर लिया। विद्यालय-विभाग के प्रधानाचार्य कर्नल राजपाल को धमकी देकर पृथक् कर दिया गया। उन्हें अनुशासनबद्ध नवीन शिक्षात्मक क्रिया-कलापों के लिए विशेष रूप से विद्यालय में बुलाया गया था। गुरुकुल की दशा फिर अधर में लटक गई। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने क्योंकि इन्हें मान्यता नहीं दी, अतः जनवरी ७७ में ये लोग गुरुकुल छोड़कर चले गए। हमने गुरुकुल का ताना-बाना नये सिरे से बुना। ७७ के दीक्षान्त पर डा० प्रतापचन्द्र चंदर, शिक्षा मंत्री भारत सरकार स्नातकों को आशीर्वाद देने पधारे। मई में पुनः स्थिति में परिवर्त्तन हुआ। आयुर्वेद कालेज के पृथक्करण के लिए आन्दोलन चला। आर्य प्रतिनिधि सभा ने विवश होकर इस माँग को स्वीकार कर लिया तथा ७७ में इसका सरकारीकरण हो गया। यह वर्ष विश्वविद्यालय के इतिहास में भयंकर भूकंप लेकर आया और फिर तीन वर्ष तक विश्वविद्यालय परिसर में आतंक, त्रास तथा अमानवीय यातनाओं का जो दौर शुरू हुआ, उसका उल्लेख करते हुए सिर नीचा हो जाता है। जुलाई ८० में न्यायालय के निर्णय के बाद यह कुहरा छँटा, गुरुकुल में नये युग का प्रारंभ हुआ तथा शिक्षा मंत्रालय और अनुदान आयोग ने गुरुकुल के वास्तविक अधिकारियो को मान्यता दी। कुलाधिपति श्री वीरेन्द्र के नेतृत्व में पुनः विधिवत् कार्य प्रारभ हो गया। अनुदान नियमित रूप से मिलने लगा। जुलाई ८१ में दीक्षान्त पर उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश श्री एच०आर० खन्ना ने स्नातकों को आशीर्वाद देते हुए जहाँ इस संस्थान की महान परम्पराओं और राष्ट्रीय सेवाओं का उल्लेख

किया वहाँ इसकी प्रगति पर प्रसन्नता भी प्रगट की। विज्ञान मेला का आयोजन प्राचार्य डा० सुरेश त्यागी ने किया, इसका उद्घाटन रुड़की विश्वविद्यालय के कुलपति डा० जगदीश नारायण ने किया था। इसी वर्ष विज्ञान को जनसाधारण के साथ जोड़ने के लिए डा० विजयशंकर ने 'आर्य-भट्ट' पत्रिका निकाली। प्रोफेसर ओम्प्रकाश मिश्र ने जिपनेजियम की व्यवस्था की। तत्कालीन शिक्षा सचिव और बाद को गृह सचिव श्री टी० एन० चतुर्वेदी इसके उद्घाटन के लिए पधारे। पुरातत्त्व संग्रहालय तथा श्रद्धानन्द संग्रहालय आज देशी-विदेशी पर्यटकों तथा शोधार्थियों के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। इसकी संकल्पना का पूर्ण श्रेय डा० विनोद चन्द्र सिन्हा को है। ८२ के दीक्षान्त पर लोकसभा के अध्यक्ष श्री बलराम जाखड़ तथा ८३ में महा-महिम राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह जी गुरुकुल आए। प्रगति की दृष्टि से गुरुकुल अब बहुत आगे आ गया था। हमें प्रसन्नता है कि हम स्वामी श्रद्धानंद जी के स्वप्नों को साकार करने में कुछ अंशों तक कृतकार्य हो सके। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा आर्य संन्यासी डा० सत्यप्रकाश सरस्वती, डी० एस० सी० ने अपने दीक्षान्त भाषण में गुरुकुल की भूरि-भूरि प्रशंसा की तथा भविष्य के लिए हमारा मार्गदर्शन किया।

छटी पंचवर्षीय योजना को अन्तिम रूप देने हेतु मार्च ८४ में विश्वविद्यालय अनुदान-आयोग की समिति यहाँ आई, उसने गुरुकुल के लक्ष्य को समझा तथा कमियों का आकलन किया। समिति ने अनुभव किया कि गुरुकुल के पास एक सन्देश है जो विश्व भर के लिए उपयोगी हो सकता है। गुरुकुल के गुरुजन इसे फैलाने के लिए कृत संकल्प हैं। आयोग ने इसकी संस्तुति पर ५० लाख रुपये की स्वीकृति तथा दस प्रोफेसरों के पदों की स्वीकृति प्रदान की। परिसर का विस्तार हुआ। प्रोफेसरों के नवीन आवास-गृहों का निर्माण इसी योजना के तहत हो रहा है। अभी हाल में ही कई वर्ष बाद हमारे अनुरोध पर अनुदान आयोग की अध्यक्ष श्रीमती माधुरी शाह पधारीं। गुरुकुल को अधुनातन शिक्षा से संवलित करने के लिए कम्प्यूटर देने का आश्वासन भी श्रीमती शाह ने अन्य योजनाओं की स्वीकृति के साथ दिया। गुरुकुल के सभी क्रिया-कलापों, संग्रहालय, पुस्तकालय, आश्रम-व्यवस्था को देखकर उन्होंने हर्ष प्रकट किया। २५ वर्ष का योजनाबद्ध कार्यक्रम उन्हीं के संकेत पर तैयार किया जा रहा है, विशेषकर सातवीं योजना बनाने की तैयारी हो रही है जिसे शीघ्र शिक्षा पटल, कार्य परिषद् तथा शिष्ट परिषद् की स्वीकृति मिलने पर अग्रसर किया जायगा।

इधर हम नवीन स्फूर्ति लेकर भावी योजनाएँ बनाने मे व्यस्त थे कि प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी का निधन हो गया। इस हृदय-विदारक घटना से पूरा देश दहल गया। इन्दिरा जी स्वामी श्रद्धानंद की राह पर अमरलोक में चली गई। उनकी हत्या से देश को अपूरणीय क्षति पहुँची, विश्वशान्ति

के अभियान को धक्का लगा तथा तीसरी दुनियाँ का एक भास्वर नक्षत्र अस्त हो गया। वह जोनावार्क की तरह शहीद हुईं। शहादत से वह राष्ट्र-माता के रूप में प्रतिष्ठत हो गईं। उन्होंने अपनी जिंदगी में बड़े उतार-चढ़ाव देखे। जिस धैर्य से उन्होंने उनका सामना किया वह अनुकरणीय है। उनके युग में देश ने कृषि, तकनीकी शिक्षा, विज्ञान, अंतरिक्ष-अनुसन्धान तथा सामरिक और सामाजिक क्षेत्रों में चतुर्मुखी उन्नति की। उन्होंने सुदृढ़ और समृद्ध भारत की नींव डाली। देश उनके बताये मार्ग पर आस्थावान् होकर आगे बढ़ेगा। श्री राजीव गाँधी ने ऐसे संकट में देश को अस्थिरता से बाहर निकाल लिया। वह योग्यमाता के योग्य पुत्र सिद्ध हुए। कांग्रेस के नेताओं ने अपनी महत्त्वाकांक्षा को छोड़कर जो गुरुवर बोझ श्री राजीव के कंधों पर डाल दिया उसे वह सफलता के साथ वहन कर सकेंगे, इसका मुझे विश्वास है। मैं सदैव आशावादी रहा हूँ और गुरुकुल के स्नातकों से अपेक्षा करता हूँ कि आशा और आस्था का दीप उनके हाथों में हमेशा आलोकित होता रहेगा।

इस अवसर पर मैं, जहाँ श्रीमती इन्दिरा गाँधी को कुलवासियों की ओर से श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ, वहाँ लोकतंत्र, स्वच्छ, भ्रष्टाचारमुक्त प्रशासन तथा धर्मनिरपेक्षता के लिए प्रतिबद्ध श्री राजीव गाँधी को बधाई भी देता हूँ। देश का नवयुवक 'प्रह्लाद' के रूप में खड़ा हो; बिना डगमगाए वह साधना पथ पर अग्रसर हो तथा राष्ट्र की सम्पूर्ण आकांक्षाओं की पूर्त्ति में सहायक हो, मेरी यही आकांक्षा है।

आइए, कुलपिता को नत शिर होकर हम नमन करें। उसी पुण्य नमन के साथ बलिदान-पर्व पर मैं आपका आह्वान करता हूँ—गुरुकुल को अभी और आगे ले जाना है—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना,
और पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे पार नहीं।

———

"गुरुकुल शिक्षा पद्धति के पुरोधा स्वामी श्रद्धानन्द"

वेद मार्तण्ड आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति
पूर्व कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

स्वामी श्रद्धानन्द महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त और महान शिष्य थे। महर्षि दयानन्द के व्यक्तित्व में एक अद्‌भुत सम्मोहनी शक्ति थी, जो भी उनके सम्पर्क में आ जाता था वही उनका अनुयायी और भक्त बन जाता था। स्वामी श्रद्धानन्द अपने यौवन-काल में ही महर्षि दयानन्द के सम्पर्क मे आ गये थे। उनका पहला नाम मुंशी राम था। वे अपने पिता के साथ बरेली में रहते थे। एक अवसर पर महर्षि दयानन्द अपने प्रचार-कार्य के प्रसंग में बरेली पधारे। युवक मुंशीराम ने भी महर्षि के भाषण सुने, युवक मुंशीराम महर्षि के भाषणों और व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुये। उन दिनों मुंशीराम की विचारधारा भौतिकतावादी थी और वें परमात्मा की सत्ता में विश्वास नहीं रखते थे। महर्षि की विचारधारा ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखने वाली पूर्ण आस्तिक विचारधारा थी। मुंशीराम ने परमात्मा की सत्ता के सम्बन्ध में महर्षि से प्रश्नोत्तर किये, महर्षि ने मुंशीराम की ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध दी गई सभी युक्तियों और तर्कों का प्रत्याख्या कर दिया। इस पर मुंशीराम ने महर्षि से कहा कि आपने युक्ति और तर्क से तो परमात्मा की सत्ता सिद्ध कर दी है और मैं निरुत्तर हो गया हूँ पर मुझे परमात्मा में विश्वास नहीं हुआ है। महर्षि ने उत्तर दिया कि बेटा ! परमात्मा की कृपा से एक दिन उनकी सत्ता में विश्वास भी हो जायेगा। महर्षि के साथ इस वार्तालाप के अनन्तर मुंशीराम, महर्षि दयानन्द के परम भक्त और अनुयायी बन गये और उनकी धारणा बन गई कि महर्षि जो कुछ कहते हैं वह सर्वथा सही और सत्य है। और उनके विचारों के अनुसार चलकर ही मानव जाति का सर्वाङ्गीण अभ्युदय और कल्याण हो सकता है और उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि मैं महर्षि के विचारों के प्रचार और प्रसार में अपना समग्र जीवन और शक्ति समर्पित कर दूँगा। उनका आगामी सारा जीवन जिस रूप में विकसित हुआ, उन्होंने अपने जीवन में जो विविध प्रकार के कार्य किये, वे सब महर्षि के प्रति इसी समर्पण की भावना का परिणाम हैं।

१९१९ में अमृतसर में होने वाले राष्ट्रीय काँग्रेस के अधिवेशन में स्वामी श्रद्धानन्द स्वागताध्यक्ष थे। सम्मेलन का सभापतित्व पण्डित मोतीलाल नेहरू ने किया था। (चित्र में कुर्सी पर बैठे हुए प्रतिनिधियों में श्री नेहरू, स्वामी जी, श्रीमती एनीबेसेंट तथा पण्डित मदनमोहन मालवीय दिखाई दे रहे हैं)

विश्वविद्यालय के शिक्षकेतर कर्मचारियों के नव–निर्माणाधीन आवास-भवन के शिलान्यास पर श्री कुलाधिपति यज्ञ करते हुए ।

महर्षि दयानन्द की विचारधारा और कार्यक्रम बहुमुखी थे। वे मानव जीवन के प्रत्येक पहलू पर अपने मौलिक विचार रखते थे और मानव को उन्हीं के अनुसार ढालना चाहते थे जिससे कि मानव सही अर्थों में आदर्श मानव बन सके।

मानव किस प्रकार का बनेगा, यह इस पर निर्भर करता है कि उसके आरम्भिक बाल्यकाल तथा यौवनकाल को किस प्रकार के विचारों और परिस्थितियों में ढाला गया है। दूसरे शब्दों मे मानव का जीवन इस पर निर्भर करता है कि उसे आरम्भ के बीस-पच्चीस वर्षों में किस प्रकार की शिक्षा दी जाती है। इसके लिए महर्षि के व्यापक कार्यक्रम में शिक्षा के सम्बन्ध में भी अपना एक नवीन और मौलिक कार्यक्रम था। महर्षि की परिभाषा में उनके इस कार्यक्रम का नाम गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली है। महर्षि ने सत्यार्थ-प्रकाश और अपने अन्य ग्रन्थों में गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का विस्तार से वर्णन किया है। महर्षि के विचारों के प्रचार काय और उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज के अन्य विभिन्न कार्यक्रमों में जी-जान से जुट जाने के पश्चात् मुंशीराम, महात्मा मुंशीराम कहलाने लगे थे। महात्मा मुंशीराम ने महर्षि द्वारा प्रतिपादित गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का गहराई से अध्ययन और मनन किया था तथा वे इस निश्चय पर पहुँचे थे कि मानव जाति की वास्तविक उन्नति और पूर्ण कल्याण तभी हो सकता है जब कि बच्चों को गुरुकुल-शिक्षा प्रणाणी के अनुसार शिक्षा दी जाये। यह विचार दृढ़ और परिपक्व हो जाने पर उन्होंने सन् १९०० में हरिद्वार के निकट कांगड़ी नामक ग्राम में, हिमालय की उपत्यका में, भागीरथी के तट पर जगत्प्रसिद्ध गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की स्थापना की।

गुरुकुल काँगड़ी में उन दिनों पूर्णरूप से ऋषि के ग्रन्थों में निर्दिष्ट पाठ-विधि के अनुसार शिक्षा दी जाती थी और छात्रों की समस्त दिनचर्या भी महर्षि द्वारा निर्दिष्ट दिनचर्या के अनुसार ही रहती थी। बालकों को पूर्णरूप से वैदिक-आर्य-संस्कृति के अनुसार ढालने का प्रयत्न किया जाता था। वेद पढ़ाये जाते थे, ब्राह्मण ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे, उपनिषदें पढ़ाई जातीं थीं, दर्शन पढ़ाये जाते थे, गीता और मनुस्मृति ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे, तथा महर्षि दयानन्द के अपने सत्यार्थ-प्रकाश आदि ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे। संस्कृत भाषा की ऊँची और गहरी योग्यता के लिए साहित्य के ग्रन्थ तथा अष्टाध्यायी और महाभाष्य के रूप में व्याकरण पढ़ाया जाता था।

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में ब्रह्मचर्य पर अत्याधिक बल दिया जाता है। महर्षि दयानन्द ने छात्रों को ऐसी सभी बातों व परिस्थितियों से दूर रखने पर बल दिया है, जिनसे छात्रों के मन में कामुकता के विचार जागृत होने की आशंका हो, इसीलिए महर्षि ने अपनी पाठ-विधि में अश्लील काव्य ग्रन्थों के

पढ़ाने का निषेध किया है। इस कारण गुरुकुल कांगड़ी में अश्लील काव्य-ग्रन्थ नहीं पढ़ाये जाते थे। विभिन्न काव्य-ग्रन्थों से अश्लीलतारहित अच्छे प्रकरणों का संग्रह करके गुरुकुल अपने स्वतन्त्र पाठ्य-ग्रन्थ छपवाता था तथा पञ्चतन्त्र, रघुवंश, साहित्यदर्पण आदि के अश्लील स्थलों को निकालकर गुरुकुल उनके अपने शुद्ध संस्करण छपवाता था। और इन्हीं संशोधित संस्करणों को छात्रों को पढ़ाया जाता था।

महर्षि ने अपनी पाठ-विधि में अन्य देशीय भाषायें पढ़ाने का भी निर्देश किया है और भाँति-भाँति के विद्या-विज्ञानों की शिक्षा पर भी बल दिया है। महर्षि के इन्हीं निर्देशों के आधार पर महात्मा मुन्शीराम ने गुरुकुल कांगड़ी में इतिहास, भूगोल, गणित, रसायन (कैमिस्ट्री), भौतिकी (फ़िजिक्स), आयुर्वेद, कृषि आदि विज्ञानों एवं अंग्रेजी भाषा के अध्यापन की भी पूर्ण व्यवस्था की थी।

उस समय के सरकारी विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में केवल पाश्चात्य विषयों की ही शिक्षा दी जाती थी। उनमें पढ़ने वाले छात्र पाश्चात्य भाषा, इतिहास और अन्य विद्या-विज्ञानों में तो पारंगत होते थे परन्तु उन्हें अपने देश की भाषा, इतिहास तथा विद्या-विज्ञानों के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञान नहीं होता था। उनमें पढ़ने वाले छात्र शरीर से भारतीय होते हुये भी विचारों और संस्कृति की दृष्टि से यौरोपीय से बन जाते थे। उधर बनारस, गया, नदिया आदि की प्राचीन पद्धति पर चलने वाली संस्कृत पाठशालाओं में प्राचीन विषयों का ही अध्ययन–अध्यापन होता था और वह भी प्रायः काव्य, व्याकरण और दर्शनों तक सीमित रह गया था। इन पाठशालाओं में पढ़ने वालों को आधुनिक इतिहास और विद्या-विज्ञानों का बिलकुल भी परिज्ञान नहीं होता था तथा एक प्रकार से ये लोग पुराने अंधकार युग में ही पड़े रहते थे। इस प्रकार इन दोनों प्रकार की शिक्षा संस्थाओं में जो कुछ सिखाया जाता था वह एकाँगी और अधूरा होता था।

गुरुकुल में प्राचीन भारतीय विद्या-विज्ञानों की शिक्षा भी दी जाती थी और उसके साथ ही आधुनिक विद्या-विज्ञानों के शिक्षण की भी पूरी व्यवस्था थी। और इस प्रकार महर्षि दयानन्द के विचारों के अनुसरण पर महात्मा मुन्शीराम द्वारा स्थापित गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय और उसमें चलाई गई शिक्षा-पद्धति, शिक्षा के जगत् में एक नई क्रान्तिकारी चीज थी। प्राचीन गुरु-शिष्य परम्परा के आधार पर आरम्भ की गई, छात्रों के प्रतिदिन की दिन-चर्या तो शिक्षा के जगत् में एक सर्वथा नई क्रान्तिकारी वस्तु थी, जिसमें छात्र और गुरु एक घर के वासियों की भाँति एक दूसरे के निकट रहते थे,

छात्रों की सब प्रकार की गतिविधियों पर गुरुजनों की पूरी आँख रहती थी। छात्र संयम का, तपस्या का, सादगी का, शारीरिक श्रम और स्वावलम्बन का जीवन व्यतीत करते थे।

महात्मा मुन्शीराम द्वारा स्थापित गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय विश्व भर के शिक्षा जगत् में चर्चा का विषय बन गया था। संसार भर के शिक्षा-शास्त्री गुरुकुल को देखने के लिए आया करते थे तथा समाचार-पत्रों में उन लोगों की गुरुकुल के सम्बन्ध में प्रशंसात्मक और आशाभरी टिप्पणियाँ और विवेचनायें छपा करती थीं। इस प्रकार महात्मा मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) इस युग में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के एक नये पुरोधा के रूप में भारत के आकाश में एक जाज्वल्यमान नक्षत्र बन गये थे।

महात्मा मुन्शीराम के जीवन का एकमात्र लक्ष्य अपने जीवन को महर्षि दयानन्द के विचारों और शिक्षाओं के अनुसार ढालना और चलाना था, वे जो कुछ कहते थे उसे अपने निजी जीवन में भी पूर्णरूप से उतार कर दिखाते थे। उन्होंने गुरुकुल की स्थापना की, और गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का प्रचार किया, तो सबसे पहले अपने पुत्रों को पढ़ने के लिए गुरुकुल में प्रविष्ट किया। गुरुकुल के लिए जनता से धन मांगने के लिए निकले तो पहले अपनी सारी सम्पत्ति गुरुकुल के लिए दान दे दी। महर्षि दयानन्द व्यक्ति के जीवन को चार आश्रमों की पद्धति के अनुसार बिताने पर बल देते थे। महात्मा मुन्शीराम ने अपने गुरु के आदेश पर चलते हुये इसी पद्धति के अनुसार अपना जीवन बिताया। गृहस्थ के पश्चात् महात्मा मुन्शीराम के रूप में उनका जीवन वानप्रस्थ का रहा, फिर उसके उपरान्त वे संन्यासी हो गये और स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से जगत् में विख्यात हुये।

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने महर्षि दयानन्द के सम्पर्क में आने के पश्चात् जो अनेक महान् कार्य किये हैं, उन सबका इस लघुलेख में उल्लेख कर सकना सम्भव नहीं है। उन्हें तो "जीवन-वृत्तान्त" तथा "आर्य समाज के इतिहास" ग्रन्थों में पढ़ना चाहिये, इन पंक्तियों में तो केवल शिक्षा के क्षेत्र में किये गये उनके कार्य का अति संक्षिप्त उल्लेख किया गया है।

—※—

नव-जागरण के प्रणेता : स्वामी श्रद्धानन्द

डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग

जब भारत के लोग पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध से भ्रमित होकर अपनी संस्कृति के आधारभूत मूल्यों को ही भूल रहे थे, उस समय भारतमाता का एक सपूत उठा जिसने आर्य संस्कृति की महनीय महत्ता का सन्देश स्वामी दयानन्द से सुना था। उदात्त आदर्शों और भव्य-भावनाओं को लेकर उन्हें क्रियात्मक रूप देने को वह उद्दत हो गया। वह दिव्य पुरुष अमर बलिदानी स्वामी श्रद्धानन्द थे।

स्वामी जी का जन्म गांव तलवन, जिला जालन्धर सम्वत् १६१३ में हुआ। उनका बचपन का नाम मुन्शीराम था। सबसे छोटी सन्तान होने के कारण पिता नानकचन्द को वे सर्वाधिक प्रिय थे। यौवन, धन, सम्पत्ति तथा प्रभुत्व के प्राप्त होने पर मुन्शीराम दिग्भ्रमित हो गये, लेकिन लाहौर में आर्य समाज के उस समय के प्रधान लाला साईंदास का प्रेमपूर्ण सम्भाषण तथा मुनिवर गुरुदत्त के योग्यताभरे व्याख्यानों ने नास्तिक मुन्शीराम को परम आस्तिक बना दिया। इतना ही नहीं उनके आचरण पर लगे हुये धब्बे भी धीरे-धीरे धुलने लगे थे। मुन्शीराम के जीवन में यह महान् परिवर्तन था। वे समाज-सेवा की ओर उन्मुख हुये। उनके हृदय में यह भावना दृढ़ हो गयी कि जब तक ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये गुरुकुल की स्थापना नहीं होगी, ऋषि दयानन्द का स्वप्न पूरा नहीं होगा। गुरुकुल की स्थापना की आवश्यकता को उन्होंने प्रस्ताव रूप में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के समक्ष प्रस्तुत किया जहाँ इसे स्वीकार कर लिया गया। अपने अथक् प्रयत्नों के फलस्वरूप गुरुकुल को स्थापित करने में वे सफल रहे।

गुरुकुल शिक्षा की प्रथम विशेषता यह थी कि शिक्षा अपनी मातृभाषा के माध्यम से दी जाये। यह प्रथम मंत्र था जिसे गुरुकुल के कर्णधार ने अपनाया। मातृभाषा को प्रोत्साहन मिला। विद्वानों ने नवीन विषयों पर हिन्दी में ग्रन्थ लिखने प्रारम्भ किये और नवीन विचारों को जनता तक पहुंचाने के लिये 'सद्धर्म प्रचारक भेजें' जैसे हिन्दी पत्र का प्रकाशन होने लगा। देश के

स्वाधीनता आन्दोलन में गुरुकुल कांगड़ी और उसके संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्द का योगदान सदैव स्मरणीय रहेगा। महर्षि दयानन्द से देश-प्रेम की दीक्षा लेकर सभी आर्य-नेताओं ने स्वतन्त्रता की बलि-वेदी पर अपना कुछ न कुछ अवश्य न्यौछावर किया किन्तु स्वामी श्रद्धानन्द ने तो इस वेदी पर अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। ३० मार्च सन् १९१९ की घटना को भुलाया नहीं जा सकता। दिल्ली के चाँदनी चौक की विशाल सड़क पर ब्रिटिश संगीनों के सामने स्वामी जी अपनी खुली छाती तान कर खड़े हो गये। जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड के पश्चात् अमृतसर कांग्रेस का स्वागताध्यक्ष बनना भी कोई आसान कार्य नहीं था। स्वामी श्रद्धानन्द जैसे निर्भीक योद्धा ने उस पद का भार ग्रहण किया और अत्यन्त योग्यता के साथ उसे सम्पादित भी किया।

महात्मा गांधी स्वामी जी को अपना दाहिना हाथ समझते थे। स्वामी जी ने कांग्रेस में ऐसे नेताओं का साथ नहीं दिया जो तुष्टिकरण की नीति अपनाकर हिन्दुओं को निबल बनाना ही अपना कर्त्तव्य मानते थे। स्वामी श्रद्धानन्द की भावना आर्यत्व को सुदृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित थी। हिन्दु-मुस्लिम एकता के वे पक्षधर थे पर इस एकता को वे एकांगी नहीं उभयांगी बनाना चाहते थे। उनका निश्चित मत था कि सहयोग के हाथ दोनों ओर से बढ़ने चाहिये अन्यथा वह सहयोग स्थिर नहीं रहेगा। भारतीय इतिहास का वह दिन भी गौरवशाली बन गया है जब जामा मस्जिद की व्यासपीठ पर खड़े होकर स्वामी जी ने महानाद किया और हिन्दु-मुस्लिम एकता पर धर्म का ठप्पा लगाया। उन्होंने इस मंच से शहीदों के लिये मंगल-कामना के साथ देशभक्ति और धर्म के अटूट सम्बन्धों की घोषणा की।

सन् १९२२ में सारा देश सिक्खों के सत्याग्रह के नाद से गूँज उठा। निहत्थे अकाली वीरों पर लाठियों के क्रूर प्रहार का शब्द देश के एक कौने से दूसरे कौने तक सुनाई दिया। स्वामी जी दिल्ली में थे। अकाली वीरों के दुःख में हिस्सेदार बनने के लिये वे अमृतसर पहुँचे और अकालतख्त के पास खड़े होकर सिक्खों को सन्देश सुनाया कि आप लोगों के धर्म-संग्राम में हिन्दू आपके साथ हैं। १० सितम्बर १९२२ को स्वामी जी बन्दी बना लिये गये। परन्तु जब पंजाब के अखबारों ने शोर मचाया तो २६ दिसम्बर को स्वामी जी रिहा कर दिये गये। जेल से छूटकर स्वामी जी ने गुरुकुल कांगड़ी में आकर कुछ दिन विश्राम किया।

आगरा में राजपूत सभा की ओर से मुसलमान बने हुये जाटों तथा गूजरों को बिरादरी में वापिस लेने पर विचार चल रहा था। स्वामी जी तत्काल आगरा जा पहुँचे। काफी विचार-विमर्श के पश्चात् मूलों तथा मलकानों की

शुद्धि के लिये हिन्दू शुद्धि सभा की स्थापना की गयी। स्वामी श्रद्धानन्द जी उसके सभापति बनाये गये। स्वामी जी द्वारा चलाये गये शुद्धि आन्दोलन के कारण कुछ लोग उन पर संकीर्णता का आरोप लगाते हैं। किन्तु यह विचार दोषपूर्ण और भ्रामक है। भारतीय समाज को एक सूत्र में बाँधने का यह प्रबल प्रयास था। भ्रम, भूल और शोषण के फलस्वरूप अपने भाई हिन्दू धर्म से बाहर हो गये थे, स्नेह और प्यार से उन्हें पुनः अपने में वापस लेना किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं थी। हिन्दू जाति की पुरातन पाचन शक्ति को पुनर्जीवित करने का यह महानतम प्रयास था। दलितोद्धार और शुद्धि आन्दोलन में स्वामी जी ने जो भूमिका अदा की वह स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगी।

भारत को सशक्त और समृद्धशाली बनाने के लिये स्वामी जी स्त्री-शिक्षा को अत्यधिक महत्त्व देते थे। जालन्धर के कन्या महाविद्यालय की स्थापना में आपका विशेष हाथ था। बालकों के लिये गुरुकुल कांगड़ी बन जाने पर आप का बराबर यह ध्यान रहा कि कन्याओं के लिये गुरुकुल की स्थापना की जाये। ९ नवम्बर १९२३ को दिल्ली की दरियागंज, कोठी नम्बर ४ में कन्या गुरुकुल का प्रारम्भोत्सव हुआ। कुछ समय पश्चात् कन्या गुरुकुल को देहरादून ले जाया गया, जहाँ आज भी यह अत्यन्त ही कुशलता के साथ चलाया जा रहा है।

शुद्धि आन्दोलन मुसलमानों को बेतरह अखरा। एक धार्मिक मदान्ध ने उनकी हस्ती को मिटा देना चाहा, परन्तु स्वामी जी चिरकाल के लिये अमर हो गये। इस प्रकार तपस्वी श्रद्धानन्द ने धर्म पर अपना शरीर बलिदान किया। वह जैसा अन्त चाहते थे मृत्यु ने उन्हें वैसा ही दिया। भाग्य का चक्र कैसा है कि एक मुसलमान डॉ० अन्सारी जीवन भर स्वामी जी की रक्षा करता रहा और दूसरे मुसलमान अब्दुल रशीद ने उनके प्राण ले लिये।

स्वामी श्रद्धानन्द युग-पुरुष थे। साहस और त्याग के जीते-जागते उदाहरण थे। भारत की सच्ची राष्ट्रीयता के महानतम आदर्श थे, और आधुनिक नव-जागरण के प्रकाश स्तम्भ थे। स्वामो जी का भौतिक शरीर आज हमारे मध्य नहीं है, किन्तु उनकी दैदीप्तमान स्मृति हमारे अन्दर अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए नवचेतना का संचार करती रहेगी।

किसी कवि ने कहा है :—

स्वामी श्रद्धानन्द,
वे लक्ष्य पर पहुँचे,
उन्होंने सब कुछ पाया,
वह अपना काम इतिहास में बहुत गहरा अंकित कर गये,

उन्हें मेरी श्रद्धांजलि ।
प्रत्येक जीवन का कोई चिह्न होता है
उनके जीवन का था चिन्ह सेवा ।
उनकी स्मृति नये जोवन को जगा देवे और
राष्ट्र के युवकों में रूह फूँक देवे ।
दीन-दलितों की इस सेवा के लिये जो धर्म और
आज़ादी दोनों का दिल है हम से अलग होकर भी मरे नहीं ।
वे तो अब भो बोल रहे हैं ।
और उन सबको जिन्हें मैं सुना सकता हूं,
उस शहीद का सन्देश सुनाना ।
चाहता हूं जो इस क्षण मुझे याद आ रहा है ।
यह वह सन्देश है,
जिसमें प्राचीन नवीन का अभिनन्दन करता है ।
धन्य है, वह जीवन जो बलि में प्रज्वलित हो ।

"परम्परागत भारतीय काव्य-चिन्तन और आचार्य शुक्ल की लोकमंगल सम्बन्धी अवधारणा"

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय

भारतीय परम्परा में 'आचार्य' उसे कहा जाता है, जो परम्परा-प्रतिष्ठ मूल प्रामाणिक वाङ्मय के साक्ष्य पर एक स्वतंत्र 'प्रस्थान' निर्मित करता है। यह नया 'प्रस्थान' बदलते हुए देश-काल और आत्मगत सम्भावनाओं के लिए तड़पती हुई लोक-चेतना की नाड़ी देखकर निर्मित किया जाता है। कवि भाव-मार्ग से लोक-हृदय से एक होकर उसे वह पहचानता है और आचार्य बोध-मार्ग से। कवि के लिए लोक-हृदय की पहचान और आचार्य के लिए लोक-चेतना की पहचान आवश्यक है। परम्परा लोक-हृदय और लोक-चेतना की व्याप्ति अति-प्राकृत स्तर तक मानती है—जबकि शुक्लजी अतिप्राकृत या अव्यक्त ब्रह्म की सत्ता मानते हुए भी उसकी व्याप्ति को प्राकृत स्तर से ऊपर नहीं ले जाते। परम्परा मानव-भाव से निहित ऊर्ध्वतम सम्भावना को चरितार्थ करने के लिए परमार्थ-दर्शन, व्यवहार-दर्शन और काव्य-दर्शन निर्मित करती है और आचार्य शुक्ल ने भी—परन्तु परम्परा या पारम्परिक चिन्तन जहाँ उन सबको अन्ततः **अतिप्राकृत मानव-भाव से जोड़ता है** वहां शुक्लजी **प्राकृत मानव-भाव** से। पारम्परिक चिन्तन अतिप्राकृत सम्भावना या गन्तव्य सिद्धि के लिए आविष्कृत कर्म-ज्ञान और उपासना का उपयोग करता है वहां शुक्लजी इन साधनों की सार्थकता प्राकृत मानवभाव की चरितार्थता में मानते हैं। पारम्परिक चिन्तन अतिप्राकृत मानवभाव की पहचान या उपलब्धि के मुख्यतः दो ही मार्ग बताता है—ज्ञानमार्ग और भक्ति-मार्ग। ज्ञानमार्ग रूक्ष स्वभाव वाले साधकों का मार्ग है—जहां वासना का दमन किया जाता है—इसे सामान्यतः निवृत्ति मार्ग माना जाता है। हीन-यानी बौद्ध, जैन और शंकर का यही मार्ग है जबकि मध्यकालीन वैष्णव या पूर्ववर्ती सात्वत अथवा भागवत मार्ग भक्ति मार्ग है—यह मार्ग द्रवशील चेतस् साधकों का है। यहां वासना का दमन नहीं—शोधन होता है। कर्म या धर्म की उपयोगिता उभयत्र है। अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की सिद्धि के लिए अपेक्षित वृत्ति या व्यवस्था (विधिनिषेधमयी) ही धर्म है। पारम्परिक चिन्तन

इस 'धर्म' का सम्बन्ध इस लोक के साथ-साथ 'परलोक और अध्यात्म'—दोनों से जोड़ता है। शुक्लजी की दृष्टि में धर्म का परलोक और अध्यात्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'धर्म' सामाजिक विकास के सन्दर्भ में उद्भूत और विकसित हुआ है। 'सूरदास' की भूमिका में वे अत्यन्त अभिनिवेश के साथ अपने पक्ष की प्रतिष्ठा प्राचीन वाङ्मय के साक्ष्य पर करते हैं। उनको दृष्टि में उनके देशकाल सम्बन्धी परितिष्ठित मान्यता यह है कि **मानवता ही ईश्वर है और समाज-सेवा ही धर्म**। इसलिए युगानुरूप बदलती हुई लोकचेतना को दृष्टिगत कर शुक्लजी ने प्राचीन भारतीय वाङ्मय के ही साक्ष्य पर अपना स्वतन्त्र प्रस्थान निर्धारित किया है। इस सन्दर्भ में पण्डित जवाहरलाल नेहरू का एक वक्तव्य अत्यन्त प्रासंगिक है—

"The modern mind, that is to say the better type of the modern mind, is practical and pragmatic ethical and social altruistic and humanitarian. It is governed by a practical idealism for social betterment. The ideals which move it represent the spirit of the age, the zeitgist—the Yugdharma. It had discarded to a large extent the philosophic approach of the ancients, their search for ultimate reality, as well as the devotionalism and mysticism of the medieval period. Humanity is its God and social service its religion. This conception may be incomplete, as the mind of every age has been limited by its environment and every age has considered some partial truth as the key of all truth......"

अर्थात् आधुनिक मस्तिष्क— मतलब आधुनिक मस्तिष्क का अपेक्षाकृत उच्चतर रूप--व्यावहारिक, यथार्थ का पक्षधर, नैतिक, सामाजिक, परार्थी और मानवतावादी है। लोकमंगल के निमित्त वह व्यवहारोपयोगी आदर्शों से परिचालित होता है। इसे परिचालित करने वाले आदर्श युगचेतना या युगधर्म का प्रतिनिधान करते हैं। इसकी दूसरी पहचान यह भी है कि यह निरपेक्ष सत्ता के प्रति दार्शनिक छानबोन, पुरातन अन्य सम्बद्ध मान्यताओं, मध्यकालीन रहस्यवाद और अतिप्राकृत तत्व-परायण भक्ति-भाव को बहुत दूर फेंक देता है। मानवता ही उसका आराध्य है और समाजसेवा ही धर्म। हो सकता है कि आधुनिक मस्तिष्क की यह अवधारणा अधूरी हो— क्योंकि प्रत्येक युग का मस्तिष्क अपने युग के परिवेश से नियन्त्रित होता है— फिर भी अंतिम सत्य से जुड़ने की सम्भावना वाले किसी न किसी व्यवहार्य सत्य की खोज करता ही है। '४३ में लिखा गया नेहरू जी का यह मंतव्य शुक्लजी पर चौकोर लागू होता है— जबकि शुक्लजी '४१ में ही दिवंगत हो चुके हैं।

शुक्लजी द्वारा प्रतिष्ठापित प्रस्थान का गंतव्य या केन्द्रबिन्दु है – लोकमंगल। पारम्परिक चिन्तन में 'लोक' की व्याप्ति इहलोक के साथ 'परलोक' तक है और भीतर की ओर चलें तो मनोमय कोश से भी बहुत आगे— पर शुक्लजी का 'लोक' केवल इहलोक है और भीतर की ओर मनोमय कोश तक। उनके लोक की यही व्याप्ति है— यही अव्यक्त का 'व्यक्त' रूप है, जो उसी की भाँति अनन्त और प्रवाह नित्य है। यह अवश्य है कि अव्यक्त अपने को 'सत्' रूप में व्यक्त करने में 'असत्' सापेक्ष हो जाता है। जैसे—'राम' का प्रकाशन 'रावण' सापेक्ष है। शुक्लजी के अनुसार व्यक्त जगत् इन्हीं विरुद्धों के ताने-बाने से बना है। उन्होंने कहा है— 'सत्' और असत्, भले और बुरे— दोनों के मेल का नाम संसार है। प्रकृति के तीनों गुणों— सत्व, रजस् तथा तमस् की अभिव्यक्ति जब तक अलग-अलग है— तभी तक उसका नाम जगत् या संसार है। अपनी अवधारणा की पुष्टि में गोस्वामी जी को उद्धृत करते हैं—

सुगुन छीर अवगुन जल ताता।
मिलइ रचइ परपंच विधाता॥

अव्यक्त और विश्वात्मा की बात बार-बार करके भी मानवीय सम्भावना की चरम परिणति व्यवहार जगत् के सामंजस्य में ही नियन्त्रित कर देना एक असंगति जैसा भी प्रतीत होता है— इसीलिए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी बराबर यही कहते रहे कि शुक्लजी के पीछे न तो पौरस्त्य और पाश्चात्य दर्शन की संगत पीठिका है और न ही ठोस ऐतिहासिक आधार। यद्यपि आगे चलकर वाजपेयीजी यह भी स्वीकार करते हैं—साम्प्रदायिक और परम्परागत विवेचन पद्धति से छुटकारा पाने और एक व्यापक मानव दृष्टिकोण का संस्थापन करने में शुक्लजी समर्थ हुए हैं। आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व से अभिभूत आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, जिन्होंने उनकी चिन्तमणि को 'मंजूषा' में संजोकर रखा है, कहते हैं—'वरं विरोधोऽपि समम् महात्मभिः' की नीति से कुछ कहना दूसरी बात है और शुक्लजी की धारणा को समझने और पूरा-पूरा हृदयंगम कर लेने के आनन्तर उसका खण्डन करना दूसरी बात। फलतः वे तो कहते हैं—'उन्होंने पारम्परिक विचारधारा को पकड़ से अपना विच्छेद नहीं होने दिया।' तीसरी ओर डा० रामविलास शर्मा का पक्ष है— 'उन्होंने हिन्दी की सैद्धान्तिक आलोचना को एक ठोस दार्शनिक आधार दिया।' डा० शर्मा का पक्ष है कि यद्यपि वे सुसंगत रूप से भौतिकवादी नहीं हैं, तथापि वे विकासवाद के समर्थक हैं और उनके साहित्यिक दृष्टिकोण को ठीक-ठीक समझने के लिए उन्हें वस्तुवादी ही मानना चाहिए क्योंकि वे जगत् को मिथ्या नहीं कहते।

उनके दार्शनिक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में अब तक कुल छह मत मिलते

हैं— (क) वस्तुवादी (ख) आत्मवादी (ग) विधेयवादी (घ) स्पिनोज़ा का विश्वेश्वरैक्यवादी (ङ) शुद्धाद्वैतवादी (च) बुद्धिवादी ।

पहला मत डॉ० रामविलास शर्मा का, दूसरा पं० गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश का, तीसरा नलिन विलोचन शर्मा के नाम से डॉ० रामचन्द्र तिवारी द्वारा प्रस्तावित, चौथा पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का, पाँचवां श्री रंजन सूरिदेव का और छठा स्वयं डॉ० रामचन्द्र तिवारी का । मेरा पक्ष यह है कि जब शुक्लजी अभेद दृष्टि को ही तत्व-दृष्टि कहते हैं— तब वे अद्वैतवादो हैं । सवाल यह है कि वह अद्वय तत्व क्या है ? पदार्थ या चेतन ? स्पष्ट है कि जो व्यक्ति अनेकता ब्रह्म अव्यक्त और विश्वात्मा की बात करता है— वह परार्थाद्वैतवादी कैसे हो सकता है ? चिद्द्वैतवादी ही हो सकता है । चिद्द्वैतवादी भी शंकर सम्मत है या आगम-सम्मत ? जगत् को सत्य या अव्यक्त की अभिव्यक्ति मानने वाला, उसे प्रवाहनित्य सिद्ध करने वाला व्यक्ति जगत् को मिथ्या मानने वाला शंकर-सम्मत अद्वैती हो नहीं सकता । अब बचा-आगम सम्मत द्वयात्मक अद्वयवाद । इसी से शुक्लजी का सम्वाद हो सकता है । स्पिनोजा के विश्वेश्वरैक्यवाद की सम्भावना इसलिए निरस्त हो जाती है कि वहां सत्व रजस्तमोमयी प्रकृति की सत्ता नहीं जिसकी शुक्लजी बार-बार चर्चा करते हैं । विधेयवाद और बुद्धिवाद तो पद्धति मात्र हैं । इहलोक में ही भक्ति की चरितार्थता मानने वाला 'लीला-लोकवादी' शुद्धाद्वैती कैसे हो सकता है ? यद्यपि आगम-सम्मत द्वयात्मकाद्वयवाद से संवाद रखने के कारण शुद्धाद्वैतवादी बिन्दुओं का पर्याप्त आभास वहां विद्यमान है।

द्वयात्मक अद्वयवाद आकर्षण— अपसरणात्मक शक्ति की सत्ता मूल सत्ता में मानता है— फलत: गत्यात्मक जगत् की अवधारणा की भी संगति बैठ जाती है । सृष्टि क्रम में वही शक्ति त्रिगुणात्मिका हो जाती है— जिसके नेतृत्व में उनका लोकमंगलवाद ठीक-ठीक व्याख्यात होता है । वे मानते हैं कि जगत् भिन्न गुणात्मक है और रहेगा— अत: लोकमंगल का अर्थ है— सत्व के अनुशासन में सक्रिय रजस् एवं तमस् की स्थिति । शुक्लजी कहते हैं— "जबकि अव्यक्तावस्था से छूटो हुई प्रकृति के व्यक्त स्वरूप जगत् में आदि से अन्त तक सत्व, रजस् और तमस् — तीनों गुण रहेंगे— तब समष्टि रूप **लोक के बीच मंगल** का विधान करने वाला ब्रह्म के आनन्द कला के प्रकाश की यही पद्धति हो सकती है कि तमोगुण और रजोगुण दोनों सत्व गुण के अधीन होकर इशारे पर काम करें । इस दशा में किसी ओर अपनी प्रवृत्ति के अनुसार काम करने पर भी समष्टि रूप में और सब ओर से वे सत्वगुण के लक्ष्य की ही पूर्ति करेंगे । सत्व गुण के इस शासन में कठोरता, उग्रता और प्रचण्डता भी सात्विक तेज के रूप में भासित होगी । इसी से हमारे यहां अवतार रूप में भगवान की मूर्ति एक ओर तो

'वज्रादपि कठोर' और दूसरी ओर 'कुसुमादपि मृदु' रखी गई है—

'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि'

लोकमंगल की यह अवधारणा पदार्थवादी दृष्टि से किस तरह सम्भव हो सकेगी ? कहा जा सकता है कि यदि वे आत्मवादी दार्शनिक हैं तो रहस्यवाद का विरोध क्यों ? धर्म का परलोक और अध्यात्म से सम्बन्ध क्यों नहीं ? क्या विकासवादी दृष्टि आत्मवाद के अनुरूप है ? क्या उनका ज्ञानशास्त्र आत्मवाद के अनुरूप है ? क्या उनका कर्म, ज्ञान और उपासना – अध्यात्म में पर्यवसित हैं ? क्या भक्तिरस लीलावादियों की भाँति लोकोत्तर भूमि पर चरितार्थ होता है ? फिर कैसा आत्मवाद ?

पर आत्मवादी भी पूछ सकता है कि जो विकासवादी पद्धति में डारविन के 'योग्यताभाव शेष' के सिद्धान्त की जगह स्पेंसर की 'परस्पर साहाय्य की वृत्ति' मानता है और समाजशास्त्रियों के इक़रार सिद्धान्त से मतभेद रखकर नगद रक्षक 'करुणा' नाम के भाव के पीछे विश्वात्मा की इच्छा मानता है, रसपयोगी मुक्त हृदय को व्यापक आत्मा का अंग मानता है, काव्य की सिद्धावस्था को ब्रह्म की आनन्दकला का प्रकाश मानता है और उस पर पड़े हुए अधर्म के आवरण को हटाने में साधना का सौन्दर्य देखता है— वह भूतवादी कैसे ?

क्या यह एक दुर्विचार असंगति है – जैसाकि बहुत से लोग मानते हैं ? या कोई संगति लगाई जा सकती है ? मुझे ऐसा लगता है कि शुक्लजी के व्यक्तित्व के दो घटक हैं— एक तो जन्मजात— जो भारतीय संस्कारों से घटित है और दूसरा अर्जित— जो युग-चेतना से नियंत्रित है – फलतः दोनों की टकराहट होती है। अथवा जैसे संगति लगाने के लिए शुक्लजी तुलसी को दो भूमियों पर विभक्त कर देते हैं—परमार्थतः अद्वैतवादी और व्यवहारतः द्वैतवादी — वैसे ही शुक्लजी के दर्शन को भी परमार्थतः 'अव्यक्तवादी' और व्यवहारतः **'व्यक्तवादी'** माना जा सकता है। वे कहते हैं कि 'जगत्' और 'कविता' दोनों ही अभिव्यक्ति हैं— अतः उनका सम्बन्ध 'व्यक्त' से ही है। तात्विक दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है। जगत् या 'व्यवहार जगत्' का सौन्दर्य ही उनका 'साध्य पक्ष' है— उसी में मानवभाव की चरितार्थता है। उनकी दृष्टि में मानवभाव चेतना का वह विकसित रूप है, जिसमें लोक-रक्षण, पालन और रज्जन का भाव विश्वात्मा की इच्छा से सम्भावित है। इसी सम्भावना की चरितार्थता ही मुक्ति है— जो इसी शरीर और धरा पर सम्भावित है। इसी के लिए 'लोकधर्म' की व्यवस्था हुई। यह सौन्दर्य या मंगल जिन विरुद्धों का सामंजस्य है— वे 'सत्' और 'असत्' हैं। इनमें से किसी का आत्यन्तिक उच्छेद्य हो नहीं सकता— फलतः इन्हीं के बीच से जो समंजस मार्ग निकलेगा— वह लोकमंगल विधायक होगा।

(क्रमशः)

श्यामपुर-कांगड़ी क्षेत्र की महत्वपूर्ण प्रस्तर प्रतिमाएँ

डॉ० आर०सी० अग्रवाल

(विजिटिंग प्रोफ़ेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास व पुरातत्व विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)

प्राचीन भारतीय मूर्तिकला के क्षेत्र में हरिद्वार क्षेत्र को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया है। सन् १९७१ में गंगा के दाहिने तट पर भरत मन्दिर के पास खुदाई से लाल पत्थर में मथुरा शैली में उत्कीर्ण दो महत्वपूर्ण मूर्तियाँ उपलब्ध हुई थीं जो कला-सौष्ठव की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इनमें एक तो ५० इं० ऊंची यक्षो प्रतिमा है जिसका दाहिना हाथ खण्डित हो चुका है और दूसरी लगभग ५ फुट ऊंची मूर्ति द्विबाहु ऊर्ध्वरेतस् शिव की है जिनको बौद्ध कला के प्रभावन्तर्गत् स्थानक रूप में प्रस्तुत किया गया है, इनका दाहिना हाथ अभय मुद्रा में उठा है और वामहस्त में अमृत घट धारण कर रखा है। अभी तक समूचे भारतीय शिल्प-क्षेत्र में इतनी पुरानी ऊर्ध्वरेतस् शिव की मूर्ति अन्यत्र अनुपलब्ध है। काल गणना की दृष्टि से ऋषिकेश के भरत मन्दिर स्थल से प्राप्त ये दोनों मूर्तियाँ लगभग दो हजार वर्ष पुरानो तो हैं ही, इन्हें ईसा पूर्व की प्रथम शती में रखा जा सकता है और इनको प्रकाशन में लाने का श्रेय पुरातत्व विभाग भारत सरकार के अधीक्षक श्री डब्ल्यू० एच० सिद्दिकी को प्राप्त है। मथुरा संग्रहालय में भी इस आशय की समकालीन मूर्ति अद्यावधि अज्ञात है।

गंगा नदी के पूर्वी (अर्थात् बायें) किनारे पर हरिद्वार नगर से लगभग १०-१२ किलोमीटर दूर कांगड़ी (जिला बिजनौर) ग्राम बसा हुआ है जिसे आजकल श्यामपुर कांगड़ो नाम की संज्ञा दी जाती है। इसी के समीप पुण्यभूमि पर स्वामी श्रद्धानन्द जी ने प्रारम्भ में गुरुकुल की स्थापना की थी परन्तु कुछ वर्ष बाद गंगा की बाढ़ के कारण गुरुकुल भवन क्षतिग्रस्त हो जाने से इस महान् संस्था को हरिद्वार क्षेत्र में वर्तमान स्थल पर प्रतिष्ठित किया गया है। गुरुकुल विश्वविद्यालय के पुरातत्व संग्राहलय में कांगड़ी ग्राम से प्राप्त कई प्रस्तर शिला-

खण्ड व प्रतिमाएँ सुरक्षित एवं प्रदर्शित हैं जो विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। यद्यपि संग्रहालय की मार्ग-प्रदर्शिका में उनका प्रकाशन हो चुका है। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति श्री हूजा जी की प्रेरणा एवं विभागाध्यक्ष डा० सिन्हा के सहयोग से हमें कांगड़ी क्षेत्र के सर्वेक्षण का सुअवसर मिला था जिसके लिए हम इन महानुभावों एवं विभाग के सभी अध्यापकों के आभारी हैं। कांगड़ी ग्राम के पीछे जल-धारा सिद्धस्रोत आकर गंगा में मिल जाती है। यहाँ से लगभग ४ किलोमीटर दूर पहाड़ियों के बीच दो धाराओं के संगम पर ऊँचे स्थल पर पूर्व मध्यकाल (९वीं शती ई०) में यहां मन्दिर रहा होगा जिसकी नींव के सुघड़ शिलाखण्ड वहाँ आज भी विद्यमान हैं, यहाँ एक साधु महात्मा जी धूणी रमाये आसन जमाये हैं। स्थल बहुत रमणीक है।

कालान्तर में इस सिद्धस्रोत धारा के किनारे निर्मित मन्दिर की खण्डित प्रतिमाएँ स्थानिक संग्रहालय में सुरक्षित की गयीं। इनमें कुछ तो जंघा भाग की ताकें हैं यथा ललितासनस्थ अग्निदेव (संख्या १४६९।३३०), जिनके सिर के दोनों ओर अग्नि ज्वालाएँ निकल रही हैं, सिंहारूढ़ दुर्गा (संख्या १४७०। ३३१), ललितासनस्थ दिक्पाल ईशान या यम (संख्या १४७१।३३२) क्योंकि मूर्ति के घिस जाने से वाहन अस्पष्ट है। द्विबाहु दिक्पाल भी पूर्व-मध्ययुगीन शिल्प परम्परा के अनुरूप हैं। वास्तव में इसी भाव की अभिव्यक्ति ऋषिकेश के वर्तमान भरत मन्दिर की बाहरी ताकों में उपलब्ध है जो समकालीन है और एक बाहरी ताक में चन्द्र की आकर्षक आकृति प्रस्तुत करता है। यह मूलतः सूर्य मन्दिर था क्योंकि मन्दिर के पीछे प्रधान ताक में आज भी सूर्य मूर्ति जड़ी है। यह निश्चित ही प्रतिहारकालीन है।

कांगड़ी से प्राप्त १३२०।२८५ संख्यक उत्कीर्ण शिला तो पूर्व-मध्ययुगीन शिल्प की बहुत सुन्दर कृति है-- यह मूलतः लगभग ५-६ फुट चौड़ी रही होगी, जिस पर एक पंक्ति में सप्तमातृकाएँ बनी थीं। अब केवल दो विद्यमान हैं और तीसरी के हाथ में गदा तो वैष्णवी का सूचक है। इससे पूर्व की मातृका की पहचान स्कन्द कार्तिकेय की शक्ति कौमारी से की जा सकती है जिसका केश-विन्यास स्कन्द के समान है। प्रथम आकृति में देवी की गोद में शिशु की विद्यमानता मातृका भाव की द्योतक है।

विश्वविद्यालय संग्रहालय में कांगड़ी से ही प्राप्त, १३२१।२८६ संख्या पर पंजीकृत मूर्ति भी सलेटी से रग के पत्थर पर खोदी गयी है और ईसा की १०वीं शती की कृति है। यद्यपि नीचे का भाग खण्डित है परन्तु ऊपरी भाग सुरक्षित है, जहाँ शिव भगवान को सर्वथा सर्पवेष्ठित प्रदर्शित किया गया है। उनके गले में

सर्प माला (सर्प कुण्डल) सर्प केयूर, सर्प भुजबन्द— सर्वत्र सर्प का तक्षण अति भव्य एवं अलौकिक है। भारतीय शिल्प में शिव का यह अंकन अल्पमात्रा में उपलब्ध होता है। इस दृष्टि से कांगड़ी ग्राम को वर्तमान शिव मूर्ति सविशेष अध्ययन की सामग्री है।

कांगड़ी ग्राम से मध्यकालीन कुछ जैन मूर्तियाँ भी मिली हैं जिससे यह आभास ही नहीं अपितु स्पष्टरूपेण ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में जैन मन्दिर भी विद्यमान रहा होगा। संग्रहालय के १३१८।२८३, १३१६।२८४, १३२२।२८७, १३१६।२८१ संख्यक, शिलाखण्ड इसके साक्षी हैं। समीपवर्ती स्रोत से प्राप्त १६४२।४०८ संख्यक समकालान शिलाखण्ड का ऊपरी भाग शिखर के समान है व नीचे चारों ओर ताकों में जिन तीर्थंकर विराजमान हैं जिनके आसन के नीचे उनका वाहन उनके परिचायक के रूप में उत्कीर्ण किया है। अतः सर्वतोभद्रिका नाम से पहचाने जाने वाली यह मूर्ति हरिद्वार क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। यहां संभवनाथ की पहचान स्पष्ट है परन्तु चौथी ओर नीचे वाहन सिंह प्रतीत होता है जो भगवान महावीर की ओर इंगित करता है।

दिनांक ८ नवम्बर १९८४ को मुझे कुलपति श्री हूजा जी व भाई विजय शंकर जी, विभागाध्यक्ष वनस्पति शास्त्र के साथ उनकी जीप में कांगड़ी ग्राम के निरीक्षण का सर्वप्रथम सुअवसर मिला था। उस दिन श्री जयप्रकाश (कांगड़ी निवासी, वर्तमान विश्वविद्यालय में पुस्तकालय विभाग में सेवारत) के अतुल सहयोग से शिरविहीन एक कुबेर मूर्ति देखने को मिली जो ईसा की ९–१०वीं० शती की महत्त्वपूर्ण कला–कृति है ऐसी मूर्तियाँ प्राचीन भारतीय शिल्प में कम ही मिलती हैं— इसे तत्काल विश्वविद्यालय गुरुकुल कांगड़ो संग्रहालय में ३८०६/४४२ संख्या पर अंकित कर प्रदर्शित एवं सुरक्षित किया गया। यहां आसनस्थ कुबेर के दाहिने हाथ में सुरा पात्र है व उन्होंने अपना बांया हाथ अपनी बायीं टांग के आगे खड़ी एवं सुराघट लिए रमणी के पार्श्व भाग से निकाल कर रक्खा है व वामहस्त से उसको तनिक अपनी ओर आकर्षित करना चाहते हैं। वह स्पष्टतया आभंग मुद्रा में संकोचवश खड़ी है और वाम जंघा की ओर झुकी हुई है। यह भाव भारतीय मूर्ति शिल्प में असाधारण है। यद्यपि मदिरा कलश लिए रमणी धनद कुबेर के पास प्रायः विद्यमान रहती है, जैसा कि गुरुकुल संग्रहालय की अन्य तत्कालीन मूर्ति (संख्या १४७४/३३५) में पूर्णतया स्पष्ट है— यहां रमणी उनकी दाहिनी टांग के पास एक ओर खड़ी है। कला सौष्ठव की दृष्टि से शिर-विहीन सद्यः प्राप्त (३८०६/४४२ संख्यक) कुबेर मूर्ति बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वहां कुबेर को मदिरासक्त भाव में प्रदर्शित किया गया है; उनकी दाहिनी टांग के नोचे रत्नघट स्पष्टतया "धनद"

भाव का प्रतीक है यद्यपि उनके वामहस्त में नोली (रुपये की थैली, संस्कृत नकुलक) का अभाव है जो १४७४/३३५ संख्यक अन्य कुबेर मूर्ति में बायें हाथ में स्पष्टतया लिए हुए है। इस दृष्टि से गुरुकुल संग्रहालय की ये दोनों कुबेर मूर्तियाँ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हैं।

कांगड़ी ग्राम के अन्दर पड़े एक चौकोर मध्यकालीन स्तम्भ भाग पर कमलदल अभिप्राय लक्षित है व ग्राम के मंदिर के बाहर विशाल देवी मूर्ति की चौकी मात्र बची है वह भी समकालीन है— यहाँ दो सिंह देवी के दुर्गा या क्षेमंकरी भाव की पहचान कराते हैं। इन्हें भी शीघ्र गुरुकुल संग्रहालय में प्रदर्शित किया जाना चाहिए।

नवम्बर १९८४ के द्वितीय पक्ष में हमें कांगड़ी ग्राम से ७ किलोमीटर व हरिद्वार से लगभग १३ किलोमीटर दूरस्थ कांगड़ी–श्यामपुर–बिजनौर सड़क मार्ग पर बांयीं ओर एक टीले का निरीक्षण करने का सुअवसर मिला था। विभाग के छात्र, अध्यापकगण व डॉ० सिन्हा जी हमारे साथ थे। यह टीला बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे पूर्व भाई सुखवीरसिंह (सहायक क्यूरेटर, गुरुकुल संग्रहालय) इस स्थल से आयताकार मिट्टी का बना एक "वोटिव टैन्क" ले गए थे, जिसकी पुरातत्वीय खनन द्वारा ईसा की प्रथम चार शती तिथि मानी जा सकती है। इस स्थल पर चौड़ी ईंटे प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं जो पुरानी बनावट की प्रतीक हैं, नीचे एक बड़े प्रस्तर आमलक के बीच शिवलिंग रक्खा है जो लोकभाषा में कुण्डी–सोटा नाम से परिभाषित होता है। यद्यपि ऐसी कोई बात नहीं हैं, अज्ञानवश लोगों ने "आमलक" के मध्यवर्ती खण्डित भाग पर शिवलिंग लगा दिया जबकि आमलक तत्कालीन मंदिर के शिखर का भाग रहा था। ऊपर जाने पर कई लघु शिखर– आमलक खण्ड भी दिखाई दिए। जिनसे यह स्पष्ट विदित होता है कि यहाँ बड़े मंदिर के पास लघु देवालय भी निर्मित थे जिन्हें स्थापत्य की दृष्टि से "पञ्चायतन" शैली आंका जाता है। एक लघु देव कुलिका का लगभग ३ फुट ऊँचा चौकोर स्तम्भ तो निश्चित ही पूर्व-मध्ययुगीन (९वीं शती) है और निरादृतावस्था में पड़ा है। इसके पास एक सयोनि शिवलिंग पूजान्तर्गत है।

कुण्डी–सोटा नामक स्थल पर हमें लगभग दो फुट ऊँची एक मूर्ति भी देखने को मिली जहाँ चतुर्भुजा देवी ने अपना दाहिना पैर महिष राक्षस के सिर पर रक्खा है और वाम हस्त से पशु की पूंछ बलपूर्वक पकड़ कर उसे ऊपर उठा लिया है। नीचे के दाहिने हाथ से त्रिशूल भेद करती हुई देवी के ऊपर वाले दाहिने हाथ में खड्ग है और वामवर्ती ऊपर के हाथ में सम्भवतः "घण्टी" थी

जो प्रतिहारयुगीन महिषमर्दिनी मूर्तियों में प्रायः दिखाई देता है। इस दृष्टि से उपरोक्त मूर्ति ईसा की ९वीं शती की महत्त्वपूर्ण कृति है। यही भाव कांगड़ी ग्राम से प्राप्त संग्रहालय की १४६१/३५१ संख्यक, परन्तु तनिक बाद की, मूर्ति पर भी स्पष्टरूपेण अंकित है, जो लालढांग (बिजनौर जिला) नामक स्थान से प्राप्त हुई थी। संग्रहालय की कांगड़ी ग्राम से प्राप्त अन्य खण्डित मूर्ति ३१८१/४१२ लगभग ५-६ फुट ऊँची रही होगी और ईसा की १०वीं शती की कला में महिष राक्षस का वध करती हुई प्रदर्शित है, यहां महिष की गर्दन से राक्षस निकलता हुआ दिखाई देता है; देवी की बायीं टांग का तनाव पर्याप्त आकर्षक है; दाहिना पैर राक्षस की पीठ पर रखा है व पीछे से सिंह झपट रहा है। यह मध्यकालीन परम्परा के अनुरूप है जबकि "कुण्डी सोटा" व संग्रहालय की १४६१/३५१ संख्यक प्रतिमाओं द्वारा गुप्तोत्तरयुगीन पूर्व परम्परा का बोध होता है। इस दृष्टि से इस क्षेत्र की ये सभी महिषासुरमर्दिनी मूर्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण द्वारा हरिद्वार कांगड़ी क्षेत्र के प्राचीन शिल्प-कौशल की पर्याप्त जानकारी मिलती है। आशा है भावी शोध-खोज द्वारा उत्तरोत्तर प्रारम्भिक युग की अत्यधिक रोचक सामग्री उपलब्ध हो सकेगी। प्रतिहारयुग में यहां परम पावना गंगा की उपत्यका में कतिपय देव-भवनों का प्राचीन भारतीय स्थापत्य एवं शिल्प में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रहा होगा।

आचार्य का स्वरूप

वेदप्रकाश शास्त्री

दृश्यमान जगत में जितना प्राचीन मानव है, उतनी ही प्राचीन उसकी संस्कृति भी है। श्रुति रूप में मानव-मात्र के कल्याण के लिए ऋषियों ने जिस ज्ञान-ज्योति का साक्षात्कार किया, उसी ने वेद संज्ञा को प्राप्त किया। यह वैदिक संस्कृति ही मानव की आदिम संस्कृति है, यही सनातन है, यही पुराणरूपा है तथा यही अनश्वर है। इसी संस्कृति को आर्यों की संस्कृति कहा गया है। इस संस्कृति में आचार्य का मानव-समाज की सम्पूर्ण संरचना में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि "ऋतेज्ञानान्नमुक्ति" के अनुसार मुक्ति में ज्ञान ही एकमात्र साधन है तथा ज्ञान का दाता आचार्य होता है। आचार्य ही समाज का वह ज्योतिगृह है जहां से सभी को अपने-अपने प्रशस्त-पथ का ज्ञान होता है अथवा सभी के बुद्धिदीप जिसकी संनिधि प्राप्त कर प्रकाशमान हो उठते हैं।

यह समग्र जगत शब्दज्योति के ही प्रकाश में अपने-अपने कार्य में संलग्न है। यदि शब्दज्योति न हो तो समग्र संसार तमसावृत होकर क्रियाशून्य हो जायेगा। आचार्य इस शब्दज्योति का प्रज्वालक है अतः उसका महत्त्व समाज में सर्वथा अपरिहार्य है। अथर्ववेद में आचार्य एव ब्रह्मचारी के स्वरूप को अत्यन्त सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि मानव-जीवन को सच्ची एवं पूर्ण उन्नति प्रदान करने वाली वैदिक-शिक्षापद्धति का विशुद्धतम रूप वहाँ दृष्टिगोचर होता है। अथर्ववेद में आचाय की महिमा को जिस प्रकार प्रकट किया है उससे आचार्य का वास्तविक उज्जवल स्वरूप सामने आता है। वहाँ आचार्य के पाँच रूप निम्न प्रकार से परिगणित किये गये हैं—

"आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः"

(अथर्व० ११।५।१४)

आचार्य का मृत्यु रूप— जब ब्रह्मचारी आचार्य के समीप आता है और उसका वरण कर लेता है तब आचार्य सर्वप्रथम अपने को मृत्युरूप में प्रस्तुत करता है। मृत्यु का अर्थ यहाँ यम है क्योंकि यम जिस प्रकार सभी का नियमन करता है उसी प्रकार आचार्य ब्रह्मचारी के गुरुकुल में आने से पूर्व के समस्त

कुसंस्कारों का मृत्यु बनकर भक्षण करता है। छात्र में सुसंस्कार का आधान हो इससे पूर्व उसके कुसंस्कारों का क्षय होना आवश्यक है। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने यम का अर्थ इस प्रकार किया है—"यः सर्वान् प्राणिनो नियच्छति, स यमः" (सत्यार्थ प्र० पृष्ठ १०)। यद्यपि यहाँ यम का अर्थ परमेश्वर को ध्यान में रखकर किया गया है तथापि यह यमवृत्ति आचार्य में भी गौणिक रूप से दृष्टिगत होती है, अतः उसको भी यम नाम से बोधित किया गया है। जिस समय आचार्य—

"वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोतं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्ं ते शुन्धामि पायुं ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि"
(यजु० अ० ६/मं० १४)

इस मन्त्र का पाठ करते हुए उपनीयमान ब्रह्मचारी की प्रत्येक इन्द्रिय का नामग्रहण पूर्वक कथन कर रहा होता है उस समय निश्चय ही आचार्य उसके समस्त इन्द्रियगत पूर्व दोषों का वारण कर रहा होता है। यह आचार्य का मृत्यु रूप ही कहा जाता है। अतः ब्रह्मचारी–निर्माण में आचार्य के मृत्यु रूप की सर्व-प्रथम स्तुति की गयी है।

आचार्य का वरुण रूप—द्वितीय रूप आचार्य का वरुण रूप है। वेदों में स्थान-स्थान पर वरुण को पाशजाल में बाँधने वाले तथा उससे मुक्त कराने वाले के रूप में स्मरण किया गया है। स्वामी दयानन्द जी महाराज ने यद्यपि वरुण का अर्थ परमात्मा किया है तथापि उन्होंने विद्वज्जन, न्यायाधीश, आचार्य, इत्यादि भी अनेक अर्थ किये हैं। स्वामी जी के अनुसार वरुण शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार है—

"यः सर्वान् शिष्टान्मुमुक्षून्धर्मात्मनो वृणोति अथवा शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मा-त्मभिश्च व्रियते वर्ण्यते वा स वरुणः।" (स० प्र० पृष्ठ १६)

आचार्य का शिष्ट व्यक्तियों द्वारा वरण किया जाता है। ब्रह्मचारी भी प्रथम आचार्य का वरण करता है तत्पश्चात् आचार्य उसे अपने द्वारा वरण करता है। आचार्य ब्रह्मचारी को उसके बौद्धिक, मानसिक आदि बन्धनों से मुक्त करता है तथा अपने द्वारा दी गयी बौद्धिक एवं मानसिक चिन्तना से बन्धन में बाँधता है। यही आचार्य का वरुण रूप है। जब आचार्य ब्रह्मचारी के हृदय पर हाथ रखकर—

"मम् व्रते ते हृदयं दधामि मच्चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम् वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पति स्त्वा नियुनक्तु मध्यम्।"
(पा० २/२/१६)

इस मन्त्र का पाठ कर रहा होता है उस समय वह वरुण रूप का मानो साक्षात् रूप होकर अपने पाश में ब्रह्मचारी को बाँध रहा होता है।

आचार्य का सोम रूप—आचार्य का तृतीय रूप सोम का है। यद्यपि सोम के स्वामी दयानन्द जी द्वारा कृत अनेक अर्थ वैदिक कोष में उद्धृत किये गये हैं किन्तु यहाँ आचार्य से सम्बद्ध तीन अर्थ वहाँ से गृहीत किये जा सकते हैं, जैसे "सोम— ऐश्वर्ययुक्त विद्वज्जन, विद्या सम्पादक— विद्वान्, चन्द्र इव वर्तमान विद्वज्जन।"

इससे इतना तो स्पष्ट है कि सोम का सम्बन्ध आचार्य के उस रूप से है जो बौद्धिक अभ्युदय की परा कोटि पर आसीन है। सोम रूप होकर आचार्य ब्रह्मचारी के जीवन को विद्या से पूर्णतया अलंकृत करता है। यहाँ यह कहना आवश्यक होगा कि आचार्य का सोम रूप विशेषकर उस ब्रह्मचारी के लिए है जो ब्राह्मणवृत्ति का जीवन व्यतीत करना चाहता है, क्योंकि वैदिक परम्परा में वर्ण-व्यवस्था आचार्य द्वारा ही निश्चित की जाती थी। आचार्य ही अपने स्नातकों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, तथा वैश्य का वर्ण प्रदान किया करता था। यहाँ सोम रूप से अभिप्राय है आचार्य का ज्ञानप्रधान, तपस्याप्रधान तथा धर्मप्रधान जीवन धारण करना। आचार्य सच्चा ब्राह्मण तभी समाज को दे सकेगा जबकि वह सोम रूप होकर उसके अङ्गप्रत्यङ्ग में समा जावेगा।

आचार्य का ओषध रूप—आचार्य का चतुर्थ रूप ओषध का है। ओषध से अभिप्राय उन भौतिक भक्ष्य या पेय पदार्थों से है जिनके द्वारा व्यक्ति का शारीरिक विकास होता है। आचार्य ओषध रूप होकर ब्रह्मचारी के जीवन में क्षमता एवं शक्ति का संचार करता है। अन्य अर्थ में हम कह सकते हैं कि आचार्य जिस ब्रह्मचारी को वैश्यवृत्ति का बनाना चाहता है अथवा ब्रह्मचारी की रुचि व्यवसायिक पक्ष में अधिक दीखती है तो आचार्य उसके लिए ओषध रूप होकर उसे व्यवसायिक क्षेत्र का कुशल खिलाड़ी बनाता है। ओषध यहाँ पर सभी समृद्धिदायी भौतिक पदार्थों का संकेत करता है।

आचार्य का पयः रूप—आचार्य का पंचम रूप पयः है। पयः का अर्थ जल तथा दुग्ध स्थूल रूप में होता है। यहाँ पर कहा जा सकता है कि आचार्य को जल और दूध के गुणों से युक्त होना चाहिए। परन्तु पयः का यहाँ आचार्य पक्ष में क्या अर्थ लें इस विषय में शतपथ ब्राह्मण ने किञ्चित् मार्ग प्रशस्त किया है वहाँ पयः का अर्थ –

"क्षत्रं वै पयः" (शत ब्रा० १२।७।३।८)

इस प्रकार किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यहाँ आचार्य के क्षत्रिय रूप का वर्णन है। अर्थात् जो ब्रह्मचारी क्षत्रियवृत्ति का होना चाहता है उसे समस्त अस्त्र-शस्त्रादि में निपुण कराने के लिए पयः रूप (क्षत्रिय) होकर आचार्य को ब्रह्मचारी के जीवन में समाविष्ट होना चाहिए।

आचार्य और ब्रह्मचारी का सम्बन्ध उपनयन के बाद ही प्रारम्भ होता है क्योंकि उपनीत ब्रह्मचारी को ही आचार्य अपने गर्भ में धारण करता है। जैसे कि अथर्ववेद में—"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः"

(अथर्व० ११।५।३)

यहां गर्भ में धारण करने का अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार माता के गर्भ में स्थित शिशु, माता के द्वारा भुक्त पदार्थ से पुष्टि प्राप्त करता है तथा माता द्वारा ही देखे गये दृश्य का दर्शन करता है, उसके ही द्वारा सुने गये का श्रवण करता है, उसी प्रकार गर्भस्थ ब्रह्मचारी भी आचार्य द्वारा अनुमोदित पदार्थ खाता है, उसके द्वारा अनुमोदित दृश्य देखता है, तथा उसके द्वारा अनुमोदित ही श्रव्य का श्रवण करता है। इस प्रक्रिया के साथ आचार्य की इच्छानुसार ही ब्रह्मचारी के चरित्र का निर्माण होता है।

आचार्य को जहाँ वेद में इतनी प्रतिष्ठा दी गयी है वहीं ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी उसका महत्त्व पुनः दोहराया गया है। शतपथ ब्राह्मण में "मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद" कहकर आचार्य को पुरुष निर्माण की प्रक्रिया में प्रतिष्ठित किया गया है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में आचार्य को धर्मोपदेश द्वारा मानव का निर्माण करने वाला स्वीकृत किया गया है। एक प्रकार से हम धर्मोपदेष्टा को आचार्य कह सकते हैं, किन्तु यहाँ धर्मोपदेष्टा से अभिप्राय केवल अध्यात्म का उपदेश करने वाले से नहीं अपितु उस उपदेष्टा से है जो समाज के प्रत्येक वर्ग के प्रति-मानव को ज्ञानपूर्वक कर्म करने की प्रेरणा प्रदान करता है। इस प्रकार के सन्मार्ग-प्रेरक आचार्य के प्रति द्रोह करने का सर्वथा ही निषेध किया गया है। माता-पिता से भी अधिक महत्त्व आचार्य का है क्योंकि माता-पिता केवल शरीर का निर्माण करते हैं, आचार्य तो विद्या द्वारा पुरुष का द्वितीय जन्म करता है। यह द्वितीय विद्या-जन्म ही मानव का श्रेष्ठ जन्म है इसी आशय को आपस्तम्ब धर्मसूत्र में इस प्रकार देखा जा सकता है—

"यस्माद्धर्मानाचिनोति स आचार्यः।" (आप० १।१।१४)
"तस्मै न द्रुह्येत्कदाचन।" (आप० १।१।१५)

"स हि विद्यातस्तं जनयेति।" (आप० १।१।१६)

"तच्छ्रेष्ठंजन्म। शरीरमेव मातापितरौ जनयतः।" (आप० १।१।१७।१८)

महाभारत में हमें आपस्तम्ब की स्पष्ट छाया दीखती है, वहाँ भी माता-पिता को केवल शरीर का जन्म देने वाला ही कहा गया है तथा विद्या का एकमात्र सम्बन्ध आचार्य के साथ जोड़ा गया है तथा विद्याजन्य जन्म को अमृत से उपमीत किया गया है, जैसाकि निम्न श्लोक से स्पष्ट है—

शरीरमेव कुरुतः माता पिता च भारत।
आचार्यतश्च यज्जन्म तत्सत्यं वै यथाऽमृतम्॥
(महा०भा०)

तैत्तिरीयोपनिषद् में शिक्षावली के अन्तर्गत अधिविद्य प्रकरण में आचार्य को पूर्वरूप तथा ब्रह्मचारी को उत्तररूप कहा गया है। इसी प्रकार भागवत पुराण में भी ठीक उसी प्रकार का अनुसरण किया गया है, तथा आचार्य को पूर्वारणि मानकर प्रतिष्ठा प्रदान की गयी है। यथा—

अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्।
विद्या सन्धिः। प्रवचनं सन्धानम्।
(तैत्ति०शि० ३।३)

आचार्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणिः।
यत्संधानं प्रवचनं विद्या सन्धिः सुखावहा॥
(भागवत ११।१०।१२)

मनु महाराज ने मनु स्मृति में आचार्य द्वारा मानव समाज को प्रदत्त वर्ण व्यवस्था को ही जाति के नाम से व्यवहृत किया है। उनके अनुसार वेदों में पारङ्गत आचार्य मनुष्य की जिस जाति को निश्चित करता है, अथवा जातीय व्यवस्था प्रदान करता है वही मान्य है। इससे सिद्ध है कि माता-पिता या वंश का जाति अथवा वर्ण से कोई सम्बन्ध नहीं है। उक्त व्यवस्था में एकमात्र आचार्य ही प्रमुख है। यथा—

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवत् वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा नित्या साऽजरामरा॥
(मनु० २।१४८)

मनु महाराज ने केवल विद्यादान करने वाले को ही आचार्य नहीं कहा

है। उनके मतानुसार आचार्य को शिष्य का प्रथम उपनयन करना चाहिए तदनन्तर अल्पविद्या का नहीं अपितु समस्त वेद-वेदाङ्ग का सरहस्य ज्ञान कराना आचार्य का पूर्ण उत्तरदायित्व होता है क्योंकि मनु के मत में आचार्य साक्षात् ज्ञानमूर्ति के रूप में कहे गये हैं। यथा—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं विदुर्बुधाः॥

(मनु० २।१४०)

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः। (मनुः २।२२६)

आचार-परम्परा का आचार्य के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। आचार्य द्वारा निर्दिष्ट आचार ही समाज में प्रचलित होता है। किन्तु आचार्य को स्वयं उस आचार-परम्परा का पालक होना आवश्यक है, इसीलिए ऐतरेय आरण्यक में इसका संकेत इस प्रकार किया गया है—

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कीर्त्यते॥

(ऐ०आ० ३।२।६)

लिङ्गः पुराण में आचार्य का स्वरूप शास्त्रीय अर्थों का चयन करने वाले के रूप में प्राप्त होता है। किन्तु निगूढ़ शास्त्रीय चिन्तन के साथ-साथ आचार्य को यम एवं नियमों का पालन अवश्य करना चाहिए। इससे यह विदित होता है कि सूक्ष्म चिन्तना के लिए यम-नियम का पालन अपरिहेय है। अन्यथा आचार्य प्रमादवश कुछ ऐसे अर्थों की परिकल्पना कर लेगा जिसके ग्रहणं करने में मानव-समाज का अहित हो सकता है तथा कुछ कुप्रथाएँ चल सकती हैं।

"आचिनोति च शास्त्रार्थान् यमैः सनियमैर्युतः।" (लिङ्ग पु० २०।२)

अब तक आचार्य के स्वरूप को मुख्यतया तीन रूपों में देखा गया है। किसी ने आचार-परम्परा के साथ उसको घनिष्ट रूप में जोड़ा है, किसी ने विद्या के साथ तथा किसी ने उभय रूप में आचार्य के दर्शन किए हैं। वास्तव में आचार्य का स्वरूप सदाचारी विद्वान के रूप में मान्य है। इसीलिए यास्क मुनि ने निरुक्त में आचार्यविषयक सभी मान्यताओं का एक स्थान पर समाकलन करते हुए जो निर्वचन किया है वह स्वयं में परिपूर्ण है तथा उसकी समस्त विद्वत्

समाज में मान्यता रही है। यास्कीय निर्वचन इस प्रकार है—

"आचार्यः कस्मात् ? आचार्य आचारं ग्राहयति,
आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा।"
(निरुक्त १।२)

यास्क की यह आचार्य की व्याख्या आचार्य के बौद्धिक, आत्मिक, सामाजिक, तथा व्यवहारिक सम्भूतियों की सर्वस्वता को अपने में समाहित कर रही है।

अतः समाज में इस प्रकार के आचार्य की सर्वदा प्रतिष्ठा होनी चाहिए। प्रतिमानव का सम्पर्क आचार्य के साथ अवश्य होना चाहिए।

प्रस्तुत लेख में वर्णित आचार्य-गुणों से परिपूर्ण आचार्य का सामीप्य ही वह सोम रस है जिसके पानमात्र से अद्भुत तृप्ति होती है। आचार्य का जीवन ही वह पर्जन्य हैं जिसके वृष्टिबिन्दु परितप्त मानव की मनोभूमि को आशारस भरे भावाङ्कुरों से हरा-भरा कर देते हैं। आचार्य का सदुपदेश ही वह ज्ञान-सागर है जिसमें श्रद्धालुजन को विभिन्न मूल्यवान् हीरे-मोती प्राप्त होते हैं। आचार्य द्वारा प्रवाहित आचार-परम्परा ही वह कलकलनाद्वाहिनी सुरधुनी (गङ्गा) है जिसमें स्नान करके लाखों नर-नारी मानसिक मुक्ति के अधिकारी बनते हैं। आचार्य का सामीप्य ही वह पारसमणि है जिसके सम्पर्कमात्र से लौहपिण्ड भी स्वर्ण बन जाता है। आचार्य का स्नेहिल दृष्टिपात ही माता का ममता भरा हृदय है जिसमें सारा संसार वात्सल्य भाव में निहित है। आचार्य की कृपा वह रज्जु है जिसको पकड़कर अविद्या-कूप में पड़ा व्यक्ति बाहर आकर विद्या के उन्मुक्त वातावरण में विचरने लगता है। वैदिक आचार्य की शास्त्र-दृष्टि से यदि मानव देखे, उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से यदि चले तो निश्चय ही जगत् में मानव-जीवन से संत्रास भरी विसंगतियों का वारण होकर एक शाँतिप्रदायिनी सर्वविघ्नहारिणी परम्परा का उदय होगा।

उपाध्याय, संस्कृत-विभाग

—*—

आचार्य प्रियव्रत वेदमार्तण्ड के नवीन–प्रकाशित ग्रन्थ "वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त" का विमोचन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने किया। (चित्र में, आचार्य जी को उत्तरीय तथा ग्रन्थ भेंट करती हुई प्रधानमन्त्री श्रीमती गाँधी अन्य उपस्थित आर्य-बन्धुओं के साथ)
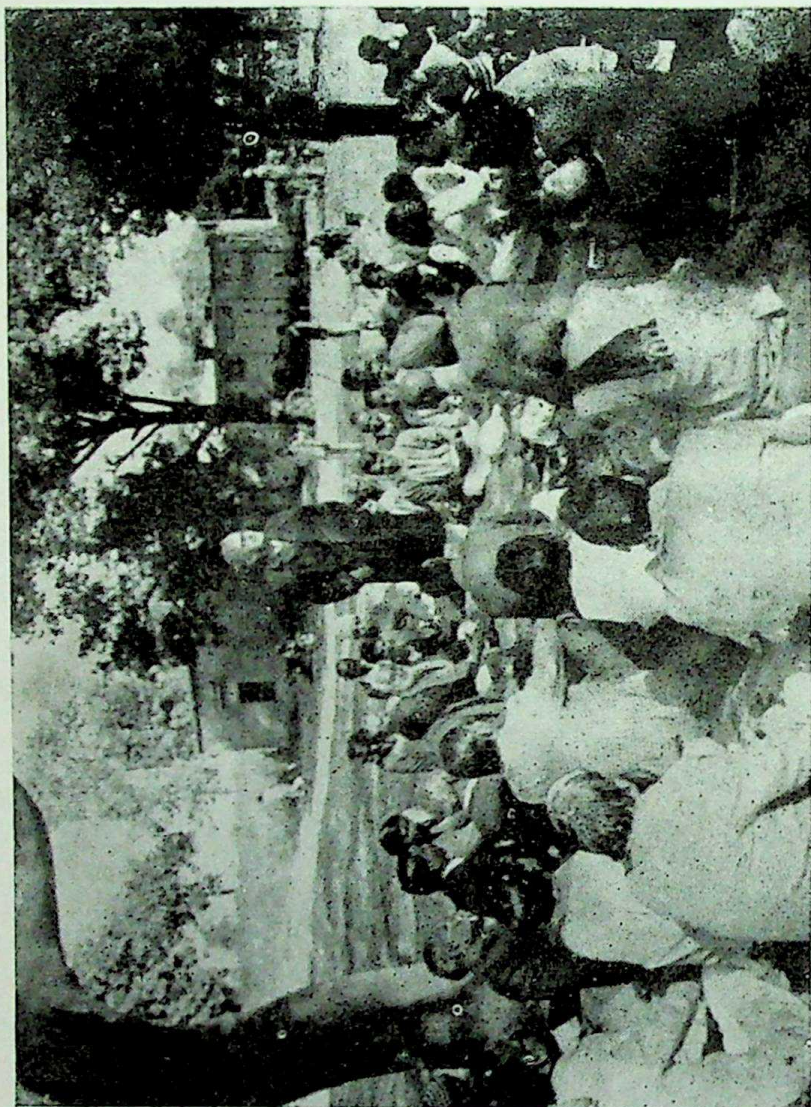
गुरुकुल परिसर में विश्वविद्यालय के शिक्षकेतर कर्मचारियों के नव-निर्माणाधीन आवास-भवन के शिलान्यास पर बोलते हुए कुलाधिपति श्री वीरेन्द्र जी। आयोजित यज्ञ में श्री कुलपति, शिक्षक तथा कर्मचारी, विकास की सम्भावनाओं का दर्शन करते हुए।

बालक के विकास में माता-पिता एवं शिक्षकों का योगदान

चन्द्रशेखर त्रिवेदी

व्यक्तित्व के विकास में वंशानुक्रम एवं सामाजिक पर्यावरण (विशेषतः परिवार एवं पाठशाला) अत्यन्त महत्वपूर्ण कारक हैं। इनमें से किसका अधिक प्रभाव पड़ता है, यह एक विवादास्पद विषय है। परन्तु बच्चे के व्यक्तित्व के विकास में माता-पिता एवं आचार्य का अत्यधिक योगदान होता है। परिवार एक प्रारम्भिक पाठशाला के रूप में होता है। परिवार में रहते हुए बालक अपने माता-पिता, भाई-बहनों, गुरुजनों आदि से बहुत कुछ सीखता है। शैशव काल में अच्छे अथवा बुरे जो भी संस्कार बच्चे पर पड़ जाते हैं, वे अमिट होते हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद' अर्थात् जब मनुष्य को अच्छे माता-पिता एवं आचार्य मिल जाते हैं तभी वह ज्ञानी हो सकता है तथा उसमें सद्गुणों एवं उच्चस्तरीय जीवन-मूल्यों का विकास सम्भव है। यही शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य है। अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त दार्शनिक एवं भूतपूर्व राष्ट्रपति स्व० डॉ० राधाकृष्णन ने कहा था-- 'Education consists in the conquest of lower impulses by the higher altogether. Education may be summed up in the concept 'morality'। जब तक बाल्यावस्था एवं किशोरावस्था में माता-पिता एवं आचार्य द्वारा अच्छे संस्कार डालने का प्रयत्न नहीं किया जायेगा, नैतिकता एवं मानवजाति को सुशोभित करने वाले अन्य सद्गुण उत्पन्न नहीं हो सकते क्योंकि 'As the twig is bent so the tree is inclined to grow'.

प्राणी में कुछ जन्मजात शक्तियाँ होती हैं। जिन्हें हम प्राकृतिक शक्तियाँ कहते हैं। उदाहरणार्थ :- सञ्चयशक्ति, पलायन, युयुत्सा, निवृत्ति, जिज्ञासा, आत्मगौरव, रचनात्मकता आदि।

प्रत्येक प्राणी में जन्म लेने के पश्चात् उसका अनुभव संचित होने लगता है। हम जिस किसी स्थिति में आते हैं हमारे मस्तिष्क पर उसका प्रभाव स्वतः छूट जाता है। प्राणी का दूसरा गुण उसके व्यवहार का सप्रयोजन होना है। उसमें संस्कारों के सञ्चय करने की ही शक्ति नहीं होती प्रत्युत उसका प्रत्येक

कार्य सप्रयोजन *होता है।* कोई जीवनीशक्ति अथवा कोई प्रेरणा उसकी ज्ञात *अथवा अज्ञात* चेतना में बैठी हुई उसका संचालन करती होती है, इसे ही हम मन *की* 'सप्रयोजन क्रियाशीलता' कहते हैं। इसी आधार पर आधुनिक मनोविज्ञान में विलियम मैक्डूगल ने 'प्रयोजनवाद' की स्थापना की। तत्पश्चात् मानसिक जीवन का तृतीय पहलू 'सम्बन्ध' आता है। चूँकि प्राणी की प्रत्येक क्रिया सप्रयोजन है अतः उसमें सञ्चित संस्कार पृथक् रूप से असम्बद्ध नहीं रह सकते वे एक दूसरे से सम्बद्ध होते रहते हैं। इसी आधार पर प्रत्यय-सिद्धान्त का विकास हुआ। किसी प्रकार का अनुभव कर लेने के पश्चात् प्रत्यय मन में नहीं रहते केवल उनकी स्मृति, उनके संस्कार मन में रह जाते हैं। और यह संस्कार क्रियाशील होते हैं, और जब अनुकूल अथवा तद्रूप स्थिति सामने आती है तो वे स्पष्टतः स्फुरित हो जाते हैं। जैसा कि पर्वतराज पुत्री उमा की शिक्षा के सन्दर्भ में महाकवि कालिदास ने कहा है—

'स्थिरोपदेशामुपदेश काले प्रपेदिरे प्राक्तन जन्म विद्या'

इन प्राकृतिक शक्तियों के अतिरिक्त संकेत, अनुकरण, सहानुभूति आदि कुछ सामान्य प्रवृतियाँ भी व्यक्ति में पाई जाती हैं। यदि इन सभी शक्तियों एवं सामान्य प्रवृतियों को यथासमय उचित ढंग से विकसित किया जाय तो समन्वित एवं संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सकता है। अब प्रश्न यह है कि माता, पिता एवं शिक्षक बालक के निर्माण में इन सबका किस प्रकार उपयोग करें। जैसा कि कहा गया है बच्चे में सञ्चय शक्ति होती है। माता, पिता एवं शिक्षक को चाहिये कि उसे अच्छे विचार, प्रेरणा-दायक सूक्तियाँ, अच्छी पुस्तकें पढ़ने एवं एकत्र करने के लिए प्रेरित करें। वस्तुतः बालक की प्राकृतिक शक्तियाँ एवं सामान्य प्रवृतियाँ शिक्षक का मूलधन हैं। यह ही मानव-व्यवहार का स्रोत हैं। इन्हीं के आधार पर गुरुजन बालक के व्यवहार में वाञ्छित परिवर्तन ला सकते हैं, उसे अच्छा नागरिक बना सकते हैं।

उल्लेखनीय है कि इन प्राकृतिक शक्तियों एवं सामान्य प्रवृतियों के उदित होने का कोई एक समय नहीं है। यह विभिन्न काल में प्रकट होती हैं। इनका अधिकतम लाभ उठाने के लिए प्राबल्यकाल का ज्ञान माता, पिता व शिक्षक को होना चाहिये। शैशवावस्था एवं बाल्यावस्था में बालक की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति अत्यन्त बलवती होती है। ऐसी स्थिति में माता- पिता एवं आचार्य का कर्त्तव्य है कि वे बालक के लिए आदर्श हों क्योंकि जैसा उनका आचरण होगा, बालक भी उसका अनुकरण करेंगे।

क्योंकि 'If gold ruste what shall iron do' अर्थात् यदि स्वर्ण ही दूषित है तो ताम्र एवं लोह का क्या कहना। यदि माता, पिता एवं आचार्य

का ही आचरण निन्दनीय है तो बालक का आचरण निन्दनीय होगा ही। अपने दैनिक जीवन में हम अनुभव करते हैं कि माता-पिता घर में उपस्थित होते हुए भी यदा-कदा बालक से कहलवा देते हैं 'कह दो पिताजी घर में नहीं हैं'। यह बात अपने में भले ही उतनी महत्वपूर्ण न मानी जाए परन्तु इसका बहुत ही बुरा प्रभाव बालक पर पड़ता है। वह धीरे-धीरे इसी प्रकार असत्य बोलना सीख जाता है। वयस्क होने पर वह ऐसे माता-पिता और शिक्षक को हेय दृष्टि से देखता है। अतएव बालक के साथ बहुत ही सावधानीपूर्वक व्यवहार करना चाहिये जिससे उसमें किसी प्रकार के दुर्गुण न उत्पन्न हों।

इसी प्रकार जिज्ञासा बहुत ही अच्छी प्रवृत्ति है। परन्तु देखा जाता है कि माता-पिता आदि बालक द्वारा किसी बात की जानकारी किये जाने पर उसे निर्दयतापूर्वक, अज्ञानतावश डांट देते हैं, फलतः वह चुप हो जाता है। ऐसा करने से उसकी जिज्ञासा नष्ट हो जाती है और उसकी ज्ञान वृद्धि अवरुद्ध हो जाती है। समन्वित एवं संतुलित व्यक्तित्व के विकास हेतु पाश्चात्य देशों में तो राजकीय स्तर पर यौन-शिक्षा तक का प्रावधान है। यथासम्भव बालक को बहुत सावधानीपूर्वक सामाजिक मान्यताप्राप्त ढंग से उसकी ऐसी जिज्ञासा का समाधान करना चाहिये। उसे रूपांतरित कर देना चाहिये। इन प्राकृतिक शक्तियों एवं सामान्य प्रवृत्तियों को चरित्र-निर्माण का आधार बनाया जाना चाहिये। बालक में अच्छी आदतें डालने के लिए इनका प्रयोग किया जाना चाहिए। अच्छी आदतों का जीवन में बड़ा महत्व है। जेम्स ने तो चरित्र को विशेष प्रकार की आदतों का समूह बताया है।

बच्चे में संकेतग्रहण योग्यता उसकी सामान्य प्रवृत्ति है। यदि बालक को माता-पिता एवं शिक्षक द्वारा अविवेकपूर्ण ढग से अधिक सुझाव दिये जाते हैं तो उसकी स्वयं की रचनात्मक शक्ति का ह्रास हो जाएगा। सुझाव-संकेत बालक को मार्गदर्शन अथवा निर्देशन के रूप में होने चाहिये, इनके आधार पर वह स्वयं अपनी समस्या का समाधान करें तब तो ठीक है अन्यथा उसकी सम्पूर्ण रचनात्मक शक्ति नष्ट हो जाएगी। प्रायः देखा गया है कि लड़कों में युयुत्सा की प्रवृत्ति बहुत अधिक होती है। परस्पर लड़ाई-झगड़ा करना उनका स्वभाव होता है। माता-पिता, शिक्षक एवं अन्य गुरुजनों को चाहिये उनकी इस प्रवृत्ति को रूपांतरित कर दें। अन्यथा ऐसी प्रवृत्ति वाले लड़के भविष्य में अपना समा-योजन सपाज में नहीं कर पाते। यदि कोई बलवान् लड़का किसी निर्बल को सताता है तो उसको इससे विरत करने के लिए शिक्षक को चाहिये कि निर्बल छात्रों की रक्षा का दायित्व उसे सौप दें।

माता-प्पिता एवं शिक्षकों को चाहिये कि बच्चों में सहानुभूति की भावना जागृत करें। यह तभी सम्भव है जब वे स्वयं बच्चों के साथ सहानुभूतिपूर्वक

व्यवहार करें, उनके प्रति प्यार प्रदर्शित करें। हमारे समाज में अधिकतर बालकों को शैशवावस्था में माता का दुग्ध पीने को नहीं मिल पाता। अनुसंधानों के आधार पर पाया गया है कि ऐसे बालक अपने भावी जीवन में मद्यपान करने लगते हैं। यह प्रवृत्ति हमारे समाज में पाश्चात्य देशों से आई है। परन्तु अब शनैः-शनैः वहां पर भी बच्चे के शारीरिक एवं मानसिक विकास के लिए मां का दूध आवश्यक माना जाने लगा है। अतः जहाँ तक हो सके बच्चों के प्रति दया, प्रेम एवं सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार किया जाना चाहिये।

रॉबिन्सन, प्रेसी, हॉरक्स, गेट्स, सोरेन्सन, स्किनर आदि शिक्षा-शास्त्रियों का सामान्य मत है कि माता-पिता के द्वारा बालक का अत्यधिक प्यार अथवा तिरस्कार किए जाने पर उसमें क्रमशः असुरक्षा की भावना एवं चिड़चिड़ापन जैसी बातें उत्पन्न हो जाती हैं। अतएव बच्चे को अत्यधिक प्यार करना या उसका तिरस्कार करना दोनों ही हानिकर हैं। देखा जाता है कि जब बालक अत्यधिक सुन्दर अथवा बुद्धिमान होता है (ii) माता-पिता की एकमात्र संतान होता है (iii) माता-पिता की संतान अधिकतर जीवित नहीं रही (iv) माता-पिता वयोवृद्ध हैं अथवा (v) घर में पर्याप्त धन है, तो ऐसी स्थिति में वह परिवार के लोगों की आँखों का तारा बन जाता है। अति प्यार के कारण उसमें असुरक्षा की भावना बढ़ जाती है वह आत्मनिर्भर नहीं रह पाता। गेट्स के अनुसार हैरी नामक व्यक्ति ५५ वर्ष की आयु में अपनी माँ की मृत्यु हो जाने पर अपने को अत्यन्त असुरक्षित एवं असहाय समझता था क्योंकि उसकी माँ उसको इस आयु में भी प्यारवश हाथ से खाना खिलाती, पंखा झलती, उसे एक घंटा खेलने के पश्चात् दो घन्टे विश्राम के लिए विवश करती, स्वयं पचहत्तर वर्ष की होते हुए उसके हाथ व पैर दबाती और उसकी क्लान्ति दूर करने का प्रयत्न करतीं। उसके इस प्यार से हैरी की आत्मनिर्भरता नष्ट हो गई। माँ की मृत्यु के पश्चात् उसे जीवनयापन करना कठिन हो गया। अत्यधिक प्यार के यह दुष्परिणाम हुए। अतएव माता-पिता आदि को इस विषय में बहुत ही सावधान रहना चाहिए। हमारी संस्कृति में तो कहा गया है :—

> लाड़येत् पञ्चवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत्।
> प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रमित्रमिवाचरेत्॥

इसी प्रकार जब बालक कुरूप होता है (ii) बुद्धिहीन होता है (iii) अधिक भाई-बहिन होते हैं (iv) परिवार में निर्धनता होती है तब माता-पिता द्वारा उसका तिरस्कार किया जाता है। उसकी इच्छाओं एवं आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती। फलतः उसमें चिड़चिड़ापन आ जाता है। उसमें नाना प्रकार से

हीन भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में भी बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है। बच्चे के सर्वतोन्मुखी विकास हेतु यह आवश्यक है कि माता-पिता एवं आचार्यगण उच्चकोटि का आदर्श बच्चों के सामने उपस्थित करें। बच्चों की क्षमताओं, शक्तियों, आवश्यकताओं आदि को भली प्रकार समझें । तभी अच्छे और संतुलित व्यक्तित्व के नागरिक देश में उत्पन्न किए जा सकेंगे।

मनोविज्ञान-विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

— * —
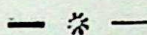
छान्दोग्योपनिषद् का महत्व

आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार

उपनिषत् साहित्य में छान्दोग्यापनिषत् का अपना विशेष स्थान है। प्रामाणिक एवं प्राचीन मानी जाने वाली उपनिषदों में इसको प्रथम श्रेणी में रखा जाता है, क्योंकि यह उपनिषदों में अपनी गम्भीरता तथा ब्रह्मज्ञान प्रतिपादन की दृष्टि से नितान्त प्रौढ़ एवं प्रामाणिक मानी जाती है। इसमें अनूठी शैली से उद्गोथ, साम, एकसूत्रता इत्यादि आध्यात्मिक तथ्यों को जिस विशेषता के साथ समझाया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

यह उपनिषद् सामवेद से सम्बन्ध रखती है। 'छन्दांसि गायन्तीति छन्दोगाः, तेषमिमुपनिषद्' छन्द नाम है सामवेद का, उसको जो गाते हैं, वे छन्दोग कहलाते हैं। उनकी जो उपनिषद् हैं वह छान्दोग्य कहलाती है। इस उपनिषद् में सामोपासनाओं की रीति बतलाई गई है। यद्यपि वैदिक परिपाटी के विलुप्त हो जाने से आजकल उनका मुख्य तात्पर्य समझना दुर्बोध हो गया है, तथापि इस उपनिषद् का समाहित होकर मनन करने से हम इतना तो जान ही सकते हैं कि हमारे पूर्वज किस प्रकार व्यष्टि से समष्टि और समष्टि से व्यष्टि का दर्शन करते थे। वे जहाँ संसार की प्रत्येक वस्तु में उस परमेश्वर की सत्ता और महिमा को निहारते थे, वहाँ इस सकल ब्रह्माण्ड को भी उसमें ही ओत-प्रोत जानते थे।

इस उपनिषद् में कुल आठ प्रपाठक हैं, जिनमें से प्रथम पाँच प्रपाठकों में प्रधानतया उपासनाओं का वर्णन है और अन्तिम तीन प्रपाठकों में ज्ञान का। इस उपासना और ज्ञान जैसे दोनों गम्भीर विषयों को सम्यक् प्रकार से, अधिकारी की योग्यता के अनुसार, हृदयंगम कराने के लिए स्थान-स्थान पर आख्यायिकाएं एवं लोक-व्यवहार से निदर्शन भी किये गये हैं। इसके स्वाध्याय से केवल आध्यात्मिक रहस्य ही खुलते हों ऐसी बात नहीं, लोक में आपद्धर्म क्या है और इसका समाधान कैसे करना चाहिये—यह शिक्षा भी हमें इससे मिलती है। वैसे प्रथम प्रपाठक में कर्मकाण्ड में अत्यन्त मर्मज्ञ उषस्तिचाक्रायण अकाल पड़ने पर, प्राण संकट उपस्थित होने पर, इभ्यग्राम में हाथीवान के झूठे 'उड़द' खा लेना भी धर्म समझते हैं जबकि प्यास लगने पर भी वे उनका झूठा जल स्वीकार

नहीं करते, क्योंकि जल बहुतायत में प्राप्त होने से तद्विषय में मर्यादा रखी जा सकती है ।[1]

इस उपनिषद् की सत्यकाम जाबाल की कथा भी अपने में कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस कथा में जाबाल और सत्यकाम की सत्यपरायण में सत्य के अद्भुत प्रेरणा प्रदान करने की शक्ति है । सत्यकाम की सत्यपरायणता ने हारिद्रुमत जैसे आचार्य को अपनी ओर ऐसा आकृष्ट कर लिया कि उसने उसे इस सत्य प्रेम के आधार पर ही ब्राह्मण कोटि में घोषित कर दिया ।

सप्तम अध्याय में सनत्कुमार एवं नारद का संवाद भी अत्यन्त विश्रुत वृतान्त है जो क्रमशः शब्दवित् से आत्मवित् होने का दिव्य-पथ है। इसी प्रकार अष्टमाध्याय में इन्द्रविरोचन का प्रजापति के समीप आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए जाना और प्रजापति का शनैः-शनः उन्हें आत्म सम्बन्धी ज्ञान कराना साधकों को अध्यात्म मार्ग में निष्ठा एवं धैर्यपूर्वक साधना में लगे रहने की प्रेरणा देता है ।

इस उपनिषद् के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' एवं 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य ऐसे हैं जिन पर शंकराचार्य ने अपने अद्वैत सिद्धान्तों को खड़ा किया है। यहाँ तक कि इसमें सब तरह से साधना एवं अनुभूति सम्बन्धी ज्ञान होने पर भी यह उपनिषद् अपने भाष्यकारों, व्याख्याकारों एवं टीकाकारों आदि से एक महान दर्शन का रूप धारण कर गई है ।

जीवन का मुख्य लक्ष्य परमेश्वर की प्राप्ति है जिसके लिए जगत्, जीव एवं ब्रह्म का विवेक आवश्यक है। इन तीनों का विवेक करा कर मानव को अपने चरमोद्देश्य के प्रति अग्रसर करना ही इस उपनिषद् का प्रधान कार्य है। अध्यात्म मार्ग में इस उपनिषद् का महत्वपूर्ण योगदान होने से इसका इस क्षेत्र में अपना विशेष स्थान है ।

आचार्य एवं उप-कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

— ❀ —

१- न वा अजीविष्यमिमानखादन्...................कामो मे उदयमानम् ।।छां० १-१०।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : व्यक्ति और आलोचक

भगवानदेव पाण्डेय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सं० १९४१ की आश्विन पूर्णिमा को गोरखपुर जिले के अगोना नामक ग्राम में हुआ था। इनकी माता गाना के मिश्रवंश की थीं। इनके पिता का नाम पं० चन्द्रवली था, जो प्रवन्धक कानूनगो के पद पर कार्यरत थे। शुक्ल जी की शिक्षा का श्रीगणेश हमीरपुर जिले की राठ तहसील में हुआ। ये यहाँ के वर्नाक्यूलर स्कूल में भरती हुए। उस समय हिन्दी की पढ़ाई की व्यवस्था केवल छठीं,सातवीं कक्षा तक होती थी पर, पिता के निर्देशानुसार ये उक्त कक्षाओं तक भी हिन्दी की शिक्षा प्राप्त न कर सके। इन्होंने आठवीं तक उर्दू, फारसी तथा नवीं में ड्राइंग पढ़ा।

लेकिन हिन्दी-प्रेम शुक्ल जी में बाल्यकाल से ही था, जिससे ये पिता के आदेश का उल्लंघन करके पंडित गंगाप्रसाद से हिन्दी पढ़ते थे। नौ वर्ष की अवस्था में ही इनकी माता का स्वर्गवास हो गया। राठ से शुक्ल जी के पिता मिर्जापुर में सदर कानूनगो होकर आ गये। शुक्ल जी मिर्जापुर के जुबिली स्कूल में उर्दू के माध्यम से अंग्रेजी पढ़ने लगे और सं० १९५५ में मिडिल पास किया। शुक्ल जी का विवाह १२ वर्ष की अवस्था में काशी के पं० रामफल ज्योतिषी की कन्या से हो गया। जब ये नवीं कक्षा में थे तभी इनकी मातामही का स्वर्गवास हो गया, जिन पर शुक्ल जी की अतीव श्रद्धा थी। शुक्ल जी के व्यक्तित्व में गाम्भीर्य की निहित का एक कारण इनकी मातामही के स्वर्गवास का इन पर प्रभाव भी है। उनकी मृत्यु ने इन पर कुछ ऐसा प्रभाव डाला कि ये क्रमशः गम्भीर होते गए। मातामही की मृत्यु के पश्चात् तो बहुत दिनों तक ये हँसी-प्रसंग पर भी नहीं हँसते थे।

शुक्ल जी ने लन्दन मिशन स्कूल से स्कूल फाईनल की परीक्षा सं० १९५८ में उत्तीर्ण की तथा आगे पढ़ने के लक्ष्य से प्रयाग की कायस्थ पाठशाला में एफ० ए० में नाम लिखा गया। उस समय एफ० ए० में उच्च गणित की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी। शुक्ल जी गणित में बहुत कमजोर थे जिससे कि एक माह के पश्चात् इन्होंने पाठशाला छोड़ दी। गणित के अतिरिक्त सभी विषयों में शुक्ल जी का स्थान हमेशा अपनी कक्षा में प्रथम

रहता था। अन्त में ये 'प्लीडरशिप' (वकालत) पढ़ने प्रयाग गये, पर इसमें इन्हें सफलता न प्राप्त हो सकी।

शुक्ल जी को शिक्षा-काल में बहुत अधिक अर्थ-संकट का सामना करना पड़ा था, क्योंकि विमाता से इनके सम्बन्ध अच्छे न थे जिससे पिता भी इनसे खिंचे रहते थे और कोई भी आर्थिक सहायता नहीं करते थे। परिणामस्वरूप इनको अपने अध्यवसाय के बल पर ही शिक्षा प्राप्त करनी पड़ी। अर्थोपार्जन के लिए ये 'आनंदकादंबिनी' में अतिरिक्त समय में काम करते थे। स्कूल के प्रधानाध्यापक श्री के० एन० बरुआ इनके प्रति बहुत ही कृपालु थे और इन्हें ट्यूशन दिला देते थे। इस प्रकार शुक्ल जी ने शिक्षा प्राप्त की। शिक्षा समाप्त करने पर शुक्ल जी ने सरकारी नौकरी की और शीघ्र ही उसे छोड़ी भी। शुक्ल जी की हस्तलिपि अत्यन्त सुन्दर थी। हस्तलिपि से प्रभावित होकर मिर्जापुर के कलक्टर विंढम साहब ने शुक्ल जी की नामज़दगो नायब तहसील-दारी के लिए कर दी। नायब तहसीलदारी की परीक्षा में शुक्ल जी अच्छी तरह उत्तीर्ण हुए, अतः विंढम साहब ने नामज़दगी के साथ ही इन्हें एक अंग्रेजी आफिस में २०) मासिक पर फिलहाल नियुक्त कर दिया। लेकिन शुक्ल जी के आत्मसम्मान ने इन्हें अधिक दिनों तक टिकने न दिया। कार्यालय के प्रधान लेखक द्वारा रविवार को भी बुलाने पर इन्होंने त्यागपत्र दे दिया। यह वह समय था जब सरकारी अधिकारी किसी व्यक्ति के हृदय में आत्मसम्मान को जगने नहीं देना चाहते थे।

शुक्ल जी के लिए आत्मसम्मान जीवन का अमूल्य रत्न था, जिसे खोना मनुष्यत्व से भ्रष्ट होना मानते थे। नौकरो छोड़ने के पश्चात् प्रतिक्रियास्वरूप सं० १९५९ में शुक्ल जी ने 'इण्डियन रिव्यू' में 'ह्वाट हैज इण्डिया टू डू' नामक लेख लिखा। नौकरी त्याग के बाद सर्वत्र इनकी उपेक्षा होने लगी। पिता भी खिंचे रहते थे। अर्थसंकट के कारण सं० १९६५ में मिर्जापुर के मिशन स्कूल में २०) मासिक वेतन पर ड्राईंग मास्टरी कर ली। इस काम को शुक्ल जी ने बड़ी प्रसन्नता से ग्रहण किया।

शुक्ल जी के साहित्य-निर्माण की दो पवित्र भूमियाँ रहीं हैं— मिर्जापुर तथा काशी। मिर्जापुर इनके साहित्य-निर्माण का आरम्भ था जिसमें काशी आने पर विकास, प्रौढ़ता और पूर्णता आई। शुक्ल जी को मिर्जापुर से विशेष प्रेम एवं लगाव था। शुक्ल जी के साहित्यिक होने का हेतु इनमें बाल्यकाल से ही उपस्थित था। माता से इन्होंने महान् साहित्यिक परम्परा का रक्त पाया था। इनकी माता गोस्वामी तुलसीदास के वंश की थीं। इनके पिता जी अच्छे काव्य-प्रेमी थे। 'प्रेमधन की छाया स्मृति' में शुक्ल जी ने लिखा है-- "मेरे पिताजी

फ़ारसी के अच्छे ज्ञाता और पुरानी हिन्दी कविता के बड़े प्रेमी थे। फ़ारसी कवियों की उक्तियों को हिन्दी कवियों की उक्तियों के साथ मिलाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। वे रात को प्रायः 'रामचरित मानस' और 'रामचन्द्रिका' घर के सब लोगों को एकत्र करके, बड़े चित्ताकर्षक ढंग से पढ़ा करते थे।" पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था में शुक्ल जी को ऐसी साहित्यिक मित्र-मण्डली मिल गई जिसमें निरन्तर साहित्य-चर्चा हुआ करती थी। इनमें—श्रीयुत काशीप्रसाद जो जायसवाल, बा० भगवानदास जी हालना, पं० बदरीनाथ गौड़, पं० उमाशंकर द्विवेदी मुख्य थे। प्रारम्भिक काल में शुक्ल जी श्री रामगरीब चौबे से अप्रत्यक्षतः प्रभावित हुए। वे रमई पट्टी में शुक्ल जी के घर में ही रहते थे।

शुक्ल जो के साहित्यिक जीवन में काशी-आगमन एक मुख्य घटना है। सं० १९६६-६७ में 'हिन्दी-शब्द-सागर' का काम करने के लिए ये काशी आए। काशी आने पर इन्हें साहित्यिक कार्य करने के लिए सुविधाएँ एवं प्रोत्साहन मिलने लगे। शुक्ल जी की प्रतिभा के विकास के लिए क्षेत्र देने का श्रेय 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' को है, क्योंकि ये अपने सर्वश्रेष्ठ आलोचक के रूप में सभा के फर्मायशी कार्यों द्वारा ही दृष्टिगत हुए। सभा की जायसी ग्रन्थावली, तुलसी ग्रन्थावली तथा इतिहास ने ही इन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ आलोचक बनाया। कुछ समय तक इन्होंने 'काशी नागरी प्रचारिणो पत्रिका' का सम्पादन-कार्य भी किया।

शब्द-कोष का कार्य सम्पन्न होने के बाद इनकी नियुक्ति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में अध्यापक पद पर हो गई। भारतीय विश्व-विद्यालयों में हिन्दी की शिक्षा के प्रतिस्थापकों में शुक्ल जी प्रमुख थे। हिन्दी-साहित्य में इनकी गहरी पैठ, सुलझी बुद्धि और विचारों को बोधगम्य बनाने की सरल प्रणाली ने हिन्दी की उच्च शिक्षा व्यवस्था को दृढ़ता प्रदान को। बाबू श्यामसुन्दर दास के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् ये जीवन-पर्यन्त अध्यक्ष पद पर अधिष्ठित रहे। शुक्ल जी श्वास रोग के मरीज थे। जाड़ों में इससे ये अधिक परेशान रहते थे। माघ सुदी ६, रविवार सं० १९९७ की रात को (९-९-३० के बीच) श्वास के दौरे के बीच सहसा हृदय-गति रुक जाने से इनका देहान्त हो गया।

शुक्ल जी बहुत बड़े आत्म-सम्मानी थे। आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए इन्होंने सरकारी एवं अलवर राज्य की नौकरी छोड़ी थी। गुलामी इनसे नहीं हो सकती थी। जिस समय ये महामना मालवीय जी की बात को न मानकर अलवर जाने लगे थे, उसी समय महामना जी ने इनसे कहा था—

कि "न अलवर ही आपके लायक है और न आप हो अलवर के लालक हैं, मगर, खैर जाइए।' वास्तव में मालवीय जी इन्हें विश्वविद्यालय नहीं छोड़ने देना चाहते थे, पर अर्थाभाव के कारण ही ये अलवर चले गये थे और एक मास के बाद हो अलवर छोड़ कर चले आए। इनके स्वाभिमान के बारे में एक कहानी प्रचलित है कि एक बार ये फटी धोती पहने बैठे थे जिस पर इनकी धर्मपत्नी ने कहा-- 'तुम अच्छी नौकरी तो करते नहीं, यहाँ ७५) रु० पर जिन्दगी बिता रहे हो।' यह सुनते ही शुक्ल जी ने तुरन्त कहा—

चाथड़े लपेटे चने चाबेंगे चौखट पर,
चाकरी करेंगे नहीं चौपट चमार को।

आचार्य शुक्ल, जिस कारण साहित्य के क्षेत्र में निखरे रूप में प्रतिस्थापित हुए, वह थी उनकी गुण-दोष के संग्रह-त्याग की, नीर-क्षीर-विवेकिनी शक्ति। किसी के गुण-द्वेष के पकड़ की बड़ी तीक्ष्ण प्रज्ञा थी, जिसके कारण ही ये आलोचना के क्षेत्र में सबसे अधिक सफल हुए। यद्यपि इन्होंने कहानी, कविता, अनुवाद आदि रचना के क्षेत्र को अपनाया, पर स्थिरता आकर इन्हें आलोचना में ही मिली। आलोचना के क्षेत्र में आज भी शुक्ल जी ही आधार एवं मापदण्ड हैं। सभी आलोचक आलोचना लिखते समय एक बार अवश्य ही, चाहे पक्ष में अथवा विपक्ष में, शुक्ल जी का नाम अवश्य लेते हैं। आलोचक शुक्ल जी का प्रधान गुण है उनका गम्भीर व्यक्तित्व, जिसकी छाप उनकी रचनाओं, प्रधानतः निवन्धों तथा आलोचनाओं में मिलती है। इस गाम्भीर्य के साथ ही उनमें एक अन्य विरोधी गुण था-- हास्य, व्यंग्य और विनोद की प्रवृत्ति।

शुक्ल जी का कार्य अधिक गम्भीर और विशद था। इन्होंने नवीन साहित्यिक विचारधारा को सुश्रृंखल स्वरूप प्रदान किया। इन्होंने जायसी, सूर, तुलसी जैसे महाकवियों के काव्य को एक नवीन विवेचना द्वारा प्रस्तुत किया जो नवीन होते हुए भी प्राचीन कवियों के प्रति अत्यन्त उदार थी। इससे शुक्ल जी ने प्राचीन काव्य और उसमें व्यक्त संस्कृति को समादर की वस्तु बनाकर अत्यधिक लाभान्वित किया। शुक्ल जी की दृष्टि सदैव विचारों और सिद्धान्तों के क्षेत्र में बुद्धिवादी थी। बौद्धिक धरातल पर तौलकर ही ये किसी सिद्धान्त की स्थापना या मान्यता स्वीकार करते थे। ये विकासवाद के सिद्धान्त को मानते थे। इनके सिद्धान्तों और विचारों में लोक-भावना अथवा लोक-सिद्धान्त प्रमुख हैं। लोक-सिद्धान्त के आधार पर ही इन्होंने अपना काव्य-सिद्धान्त स्थिर किया है। इनकी लोकवाद की भावना व्यापक, उदार और सर्वदेशीय है, पर यह निरर्थक नहीं अपितु नियंत्रित और सार्थक है।

युग में प्रचलित विचारों से व्यक्ति अछूता नहीं रहता। प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रूप में वह अवश्य प्रभावित रहता है। आलोचक भी परिवेश को ध्यान में रखकर अपनी अभिव्यक्ति करता है। यद्यपि कवि एवं 'सहृदय' के कर्म भिन्न-भिन्न अवश्य हैं लेकिन आलोचक का कवि-सुलभ गुणों से युक्त होना अनिवार्य है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ऐसे ही व्यक्ति थे। उनमें रचनात्मक शक्ति के साथ ही आलोचनात्मक शक्ति विद्यमान थी। उन्होंने निबन्ध, कविता आदि के साथ ही आलोचनाएँ भी लिखीं जिसमें उन्हें विशेष सफलता मिली।

आलोचक कवि की तरह अपनी मन की तरंग में नहीं लिखता। आलोचना मन की गंभीर स्थिति का परिणाम है, जिसमें बुद्धि के साथ हृदय भी लगा रहता है, पर विषय का विवेचन सापेक्ष्य होने के कारण बुद्धि का नियंत्रण चलता है। वास्तव में आलोचना बुद्धि-पक्ष- प्रधान कर्म है। आलोचना के लिए गांभीर्य, बुद्धि-पक्ष की प्रधानता तथा अध्ययनशीलता अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य शुक्ल इन्हीं गुणों के कारण हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक हो सके। उन्होंने अपनी विवेचना-शक्ति के द्वारा हिन्दी-आलोचना को सत्य और सुव्यवस्थित मार्ग पर सर्वप्रथम लगाया जिससे ये आलोचना के प्रथम प्रतिस्थापक कहे जाते हैं।

प्राचीन भारतीय साहित्य में आलोचना का जो स्वरूप मिलता है वह आधुनिक आलोचना से भिन्न था। प्राचीन आलोचक किसी कवि पर अपने विचार सूत्र-रूप में एकाध श्लोक में व्यक्त कर देते थे। लक्षण-ग्रन्थों में एक आचार्य दूसरे आचार्य द्वारा निर्मित लक्षण का खंडन-मंडन करता था। ऐसी आलोचना व्यावहारिक आलोचना कहलाती थी। बाद में भारतीय रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि से सैद्धान्तिक आलोचना शुरू हुई।

हिन्दी में 'सच्ची समालोचना' के आरम्भक श्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' तथा श्री बालकृष्ण भट्ट माने जाते हैं। इन लोगों ने सं० १९४२-४३ में अपनी-अपनी पत्रिकाओं--'आनंद-कादंबिनी' और 'हिन्दी-प्रदीप' में इसका आरम्भ किया था। 'प्रेमधन' जी ने 'वंगविजयता' की आलोचना की थो और भट्ट जी ने प्रेमधन जी के साथ 'संयोगिता स्वयंबर' की आलोचना अपनी-अपनी पत्रिकाओं में की। इन आलोचनाओं में आलोचकों की दृष्टि गुण-दोष दर्शन के साथ कहीं-कहीं विवेचन पर भी उद्घाटित हुई है। उस युग के अनुसार आलोचना के गुण इन लोगों में विद्यमान थे। आगे चलकर मिश्र बन्धुओं (श्री श्यामबिहारी मिश्र तथा श्री शुकदेवबिहारी मिश्र) ने 'हम्मीर हठ' की आलोचना लिखी। अपने आरंभिक रूप में हिन्दी-आलोचना केवल गुण-दोष दर्शन के रूप में थी। उस समय जो आलोचनाएँ होती थीं, वे प्रायः किसी

पुस्तक को लेकर ही, पत्रिकाओं में संपादकों द्वारा ही की जाती थी। उनको पुस्तकीय तथा व्यवस्थित रूप नहीं मिल पाया था।

हिन्दी में पुस्तकाकार में आलोचना का प्रादुर्भाव सं० १९५८ में (सन् १९०१) श्रीगणेश द्विवेदी जी की 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' से होता है जिसमें "लीला सीताराम बी० ए० के कुमारसंभव, ऋतु संहार, मेघदूत और रघुवंश भाषा विषयक विचार" थे। द्विवेदी जी के बाद मिश्रबंधु, पद्मसिंह शर्मा आदि की आलोचनाएँ आईं जिनमें कुछ-कुछ पक्षपात की प्रवृत्ति के दर्शन हो सके। बाद में इसी शैली के आलोचक श्रीकृष्णबिहारी मिश्र की आलोचना कवियों की विशेषताओं की परिचायिका तथा मार्मिक है, जिसमें विवेचना की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। बाबू श्यामसुन्दर दास सर्वप्रथम सन् १९२०–२१ में सैद्धान्तिक आलोचना की ओर अग्रसर हुए और पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर—'साहित्यालोचन' प्रस्तुत किया। इस समय तक आलोचना का प्रवाह कुछ अग्रसर हो रहा था जिसमें गुण–दोष–निदर्शन से आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं के निरूपण की प्रवृत्ति मिलने लगती है, पर इनकी संख्या सीमित थी। इस समय तक की आलोचनाओं में विवेचनात्मक आलोचना का सच्चा स्वरूप नहीं था जिनमें कि समालोच्य साहित्यकार की कृतियों का निरूपण देश-काल की परिस्थिति के अनुसार किया जाता है तथा जिसमें आलोच्य के विचारों का ध्यान रखा जाता है। इस वास्तविक विवेचनात्मक आलोचना का आरंभ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया। उनकी तुलसी, सूर, जायसी की आलोचनाओं में आलोचना के विवेचनात्मक स्वरूप के दर्शन हमें मिलते हैं।

कोई आलोचक किसी कवि या कृति पर विचार करते समय अपनी रुचि को अलग नहीं कर पाता। समर्थ और शिष्ट रुचि वाला आलोचक अपने लिए आलोचना के कुछ सिद्धान्त निर्धारित करता है जो उसकी आलोचना के आधार होते हैं। यही कारण है कि आलोचक मीमांसक भी होते हैं। वे साहित्य-सिद्धान्त और आलोचना दोनों प्रस्तुत करते हैं। आचार्य शुक्ल इसी श्रेणी के आलोचक थे। इन्होंने आलोचना के साथ ही काव्य के सिद्धान्त भी निर्धारित किए। उनके कुछ अपने काव्य-सिद्धान्त हैं जिनके आधार पर उनकी आलोचनाएँ खड़ी हैं। ये हिन्दी के प्रथम आलोचक हैं, जिन्होंने काव्य-सिद्धान्त के साथ ही आलोचनाएँ भी प्रस्तुत कीं। इनके पहले जितने भी आलोचक थे उनका आधार संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों में निर्धारित काव्य-सिद्धान्त थे। वे प्राचीन सिद्धान्तों से चलकर लक्ष्य तक पहुँचना चाहते थे। आचार्य शुक्ल ने अपना सिद्धान्त स्थापित किया और उसके अनुसार लक्ष्य की ओर चले।

समीक्षक को सहृदय होना चाहिये, क्योंकि उसे समानधर्मा बतलाया जाता है, फिर भी उसका क्षेत्र भिन्न है। कुछ आलोचक कवि भी होते हैं, आचार्य शुक्ल ऐसे ही आलोचक थे। संस्कृत के आचार्यों ने कवित्व और समीक्षकत्व को समान देखकर कवि और समीक्षक में अभेद माना है। पर, राजशेखर, स्वरूप और विषयभेद के कारण कवित्व एवं भावकत्व में भेद मानते हैं, क्योंकि समानधर्मा होते हुए भी कवि-कर्म रचनात्मक है और आलोचक का कार्य विवेचनात्मक; कवि में रचना-शक्ति प्रधान होती है और समीक्षक में भाविका-शक्ति।

पाश्चात्य समीक्षकों ने आधुनिक आलोचना पर ध्यान दिया है। अंग्रेज समालोचक एवरक्रोम्बी के अनुसार आलोचक में मर्मभेदिनी काव्य-दृष्टि, कवि और काव्य के प्रति सहानुभूति, कवि की मनोदशा समझने के लिए काल्पनिक ग्राह्यता, व्यावहारिक ज्ञान, नीर-क्षीर-विवेकिनी शक्ति तथा ऐसे ही अन्य गुण होने चाहिए। आलोचक में निरीक्षणशक्ति तथा व्यापक काव्यमर्मज्ञता आवश्यक है। आलोचना को आचार्य शुक्ल हमेशा एक गंभीर कार्य मानते रहे हैं और इसके लिए अध्ययन, मनन, और निरीक्षण, मार्मिक काव्यदृष्टि आदि को आवश्यक माना है। शुक्ल जी में अध्ययन, मनन और चिन्तन की प्रवृत्ति आरम्भ से ही रही है, यही कारण है कि साहित्य के संबंध में विचारपूर्वक सिद्धान्त की विवेचना एवं स्थापना उनकी रचनाओं में आरम्भ से ही मिलती है।

हिन्दी-आलोचना-क्षेत्र में आचार्य शुक्ल के ऐतिहासिक महत्त्व, उनकी साहित्य-चिन्तना शक्ति, उनकी विषयविधान-विशिष्टता आदि विशेषताओं का विशिष्ट महत्त्व रहा है। आचार्य शुक्ल ऐसे आलोचक थे जिन्होंने अपना एक मौलिक निकाय स्थापित किया है। जिसके माध्यम से चलकर वह सुलझी बुद्धि और परिष्कृत हृदय द्वारा साहित्य-चिन्तन के लक्ष्य तक पहुँचे हैं और निर्णीत लक्ष्य को दृष्टि-पथ में रखकर इतना प्रभूत और मान्य कार्य किया है कि साहित्य पर उनकी अमिट छाप पड़ गई है जिससे कि अनेक साहित्यकार उनके अनुगामी हो गए हैं। इसीलिए उन्हें (शुक्ल जी को) एक सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक माना जाता है, जिस पर उनके अनुगामी चलकर उनकी मान्यताओं का प्रतिपादन, समर्थन और विकास करते हैं। इस निकाय के प्रमुख एवं मान्य आलोचकों में पं० कृष्णशंकर शुक्ल, डॉ० राजबली पाण्डेय, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि आते हैं। यद्यपि शुक्ल जी के समानान्तर चलने का बहुत से आलोचकों ने दुस्साहस किया है फिर भी 'दूसरी परम्परा की खोज' आज भी जारी है। और आचार्य शुक्ल के बाद 'दूसरी परम्परा की खोज' अंधेरे में भटकनामात्र सिद्ध हो रही है।

—उपाध्याय, हिन्दी विभाग

परिसर परिक्रमा

दयानन्द निर्वाण-शताब्दी व्याख्यानमाला

गुरुकुल कांगड़ी परिसर में दयानन्द निर्वाण-शताब्दी व्याख्यानमाला का शुभारम्भ उत्साह के साथ हुअ। । ३० अगस्त १९८४ को प्रथम उद्घाटन व्याख्यान देते हुए पंजाब विश्वविद्यालय की 'दयानन्द पीठ' के आचार्य एवं अध्यक्ष डॉ० भवानीलाल भारतीय ने आर्य समाज की उपलब्धियों और सीमाओं पर तथा स्वामी दयानन्द के विचार आधुनिकता की कसौटी पर, विस्तार से प्रकाश डाला।

डॉ० भारतीय यहाँ नगर के शिक्षा-शास्त्रियों, बुद्धिजीवियों, पत्रकारों तथा सांस्कृतिक मंचों के प्रतिनिधियों की भारी सभा को सम्बोधित कर रहे थे। उन्होंने कहा कि भारत की राष्ट्रीय जागृति में आर्य समाज का शानदार योगदान रहा है। राजनीतिक जीवन में जो ह्रास तथा जीवन-मूल्यों का विघटन दिखाई दे रहा है, उसके लिए आर्य समाज को एक जोरदार अभियान चलाना होगा। सार्वजनिक जीवन का शुद्धिकरण आज की प्रमुख आवश्यकता बन गया है। हमें यह स्मरण करना होगा कि आर्य समाज को जो प्रारम्भ में सफलता मिली उसका प्रमुख कारण आर्य समाजियों का उदात्त एवं आदर्श चरित्र ही था। स्वामी दयानन्द ने सत्यधर्म की स्थापना की थी। वह उदार तथा मानवतावादी विचारक थे। दलितोद्धार तथा अस्पृश्यता का निवारण आर्य समाज की सामाजिक क्रान्ति के ध्वजवाहक रहे हैं। आर्य समाज मानव समुदाय की एकता का पक्षपोषक रहा है। उसकी दृष्टि में जन्म, रंग, प्रांत, देश, लिंग आदि के आधार पर भेद-भाव की जो रेखाएँ उभर आई हैं वे सर्वथा कृत्रिम हैं तथा मानव समाज की उन्नति में बाधक हैं। उसकी तो यह धारणा रही है कि प्रत्येक वर्ग को शिक्षा-संस्कार तथा सदाचार की दृष्टि से उन्नत बनने का अवसर मिलना ही चाहिये। भारतीय समाज को विषमता, पार्थक्य तथा भेदभाव के वात्याचक्र से मुक्त कर स्वतंत्रता, समता तथा बन्धुत्व का स्वस्थ वातावरण प्रदान करना आर्य समाज का लक्ष्य रहा है। इतना होने पर भी यह देखना चाहिये कि आर्य समाज के आन्दोलन में शैथिल्य, हताशा और दिग्मूढ़ता का समावेश क्यों और कैसे हुआ ? आर्य समाज का तर्काश्रित धर्म और बुद्धिवाद से प्रबोधित मतवाद लोग क्यों स्वीकार न कर सके ? भाव प्रवण निराकारोपासना की सामान्य विधि के अभाव, योगमार्ग की व्यापक शिक्षा की कमी,

वैदिक वाङ्‌मय तथा वेदांगों, उपांगों का दयानन्दसम्मत अर्थ-भाष्य को उपेक्षा तथा प्रचार प्रणाली की जड़ता के कारण हमारा लक्ष्य पूरा नहीं हो सका। दयानन्द के सूत्रों को पकड़ कर वेदों की व्याख्यान प्रणाली हम निश्चित करें तथा उससे आधुनिक समस्याओं का निदान खोजें। वेदों के पारमार्थिक तथा व्यावहारिक पक्षों का उद्‌घाटन कर सर्वप्रथम, स्वामी जी ने ही वेदार्थ-चिन्तन की युगान्तरकारी धारणा विश्व को दी थी।

सभा की अध्यक्षता करते हुए कुलपति श्री बलभद्रकुमार हूजा ने कहा कि आज विश्व जिन विस्फोटक स्थितियों से गुजर रहा है, उनसे मानवधर्म, लोकतंत्र, सामूहिक उन्नति, चारित्रिक-मूल्य तथा राष्ट्रीय एकता को खतरा पैदा हो गया है। अतः इन जटिल समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में स्वामी जी के कार्यों का मूल्यांकन होना चाहिये। स्वामी जी भारतीय नवजागरण के अग्रदूत थे तथा समाज-सुधार, शिक्षा, औद्योगिक तथा वैज्ञानिक उन्नति, स्वतंत्रता, स्वराज तथा धार्मिक नवोत्थान की उन्होंने ही सर्वप्रथम परिकल्पना की थी। आत्मिक तथा भौतिक उन्नति का ऐसा संतुलित उपाय इतने विशद् और व्यवहारिक स्तर पर महर्षि से पूर्व किसी समाज-सुधारक तथा युग-द्रष्टा ने नहीं दिया था।

इसी क्रम में दूसरा व्याख्यान ३१ अक्तूबर १९८४ को आयोजित किया गया। आमन्त्रित व्याख्याता थे, सुप्रसिद्ध विचारक डा० प्रभाकर माचवे। डा० माचवे स्वयं उपस्थित न हो सके। किन्तु उन्होंने अपना चौंतीस पृष्ठों का व्याख्यान 'दयानन्द, गाँधी और मार्क्स' भेज दिया। डा० माचवे ने बताया कि दयानन्द के स्पष्ट विचार थे कि किसी भी समाज में आवश्यकता से अधिक धन का जमाव ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह तथा घृणा पैदा करता है। उनका कहना था कि पूंजी ही विलासिता की जननी है अतः उसका सामाजिक सत्कार्यों के लिए विनियोग आवश्यक है। श्रम और दान जीवन के प्रमुख अंग हों। स्वामी जी विदेशी भाषा तथा विदेशी सत्ता के प्रखर विरोधी थे। उनके आर्य समाज ने अध्यवसाय, मितव्ययिता, दूरदर्शिता तथा निर्व्यसनशीलता का जीवन में मूल्यों की तरह प्रचार-प्रसार किया जबकि गाँधी जी इस अर्थ में समाजवादी थे कि अन्तिम व्यक्ति तक सर्वोदय हो। वे भी देश को साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी शोषण के पंजे से मुक्त कराना चाहते थे। वे जनसाधारण में विश्वास करते थे। उनके समाजवाद का अर्थ था— सर्वोदय। वह अंधों, बहरों तथा गूंगों की राख पर नहीं खड़ा होना चाहते। वह समाजवाद में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के हामी हैं। उनके अनुयाई कई परस्पर विरोधी विचारधाराओं वाले थे, क्राँतिकारी, आंतकवादी, लिबरल नरमदल वाले भी। अर्थशास्त्र, राजनीति, धर्म, अध्ययन, नास्तिकता, धर्म-विरोध— सभी पर गाँधी जी ने एक निपुण भारतीय किसान या मजदूर की दृष्टि से विचार किया था। डॉ० माचवे ने बताया कि स्तालिन

तथा मार्क्स में क्या अन्तर है ? हिन्दी प्रदेशों में मार्क्सवाद क्यों विलम्ब से आया तथा मानवेन्द्रराय की दृष्टि में मार्क्स क्या थे ? आज के भारत को ध्यान में रखकर शस्त्र और शास्त्र विरोध, धर्म और धर्मनिरपेक्षता, रुढ़ि और पाखण्ड-खण्डन, मतवाद और समाज- विकास पर पुनर्विचार आवश्यक है। अन्यथा सही अर्थ में न तो 'सत्य के अर्थ पर प्रकाश' पड़ेगा, न 'पूंजी' की गुलामी से मुक्ति मिलेगी, न 'हिन्दस्वराज्य' और 'नवजीवन' के लाभ 'हरिजन' को भी मिल सकेंगे। उन्होंने इस चर्चा में १८२४ से १९४८ यानी दयानन्द सरस्वती के जन्म से गाँधी के महानिर्वाण की शती की भारतीय चेतना को उजागर किया और यूरोप में और विश्व में कार्लमार्क्स के वैचारिक प्रभाव की चर्चा की।

गोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए विश्वविद्यालय के परिद्रष्टा डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने कहा कि तीनों विद्वानों के विचारों और कार्यों की परिणति देखकर उनके कार्यों की महत्ता आँकनी चाहिए। इस दृष्टि से तीनों अपने लक्ष्य में सफल हुए हैं। भूतपूर्व कुलपति आचार्य प्रियव्रत ने कहा कि दयानन्द को मार्क्स जैसे समर्पित अनुयाई नहीं मिले फिर राज्यसत्ता हथियाने की बात मार्क्सवादियों की तरह, दयानन्दवादियों ने कभी सोची भी नहीं। दिनमान के पूर्व सम्पादक श्री श्यामलाल शर्मा ने माचवे जी की एम०एन० राय विषयक धारणा का खण्डन किया। इस बहस में अनेक स्थानीय महाविद्यालयों के अध्यापकों, पत्रकारों तथा शोध-छात्रों ने भी भाग लिया। बहस की प्रस्तावना में कुलपति श्री बलभद्रकुमार हूजा ने बताया कि राष्ट्रहित में समर्पण, श्रम और दान की वृत्ति वैदिक साम्यवाद का मूल है। भारतीय समाज में सभी वर्ग समान महत्त्व के हैं, यह ठीक है कि वर्ग वैषम्य के कारण अभी वह स्थिति नहीं आ पाई जिसकी कल्पना दयानन्द ने की थी। दयानन्द के इस अध्यात्मप्रेरित साम्य सिद्धान्त को श्रद्धानन्द (१८५६-१९२६) तथा गाँधी (१८६९-१९४८) ने आगे बढ़ाया और कालान्तर में उदारतावादी सुधारकों को उनसे प्रेरणा मिली।

सामाजिक-आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए मार्क्स के अनुयाइयों को बहुत दूर तक सफलता मिली है पर विचार-स्वातंत्र्य तथा व्यक्ति-स्वातंत्र्य की ज्योति वहाँ निष्प्रभ हुई है। भारत में धार्मिक-सामाजिक संगठन के लिए विचार तो हुआ है, पर व्यावहारिक स्तर पर ऊँच-नीच, छुआछूत की भावना पर पूर्ण विजय नहीं प्राप्त की जा सकी। दयानन्द और गाँधी की अध्यात्मप्रेरित लोकक्रान्ति अभी शेष है तथा बुद्धिजीवियों के लिए यह एक सामयिक चुनौती है।

दोनों व्याख्यानों का संचालन हिन्दी-विभाग के रीडर डॉ० विष्णुदत्त राकेश ने किया।

—भोपालसिंह
एम०ए०, हिन्दी (प्रथम वर्ष)

विश्वविद्यालय द्वारा संचालित प्रौढ़-शिक्षा के प्रगति-क्रम का निरीक्षण

२४ जुलाई सन् १९८४ ई० को गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के पुस्तकालय भवन में प्रौढ़ शिक्षा की सलाहकार समिति की बैठक सम्पन्न हुई, जिसकी अध्यक्षता माननीय कुलपति जी, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार ने की। इसमें प्रौढ़ शिक्षा के संचालन, प्रसार, प्रबन्ध तथा प्रशिक्षक-प्रशिक्षण संबंधी विभिन्न विषयों पर निर्णय लिया गया जोकि प्रौढ़ शिक्षा के प्रचार और प्रसार में सहायक सिद्ध हों, तथा ऐसे कारगर उपायों पर भी विचार किया गया जिसमें गांव वाले अधिक से अधिक रूचि लें। और इसी सलाहकार समिति ने प्रौढ़ शिक्षा की कार्यकारिणी का भी गठन किया गया।

२८ जुलाई सन् १९८४ ई० को "प्रौढ़ शिक्षा" कार्यकारिणी की बैठक माननीय आचार्य जी, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार की अध्यक्षता में तथा उन्हीं के कार्यालय में हुई। जिसमें प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम में आने वाली समस्याओं पर विचार किया गया। प्रशिक्षक-प्रशिक्षण की तिथियों का निर्धारण किया गया तथा प्रबन्ध सम्बन्धी सूचना दी गयी।

१ अगस्त सन् १९८४ से "प्रौढ़ शिक्षा" प्रशिक्षकों का प्रशिक्षण कार्य गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार में प्रारम्भ किया गया, जिसमें विभिन्न विषयों के विद्वानों को आमंत्रित किया गया और उन्होंने प्रशिक्षण शिविर में अपनी सेवाओं का योगदान दिया। यह कार्यक्रम ७ अगस्त १९८४ को सम्पन्न हो गया। प्रशिक्षक लोग अपने-अपने निर्दिष्ट स्थानों पर पहुंच गये। जहाँ पर कि उनको प्रशिक्षण कार्य प्रारम्भ कर देना है।

अगली "प्रौढ़ शिक्षा" कार्यकारिणी की समिति की बैठक १० नवम्बर सन् १९८४ को गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के प्रधान कार्यालय में हुई जिसकी अध्यक्षता माननीय कुलपति जी, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने की। इस बैठक में प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रम को अधिक प्रभावी तथा कारगर बनाने पर अधिक जोर दिया गया। प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम में आने वाली बाधाओं के

निराकरण के उपाय सुझाये गये। माननीय कुलपति जी ने अधिक जोर पिछड़े गांवो की तरफ दिया तथा सुझाव दिया कि ज्यादा गांवो को न लेकर सीमित गांव लेकर वहां से निरक्षरता समूल नष्ट की जाये तथा कुछ गांव योजना के अर्न्तगत लिये गये जिनसे निरक्षरता पूर्ण रूप से दूर की जायेगी।

प्रौढ़ शिक्षा की प्रगति के लिए नवम्बर १९८४ ई० में ही दो प्रौढ़ शिक्षा पर्यवेक्षकों को नियुक्त किया गया जिनके द्वारा प्रौढ़ शिक्षा-प्रशिक्षकों के कार्य का अवलोकन तथा प्रगति की समीक्षा की जायेगी।

कार्यक्रम में कार्य की अधिकता को देखते हुए दो पार्ट टाइम क्लर्कों की नियुक्ति की गयी तथा एक पार्ट टाइम चपरासी रखा गया है। उन क्लर्कों के कार्य का विवरण इस प्रकार है— प्रथम क्लर्क हिसाब देखेंगे तथा दूसरे क्लर्क पत्राचार संबन्धी कार्य को देखेंगे।

इन सब कर्मचारियों के अतिरिक्त अतिशीघ्र एक परियोजना अधिकारी को नियुक्त किया जायेगा। इन सबसे प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम में स्टाफ की वृद्धि हुई है जिससे प्रौढ़ शिक्षा का विकास और तीव्र किया जा सकेगा।

अब प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम की प्रगति तथा विस्तार को देखते हुए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से ३० नये केन्द्र और लेने की सिफारिश की जा रही है जबकि ६० केन्द्रों की स्वीकृति विश्वविद्यालय को पहले से ही स्वीकृत है।

प्रौढ़ शिक्षा के पर्यवेक्षकों ने अपना पद-भार सम्भाल लिया है तथा कार्य प्रारम्भ कर दिया है। हमारे पर्यवेक्षक गांव-गांव में जाते हैं तथा जन-संपर्क करते हैं, जिससे यह पता लगाया जा सके कि किस स्थान पर अधिक निरक्षर लोग हैं तथा वहां पर अपना प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र स्थापित किया जा सके। विशेषतया गरीब मजदूर तथा किसानों के पास जाने के आदेश विश्वविद्यालय द्वारा दे दिये गये हैं। इसलिये अधिकतर प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र हरिजन बस्तियों में ही खोले गये हैं।

जिन केन्द्रों पर प्रशिक्षुओं की संख्या कम है, पर्यवेक्षकों को आदेश दिये गये हैं कि वे उनका पता लगायें तथा संख्या पूरी करने के प्रयास करें तथा संख्या कम होने का कारण खोजें।

निकट भविष्य में ही प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम के अन्तर्गत पर्यवेक्षकों तथा प्रशिक्षकों के प्रशिक्षण की योजना बनायी जा रही है।

२५-११-८४ को माननीय कुलपति जी ने प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम का निरीक्षण किया जो कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा कांगड़ी ग्राम तथा गाजीवाला बिजनौर में चलाया जा रहा है। उन्होंने कार्य की समीक्षा की तथा विकास संबन्धी निर्देश दिये।

विभिन्न समस्याओं के होते हुए भी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा संचालित "प्रौढ़ शिक्षा" कार्यक्रम प्रगति की ओर अग्रसर है तथा इसका भविष्य उज्जवल है। जिन गांवों को लक्ष्य बनाया गया है उन्हें पूर्ण करने में शीघ्र ही यह विश्वविद्यालय सफलता प्राप्त करेगा।

—डॉ० त्रिलोकचन्द
संयोजक, प्रौढ़ शिक्षा-विभाग

—**—

गुरुकुल विश्वविद्यालय में माइक्रोबायोलोजी

डा० वी०डी० जोशी
अध्यक्ष, जन्तु-विज्ञान-विभाग

विगत दो दशकों से गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का विज्ञान-महाविद्यालय स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ कराये जाने हेतु सतत् प्रयत्नशील रहा पर कतिपय अपरिहार्य कारणों से यह प्रारम्भ होकर भी संभव न हो सका। इस स्थिति से विज्ञान महाविद्यालय कुछ उपेक्षित सा भी प्रतीत होता था। पर चूँकि विगत दशक की पूरी दो पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान वि०अ०आ० की 'प्लान पैनल कमेटी' ही यहाँ न आ सकी थी, अतः कुछ न किया जा सका।

इस वर्ष फरवरी माह में माननीय कुलपति श्री बलभद्रकुमार हूजा के अथक् प्रयत्न एवं व्यक्तिगत प्रभाव के फलस्वरूप वि०अ०आ० का पैनल, मानो माता सरस्वती के वरदान के रूप में ही इस विश्वविद्यालय में आया। आपसी विचार-विमर्श और तथ्यों ने इस बात की पुष्टि की कि 'विज्ञान महाविद्यालय' के विभिन्न विषयों में स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ होना ही चाहिये। कुलपति श्री हूजा जी की भी हृदय से इच्छा रही है कि विश्वविद्यालय का बहुमुखी विकास हो, और हमारे स्नातकों को नौकरी पाने के लिये दूर-दूर तक एवं देर तक भटकना न पड़े। अतः उनकी सदाशयतापूर्ण संस्तुति के आधार पर ही वि०अ०आ० ने विज्ञान महाविद्यालय में 'जन्तु विज्ञान' एवं 'वनस्पति विज्ञान' विभागों को मिलाकर एक अत्याधुनिक वैज्ञानिक विषय 'माइक्रोबायोलोजी' में स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ करने की स्वीकृति प्रदान की।

गुरुकुल के लिये यह निश्चय ही अत्यन्त गौरव की बात है कि 'पन्तनगर कृषि विश्वविद्यालय' के बाद राज्य में यह एकमात्र 'परम्परावादी' शिक्षा केन्द्र है जहाँ 'माइक्रोबायोलोजी' को पूर्ण विषय के रूप में स्नातकोत्तर कक्षा में पढ़ाया जायेगा। इस उपलब्धि का महत्त्व और भी द्विगुणित हो गया है, क्योंकि (संभवतः) देश का यह पहला विश्वविद्यालय होगा जहाँ स्नातकोत्तर स्तर पर विज्ञान के एक विषय को यू०जी०सी० की 'शिक्षा–परीक्षा सुधार नीति' के अनुसार नूतन 'क्रेडिट प्रणाली' के अनुसार पढ़ाया जाना है। अस्तु !

माइक्रोबायोलोजी क्या है ?

विश्वविद्यालय परिसर के अन्दर, बाहर कई बार परिचितजन यह प्रश्न पूछते हैं। स्वाभाविक भी है। क्योंकि साधारण अथवा सामान्य जनमानस के समक्ष यह एक 'नवीन' विषय है।

'माइक्रोबायोलोजी'—माइक्रोब्स अथवा माइक्रो आर्गेनिज्म (अत्यन्त सूक्ष्म जीवजन्तुओं) के संगठित व्यावहारिक एवं आधारिक पठन-पाठन की विद्या का नाम है। भाषा विन्यास की दृष्टि से यह दो शब्दों की युति से बना हुआ है 'माइक्रोब' + 'बायोलोजी'। अतः स्पष्ट हुआ कि इस विषय के अन्तर्गत हम अत्यत सूक्ष्म जीव-जन्तुओं की, जो प्रायः 'माइक्रोस्कोपिक' हैं (सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखे जा सकते हैं) के जीवनचक्र, रचना, हानि-लाभ, भौगोलिक एवं पर्यावरणीय वितरण उपयोगिता से सम्बन्धित ज्ञान का अध्ययन करते हैं।

'माइक्रोबायोलोजी'—अपने आप में एक पूर्ण नवीन तथा पूर्णतः शुद्ध विषय भी नहीं है। कई अन्य आधुनिकतम विषयों जैसे, साइटोलोजी, जेनेटिक्स, जूलोजी, बौटेनी, वायरोलोजी, बैक्ट्रीरियोलोजी, स्टोटिक्स, कैमिस्ट्री, इकालाजी आदि के समन्वयन से— 'माइक्रोबायोलोजी' को पूर्णता प्राप्त होती है। पर मूलतः इस विषय के निम्न चार एकक हैं—

१. जन्तु : प्रायः एककोषीय जन्तु यथा प्लाजमोडियम (मलेरिया का जीव), एन्टअमीबा (पेचिस का कारण) फाइलेरियल वर्म (हाथी पाँव रोग का कारण) आदि।

२. वनस्पति : कई प्रकार की नन्हीं-नन्हीं एवं बड़ी वनस्पतियाँ यथा पेनीसिलियम, ईस्ट, डायएटम्स आदि।

३. वायरस : अत्यन्त सूक्ष्म विषाणुओं का समूह जो जब तक किसी 'जीवित' जन्तु अथवा पौधे के संसर्ग में नहीं आता, निष्क्रिय ही रहता है, परन्तु जीवन के सम्पर्क में आते ही प्रायः मुसीबत का भंडार बन जाता है। जैसे इनफ्लूएन्जा, चेचक आदि के विषाणु (वायरस)।

४. बैक्टीरिया : यह भी बहुत छोटे जीवाणु होते हैं। लाभदायक भी होते हैं और हानिकारक भी। जैसे दही को बनाने वाले (लैक्टो बैसिलस) या न्यूमोनिया, क्षय और डिप्थीरिया जैसे रोगों के बैक्टिरिया।

आर्थिक महत्त्व :

इन सूक्ष्म जीव-जन्तुओं का [विशाल आर्थिक महत्त्व है। यह ध्यान में रखने की बात है कि 'आर्थिक महत्त्व' के अन्तर्गत हम 'हानि और लाभ' दोनों पक्षों का अध्ययन करते है।

सत्य तो यही है कि इस धरा को कुछ भी धारण करने योग्य यही माइक्रो आर्गिनिज्म (Micro organisms) बनाए हुये हैं। जैविक विकास की दृष्टि से इस पृथ्वी पर सबसे पहले इन्हीं सूक्ष्मजीवियों के नन्हे-मुन्नों ने जोवन का मायाजाल रचा था। आज जो कुछ भी इस 'नक्षत्र'— पृथ्वी पर है उसका 'बीज' रूप एक वायरस-अथवा-बैक्टीरिया अथवा एक 'प्रोकैरियोट' रूपी जीवन का ब्ल्यूप्रिंट ही था। मात्र इसीलिये आज 'जीवन' क्या है ? अथवा जीवन का निर्माण और नियन्त्रण किस तरह होता है ? इसे समझने के लिये 'जैव वैज्ञानिक' मनुष्य, हाथी, घोड़े, चिड़िया, साँप, मेंढक अथवा मछली की कोशिका का अध्ययन नहीं करता— अपितु एक अत्यन्त सर्व सरल रूप की जीवनाकृति— **इश्चरेश्चिया कोलाई**— नाम के हमारे ही एक सहजीवी बैक्टीरिया का अध्ययन करने पर मजबूर है। निश्चय जानिये जिस दिन (और वह दिन अब बहुत दूर नहीं है) मानव इस एक कोषा वाले सरलतम बैक्टिरिया के समस्त क्रिया-कलापों को पूर्णतः समझ लेगा, उस दिन शायद मानव अमरता की परिधि में विचरण करने लगेगा। तो यह है— 'माइक्रोबायोलोजी' के अध्ययन से प्राप्त हो सकने वाली उपलब्धि की मात्र एक झलक।

वर्गीकरण— आर्थिक दृष्टि एवं अध्ययन की सहजता अथवा उपयोगिता की दृष्टि से इस जटिल विषय को आजकल कई तरह से वर्गीकृत करके पढ़ा-पढ़ाया जा रहा है, जैसे—

१. **सोईल माइक्रोबायोलोजी** (Soil Microbiology)— मिट्टी प्रकृति की सर्व-प्रथम प्राकृतिक रचना है, पर स्वयं में जीवनहीन, गन्धहीन, और अनेक जैविक गुणों से सर्वथा रिक्त है। सच जानिये मिट्टी को जीवन निर्माण की शक्ति अथवा जीवन के निमित्त-पोषण देने की शक्ति— वस्तुतः विभिन्न किस्म के माइक्रो-आर्गिनिज्मस् की बदौलत ही मिलती है। जमीन की गीली-गीली सी अथवा ताजा खुदी— कोई सी भो सोंधी-सोंधी सी महक हो, या पूर्णतः सड़ी खाद की उदासीन गन्ध अथवा जैविक अंशों की अन्तिम परिणति—मिट्टी का मक्खन 'ह्यूमस' सब इन्हीं सूक्ष्म जीवों की मेहरबानी है। चट्टान को धीमे-धीमे गलाकर, विदीर्ण कर पोषक मिट्टी के चूर्ण में बदल देना भी इन्हीं का विषय है। इसी हेतु स्ट्रेप्टो-माइसेस, नोकार्डिया, माइक्रोमोनास आदि श्रेणी के सूक्ष्मजीवी होते हैं। भूमि कृमियों का अपना एक अन्य वर्ग है जो लाभदायक भी होता है और हानिकारक भी।

२. **प्लान्ट माइक्रोबायोलोजी** : इस विषयांग के अंतर्गत प्रायः दो प्रकार के सूक्ष्मजीवियों का विस्तृत अध्ययन किया जाता है। प्रथम तो वे जो रचना

के अनुसार 'पादपीय' हैं जैसे फंगस एवं एल्गी की कई किस्में, दूसरे वें जो पौधों से अभिन्न रूप से कई तरह के लाभ अथवा हानि की दृष्टि से संबधित हैं जैसे नाइट्रोसोमोनास अथवा एजो बैक्टर और प्लान्ट निमेटोड्स् । (नोट—अब तो कई विद्वान एग्रीकल्चरल माइक्रोबायोलोजी को एक प्रमुख विषय मानकर उसके अंतर्गत ही भूमि, पादप, अनाज, अभव वन माइक्रोलोजी के अध्ययन को विस्तार दे रहे हैं ।)

३. **एनिमल माइक्रोबायोलोजी :** वस्तुतः इस नाम से काई एक अलग विषय नहीं है। पर यह एक 'भावनात्मक विषय बोध' है । इसके अंतर्गत प्रायः पुनः दो प्रकार के सूक्ष्म जीवों का अध्ययन किया जाता है । प्रथम जो रचनात्मक दृष्टि से 'जंतु' हैं । द्वितीय जो अपने कार्यप्रभाव की दृष्टि से जंतुओं पर आधारित हैं, जैसे इश्चेरीश्चिया कोलाई (कई स्तनधारी जंतुओं की आंतों में रहने वाला एक सहजीवी) प्लाजमोडियम वायवेक्स (मलेरिया का जीव), दाद पैदा करने वाली फंगस, आंखों में जाले पैदा करने वाली फंगस, पेचिश, पायोरिया आदि के जीव, आदि ।

४. **मेडिकल माइक्रोबायोलोजी :** कई प्रकार के सूक्ष्मजीवी मानव, अनेक जीव-जंतुओं अथवा फसलों, फलों, शाक-भाजियों आदि को कई प्रकार से रोगग्रस्त करते हैं। इस तरह मानव समाज के आवश्यक हितों को क्षति पहुँचती है । दूसरी ओर कई प्रकार के सूक्ष्मजीव मानव के हित में इतने आवश्यक हैं कि उनके बिना मानव का स्वस्थ रहना असंभव है । सामान्य जनता के स्वास्थ्य संबंधो रखरखाव हेतु इन नन्हें-नन्हें माइक्रोब्स का अमूल्य योगदान है । रोग प्रतिरोध क्षमता के कई प्रकार के टीके (वैक्सीन), एन्टीबायोटिक्स, रक्तदान सबंधी आवश्यकताएँ इत्यादि का विस्तृत अध्ययन इस अंग के अंतर्गत किया जाता है । इससे संबंधित एक उपविभाग वर्तमान में पब्लिक हेल्थ एण्ड हाइजीन माइक्रोबायोलोजी के नाम से अध्ययन हेतु स्वीकृत है ।

५. **इन्डस्ट्रियल माइक्रोबायोलोजी :**

विभिन्न प्रकार के उद्योगों में 'माइक्रोब्स' महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । जैसे चमड़े की टैनिंग, कागज, पटसन, सन, जूट, रस्सा-उद्योग, मादक पेय पदार्थ यथा बीयर, वाइन आदि, कई प्रकार के एसिड, दवाइयाँ, सिरका आदि का निर्माण-उद्योग कुछ विशेष प्रकार के माइक्रोब्स की दया पर ही निर्भर है ।

६. **एक्वेटिक माइक्रोबायोलोजी :** भोजन से पहले मानवीय आवश्यकताओं में जल का स्थान आता है । साथ ही 'पानी' हमारी कई प्रकार की दैनिक

आवश्यकताओं का एक आवश्यक आधार भी है। इस प्रक्रिया में पानी में कई प्रकार के अवांछित सूक्ष्म जीव-जंतुओं का समावेश हो जाना स्वाभाविक ही है। जैसे चमड़े, दवाइयों के उद्योग में, कृषि संबंधित उद्योगों में, घरेलु सीवर लाइन के द्वारा आदि-आदि। अतः पानी को पुनः किस तरह रिसाइकिल किया जाय; रोगाणु-विषाणु रहित किया जाय अथवा किस प्रकार के जल में किन-किन तरह के माइक्रोब्स की निपति अथवा जीवनचक्र संभव है, महामारियों के प्रसार अथवा रोकथाम में किस प्रकार जल नियंत्रण आदि इस विषयांग के अन्तर्गत आते हैं।

७. फूड एण्ड मिल्क माइक्रोबायोलोजी : आज के वैज्ञानिक युग में विभिन्न प्रकार के अन्तर्देशीय भोजनों की यत्र-तत्र माँग रहती है, फिर हमारे दैनिक उपयोग में भी हर प्रकार के समाज में भोजन निर्माण, उसका अल्पकालिक संरक्षण, बासीपन अथवा अंतरिक्ष यात्रा में भोजन को लम्बे समय तक हानि रहित होने से बचाना, विभिन्न प्रकार के स्वादिष्ट जेली, जैम, अचार, मक्खन, घी, शहद, पनीर को लम्बे समय तक उपयोगी बनाए रखना आदि का अध्ययन इस शाखा के अन्तर्गत किया जाता है। अकाल अथवा दुर्भिक्ष के समय इन सब बातों का महत्व और भी बढ़ जाता है। दूध का पाश्चराइजेशन भी इसी विज्ञान की देन है।

८. इनविरोनमेन्टल माइक्रोबायोलोजी : पूर्व में भी बताया जा चुका है कि माइक्रोब्स इस भू-मंडलीय पर्यावरण के अभिन्न अंग हैं। उदाहरणस्वरूप कल्पना करें यदि माइक्रोब्स घास, फूस, गिरी हुई पत्तियों, बेकार के कपड़े-लत्ते, कागज-पत्तर, मृत जीव-जंतुओं को सड़ाकर मिट्टी में न मिला दें या बहते पानी के कई माइक्रोब्स उस सड़न को पैदा होने से न रोकें या गोबर और पत्तियां और मल-मूत्र एक दुर्गंधरहित खाद में न बदली जा सके तो क्या हमारा पर्यावरण रहने योग्य रह सकेगा। 'गंगा' की पवित्रता और दीर्घकालीन ताज़गी का रहस्य भी अत्यंत सूक्ष्म जीवांशों को ही जाता है। साथ ही पर्यावरण को प्रदूषित कर भयंकर महामारियों के मूल में भी इसी विषय के 'जीव' होते हैं। संबंधित ज्ञान का अध्ययन इसी विज्ञान का एक अंग है।

९. जेनेटिक इंजीनियरिंग : बीसवीं सदी भौतिक विज्ञान से प्रदत्त उद्योग सदी के रूप में मान्य है तो इक्कीसवीं सदी अथवा आने वाला कल निश्चय ही बायलोजी की इस सर्वनूतन शाखा पुत्री—जेनेटिक इंजीनियरिंग का युग होगा। यह प्रायः निर्विवाद है। मानव अथवा पालतु जानवरों में नये अंग प्रत्यारोपण होने हैं, किसी को एक महान वैज्ञानिक, कलाकार, राजनीतिनिपुण, धर्मात्मा, कठोर (फौलादी)पुत्र अथवा पुत्री चाहिये; घुंघराले; काले, नीले, भूरे, बालों वाली संतति चाहिये, किसी दुर्घटना के बाद कोई नया अंग बदलवाना है, गोरे रंग की सुन्दर

संतान चाहिये, डायबिटीज, कैंसर, रतौंधी का इलाज अथवा गुलाब पौधे में आम, नीम के पेड़ में खजूर, २-२ किलो वजन का आलू, आदि २। यह सब संभव होने जा रहा जेनेटिक इंजीनियरिंग की बदौलत । और इसका मूल है इश्चरेश्चिया कोलाई बैक्टिरिया पर किये जा रहे विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक प्रयोग । यह सब भी माइक्रोबायोलोजी का ही प्रभाव है ।

१०. कास्मिक अथवा स्पैस माइक्रोबायोलोजी : मानव आज अंतरिक्ष में विहार करने लगा है। वहाँ की भौतिक एवं रासायनिक परिस्थितियाँ पृथ्वी से सर्वथा भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। जीवन पर उन अनजानो परिस्थितियों का क्या प्रभाव होगा इसके अध्ययन एवं परीक्षण का कार्य और अन्य प्रभावों के अध्ययन में भो माइक्रोब्स का महत्वपूर्ण योगदान होने जा रहा है। अन्तरिक्षीय ग्रहों में जीवन की संभावनाओं की खोज भी वहां से प्राप्त अनेक तथ्यों में जीवाश्मों के सहारे बहुत कुछ निर्भर करती है। अतः यह इस विज्ञान की सबसे नवीन प्रशाखा है।

इस तरह हम देखते हैं कि माइक्रोबायोलेजी का क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसके बिना जीवन का हर पहलू अधूरा–सा लगता है। यह विषय अत्यंत रोचक, समाजोपयोगी, कुछ क्लिष्ट एवं खर्चीला भी है। प्रयोगशाला में विशेष परिस्थितियों अथवा एयर कंडीशन्ड प्रयोगशालाओं में प्रयोगात्मक कार्यों की निपति, साथ ही साथ हमारे नित्य के जल, भोजन, जख्म, रोग, फल, फूल आदि से जुड़ा हुआ यह विषय उतना ही रोमाँचक है जितना हमारे वैदिक वर्णित 'ईश्वर' का विराट स्वरूप । वस्तुतः इस विषय के सूक्ष्माति सूक्ष्म जीवों में ही ब्रह्मांड की विराटता छिपी हुयी है।

अंत में यह कहना उचित ही होगा कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के विज्ञान महाविद्यालय में माइक्रोबायोलोजी विषय में स्नातकोत्तर कक्षाओं का शुभारम्भ, न केवल गुरुकुल विश्वविद्यालय के शिक्षा प्रचार-प्रसार की अनन्यतम उपलब्धि का एक नया सोपान है, यह हरद्वार और प्रदेश के अन्य निकटतर क्षेत्रों के प्रतिभासंपन्न छात्रों को अपना भविष्य संवारने हेतु एक और नया आधुनिक क्षेत्र है। यह भी आशा की जानी चाहिये कि आगामी पंचवर्षीय योजना में विज्ञान के अन्य विषयों में भो स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ होंगी।

—✲✲—

निकष पर

(पुस्तक–समीक्षा)

(समीक्षा के लिए प्रकाशन की दो प्रतियाँ आनी अनिवार्य हैं। एक प्रति भेजने पर प्राप्ति-स्वीकृति ही प्रकाशित की जाएगी।

—सम्पादक)

पुस्तक का नाम — **कल्पसूत्र**
लेखक — **श्री कुन्दनलाल शर्मा**
प्रकाशक — विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, होश्यारपुर (पंजाब)
प्रकाशन-वर्ष — १९८१
पृष्ठ-संख्या — २६ + ६७०
मूल्य — ६० रु०

वैदिक साहित्य के इतिहास से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ प्राप्य हैं, किन्तु उनमें मूल ग्रन्थों के सम्यक् आलोडन से उपलभ्य प्रामाणिक तथ्यों, विविध प्रकाशित समीक्षात्मक पुस्तकों तथा विभिन्न शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों में प्राप्य सामग्री का समाकलन नहीं किया गया है, जिससे वे न तो प्रामाणिक ही हैं और न पूर्ण ही। इस अभाव की पूर्ति की दृष्टि से गुरुवर्य स्वर्गीय कुन्दनलाल शर्मा जी (भूतपूर्व रीडर एवम् अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, सनातन धर्म महाविद्यालय, मुज़फ्फरनगर, उत्तरप्रदेश) ने सात खण्डों में समग्र वैदिक वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास प्रस्तुत करने की बृहती योजना बनाई। इनमें विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होश्यारपुर (पंजाब) से १९८१ ई० में सप्तम खण्ड (कल्पसूत्र) तथा १९८३ ई० में षष्ठ खण्ड (वेदांग) प्रकाशित हो चुके हैं। दुर्भाग्यवश दुर्दैव के क्रुर हाथों ने श्री शर्मा जी को हमसे छीन लिया है। अवशिष्ट खण्डों के प्रकाशन की व्यवस्था उनकी धर्मपत्नी श्रीमती पुष्पा शर्मा जी कर रही हैं। सम्पूर्ण खण्डों के प्रकाश में आ जाने पर निश्चय ही यह वैदिक वाङ्मय का अनुपम तथा सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास-ग्रन्थ होगा।

श्री शर्मा जी ने अपनी योजना के सप्तम खण्ड रूप 'कल्पसूत्र' नामक ग्रन्थ में श्रौतसूत्र, शुल्बसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र इन चार वर्गों में विभक्त 'कल्पसूत्र' नामक साहित्य का विवेचनात्मक तथा समालोचनात्मक विवरण प्रस्तुत किया है; उन्होंने इनके साथ ही पितृमेधसूत्रों तथा प्रवरसूत्रों का भी विवेचन किया है। भूमिकात्मक प्रथम अध्याय में विषय-प्रवेश तथा श्रौतसूत्रों के विकास का संकेत किया गया है; द्वितीय अध्याय में ऋग्वेदीय आश्वलायन तथा शाङ्खायन श्रौतसूत्रों; तृतीय तथा चतुर्थ अध्यायों में कृष्णयजुर्वेदीय बौधायन, वाधूल, मानव, भारद्वाज, आपस्तम्ब, काठक, सत्याषाढ़, वाराह तथा वैखानस श्रौतसूत्रों; पञ्चम अध्याय में शुक्लयजुर्वेदीय कात्यायन-श्रौतसूत्र; षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में सामवेदीय आर्षेयकल्प (अथवा मशक-कल्पसूत्र), क्षुद्रकल्पसूत्र, जैमिनीय, लाट्यायन, द्राह्यायण तथा निदानसूत्र श्रौतसूत्रों और अष्टम अध्याय में अथर्ववेदीय वैतान-श्रौतसूत्र के प्रतिपाद्य विषयों, भाषा-शैली, रचना-काल, प्रणेता, विविध

भाष्यों तथा प्रकाशित संस्करणों का सम्यक् वर्णन है। नवम तथा दशम अध्यायों का विवेच्य विषय शुल्बसूत्र हैं। नवम अध्याय में शूल्बसूत्रों के स्वरूप एवं प्रयोजन आदि के निर्देश के पश्चात् दशम अध्याय में विद्वान् लेखक ने बौधायन, मानव, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशीय (अथवा सत्याषाढ़), कात्यायन, मैत्रायणीय, तथा वाराह शुल्बसूत्रों का विस्तरेण विवेचन किया है। एकादश अध्याय में पितृमेधसूत्रों के स्वरूप एवं प्रयोजन के संकेत के पश्चात् बौधायन भारद्वाज, आपस्तम्ब, मानव, आग्निवेश्य, कात्यायन, कौशिक, सत्याषाढ़–हिरण्यकेशीय, गौतम, कौषीतक, शाङ्खायन, आखलायन, काठक, वैखानस तथा तैत्तिरीय पितृमेधसूत्रों का विशद विवेचन किया गया है। द्वादश अध्याय का विषय प्रवरसूत्र हैं, जिसमें प्रवरसूत्रों के स्वरूप एवं प्रयोजन के उल्लेख के बाद बौधायन, आपस्तम्ब, आश्वलायन, कात्यायन, सत्याषाढ़, मानव तथा वाराह प्रवरसूत्रों का विशद वर्णन है। त्रयोदश से अष्टादश अध्यायों में गृह्यसूत्रों का विवरण है। त्रयोदश अध्याय में गृह्यसूत्रों के विषय एवं प्रयोजन के वर्णन के उपरान्त चतुर्दश अध्याय में आश्वलायन, शाङ्खायन, शाम्बव्य (कौषीतकि) तथा अमुद्रित ऋग्वेदीय गृह्यसूत्रों; पञ्चदश तथा षोडश अध्यायों में बौधायन, मानव, भारद्वाज, आपस्तम्ब, आपस्तम्ब–यज्ञपरिभाषासूत्र, आपस्तम्बीय एकाग्निकाण्ड, काठक, लौगाक्षि, आग्निवेश्य, हिरण्यकेशीय, वाराह, वैखानस, चारायणीय मन्त्रार्षाध्याय, पारस्कर तथा वैजवाप इन यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों; सप्तदश अध्याय में गोभिल कौथुम, खादिर, द्राह्यायण, जैमिनीय तथा अप्रकाशित (गौतम-गृह्यसूत्र तथा छन्दोग-गृह्यसूत्र) सामवेदीय गृह्यसूत्रों; और अष्टादश अध्याय में अथर्ववेदीय कौशिकसूत्र का विशद वर्णन है। सभी ग्रन्थों के वर्णन में यथासम्भव प्रतिपाद्य विषयों, भाषा–शैली, रचना–काल, प्रणेता, भाष्यों तथा प्रकाशित संस्करणों के विवरण दिए गये हैं। एकोनविंश अध्याय में गृह्यसूत्रों के आधार पर विवाह तथा उसके प्रकार; विंश अध्याय में विवाह–संस्कार; एकविंश अध्याय में शिशु–संस्कार (जातकर्म, नामकरण तथा उपनयन), द्वाविंश अध्याय में आह्निककृत्य (होम, पञ्चमहायज्ञ, दर्शपूर्णमास, श्रवणा, आश्वयुजो कर्म, आग्रहायणी कर्म, कृषिकर्म तथा वृषोत्सर्ग); त्रयोविंश अध्याय में अन्त्येष्टिकर्म; चतुर्विंश अध्याय में श्राद्ध, पञ्चविंश अध्याय में श्राद्ध के विविध प्रकार (महापितृयज्ञ, पार्वणश्राद्ध, एकोद्दिष्ट, सपिण्डन, प्रतिसांवत्सरिक श्राद्ध, पिण्डान्वाहार्य, अष्टका श्राद्ध तथा अन्वष्टका) तथा ब्राह्मण भोजन एवं श्राद्ध में प्रयोज्य पदार्थ वर्णित हैं। षड्विंश से अष्टाविंश अध्यायों में धर्मसूत्र–साहित्य का विवेचन किया गया है। षड्विंश अध्याय में धर्मसूत्रों के उद्भव और विकास, धर्मसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों में सम्बन्ध, धर्मसूत्रों तथा धर्मशास्त्रों में सम्बन्ध, और मानव–धर्मसूत्र की समस्या पर विचार किया गया है। सप्तविंश अध्याय में गौतम, बौद्धायन तथा आपस्तम्ब इन प्राचीन धर्मसूत्रों; और अष्टाविंश अध्याय में वासिष्ठ, हारीत, हिरण्यकेशीय, शंख, वैखानस-धर्मप्रश्न तथा विष्णु इन अनतिप्राचीन धर्मसूत्रों के प्रतिपाद्य विषयों, भाषा-शैली

रचना-काल, प्रणेता, भाष्यों तथा प्रकाशित संस्करणों के विवेचन/वर्णन के बाद अन्य धर्मसूत्रकारों (अत्रि, उशना, कण्व, कश्यप, गार्ग्य, च्यवन, जातुकर्ण्य, देवल, पैठीनसि, बृहस्पति तथा भारद्वाज) का परिचय दिया गया है। धर्मसूत्रों का अवलम्बन करते हुए एकोनत्रिंश से चतुस्त्रिंश अध्यायों में क्रमशः वर्ण-व्यवस्था; आश्रम-व्यवस्था; गृहस्थाश्रम; वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम; राज-धर्म; और शुद्धि (अथवा शौच), पाप तथा प्रायश्चित्त का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। विद्वान् लेखक ने सभी विषयों का मूल ग्रन्थों तथा विविध भाषाओं में यत्र-तत्र प्रकाशित समालोचनात्मक ग्रन्थों एवं लेखों के आलोक में सर्वाङ्गीण प्रतिपादन किया है और स्थान-स्थान पर अपनी स्वच्छ, पक्षपातरहित एवम् अनतिवादी दृष्टि का परिचय देते हुए सन्तुलित निर्णय प्रस्तुत किए हैं।

ग्रन्थ के आरम्भ में प्राक्कथन के अतिरिक्त विषय-सूची तथा संक्षेप-सूची; और अन्त में अतीव उपयोगी उद्धरण-सूची, विशिष्ट-पद-सूची, पुस्तक-सूची, तथा शुद्धि-पत्र हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ सभी दृष्टियों से अत्युत्तम है और लेखक के मनोयोग-पूर्वक कठोर परिश्रम एवम् अध्यवसाय का परिचायक है। उन्होंने अभी तक उपलब्ध सम्पूर्ण सामग्री का विवेकपूर्ण उपयोग किया है। विद्वज्जगत् इस वैदुष्यपूर्ण ग्रन्थ के लिए उनका सदैव ऋणी रहेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ सभी दृष्टियों से प्रशंसनीय एवं सभी वेदज्ञों तथा वेदाध्यायियों द्वारा संग्राह्य है।

—**डॉ० मानसिंह**
प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग

—❊❊—

पुस्तक का नाम	—	**'नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती'**
लेखक	—	**डा० भवानीलाल भारतीय**
प्रकाशक	—	वैदिक पुस्तकालय, परोपकारिणी सभा, दयानन्दाश्रम, अजमेर
मूल्य	—	४० रुपये

डा० भारतीय द्वारा रचित—'नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती' मैं दो ही दिन में आद्योपान्त पढ़ गया। आपने जिस परिश्रम से यह अनुसंधान किया है और जिस दिलेरी से अपने विचारों को प्रकट किया है, उसके लिये आप धन्यवाद के पात्र हैं।

स्वामी जी ने अपने तीन वर्ष (१८५७-६०) के अज्ञातवास पर कोई प्रकाश नहीं डाला। इसका कारण यह भी हो सकता है कि वह यदि ऐसा करते तो तत्कालीन ब्रिटिश अधिकारियों के कोप का शिकार होते और देश के उत्थान का जो लक्ष्य उन्होंने अपने सामने रखा था, उसमें यथेष्ठ योगदान न दे सकते।

इस पुस्तक में यह भी संकेत है कि जब उन्होंने जोधपुर राजा को ब्रिटिश सरकार के किसी पत्र का उत्तर देने के लिए प्रेरणा दी तो उससे वे ब्रिटिश सरकार के कोपभाजन बने।

अलबत्ता यह अनुसंधान का विषय है कि तत्कालीन जोधपुर नरेश उनसे राज-काज के सम्बन्ध में परामर्श लिया करते थे, अथवा नहीं। वैसे तो जो अन्यमनस्कता जोधपुर नरेश ने उनके जोधपुर प्रवास में दिखलाई उससे तो ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उन्होंने स्वामी जी से परामर्श लिया हो।

डा० भारतीय के अनुसंधान से यह स्पष्ट है कि स्वामी जी सत्य को ग्रहण करने के लिये सर्वदा उद्यत रहते थे। जब कभी उनके अपने पूर्व विचार त्याज्य हो जाते थे तो वे किसी प्रकार के पूर्वाग्रह के बिना अपने विचारों को सत्य और न्याय के अनुसार परिष्कृत करने में हिचकिचाते नहीं थे।

आपने यह भी स्पष्ट किया है कि स्वामी जी अपने अनुयायियों में किसी प्रकार की त्रुटि को सहन नहीं करते थे। वे उन्हें सदाचारी और संयमी देखना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने मुन्शी बख्तावरसिंह, इन्द्रमणि और कर्नल अलकाट को उनकी त्रुटियों के कारण अपने से अलग कर दिया। वे जोधपुर नरेश जैसे शक्तिशाली राजा का क्षत्रियोचित व्यवहार न देखकर रुष्ट हुए और उन्होंने अपना रोष निर्भीकता से प्रकट किया। उदयपुर नरेश उनके अनन्य भक्त थे,

किन्तु जब उदयपुर नरेश ने उन्हें मूर्तिपूजा का खण्डन न करने के उपलक्ष में एकलिंग जी की गद्दी देने का प्रस्ताव रखा तो स्वामी जी ने कहा "मैं मेवाड़ प्रदेश को तो एक छलाँग में छोड़ सकता हूं, लेकिन भगवान के राज्य को किस प्रकार छोड़ूंगा।'

डा० भारतीय की यह पुस्तक साधक, गुरुजन और शिष्यों के लिये प्रेरणादायी सिद्ध होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

कहना न होगा गुरुवर विरजानन्द के जीवन पर भी इसी प्रकार के अनुसंधान की आवश्यकता है। क्या डा० भारतीय के द्वारा यह कार्य भी सम्पन्न हो सकेगा ?

—बलभद्रकुमार हूजा
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

—❀—

पुस्तक का नाम	—	**ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यम्–खण्ड १, २** **भामती व्याख्या**
सम्पादक-भाष्यकार	—	**स्वामी योगीन्द्रानन्द न्यायाचार्य, मीमांसातीर्थ**
प्रकाशक	—	षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठानम्, वाराणसी
मूल्य	—	६०+८०=१४० रुपये
पृष्ठ संख्या	--	१३७८

उदासीन सम्प्रदाय के उद्भट् दार्शनिक विद्वान् स्वामी योगीन्द्रानन्द ने न्याय और वेदान्त दर्शन के प्रौढ ग्रन्थों की निर्मल तथा विशद् टीकाएँ की हैं। खण्डनखण्डखाद्य जैसे जटिल दुरूह ग्रन्थ से लेकर चित्सुखी, न्यायामृताद्वैत-सिद्धि जैसे क्लिष्ट ग्रन्थों तक का सम्पादन तथा पाण्डित्यपूर्ण विवेचन-विश्लेषण उन्होंने किया है। विश्वविद्यालयों के आधुनिक परिपाटी से पढ़ने–लिखने वालों को इन ग्रन्थों के प्रांजल तथा टकसाली हिन्दी में टीका-सम्पादनों से बड़ा लाभ हुआ। साहित्यशास्त्र में जैसे आचार्य बिश्वेश्वर ने टीका सम्पादन कर अनेक आकर–ग्रन्थों का द्वार अनुसन्धाताओं के लिए खोल दिया, वेदान्त और न्याय के ग्रन्थों में विश्वविद्यालयोय अनुसन्धाताओं का मार्गदर्शन उसी प्रकार स्वामी योगीन्द्रानन्द जी के ग्रन्थों ने किया। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के विद्वान्, छात्र तथा अनुसन्धाता उनके निकट सम्पर्क में बने रहते हैं। देश से बाहर भी उनके ग्रन्थों की पर्याप्त खपत है और दर्शन क्षेत्र का शायद ही कोई प्रबुद्ध व्यक्ति ऐसा हो जिसने उनके ग्रन्थों का स्वाध्याय न किया हो।

ब्रह्मसूत्र वेदान्त का प्रतिपादक आधार ग्रन्थ है। आचार्य शंकर ने शारीरकमीमांसाभाष्य लिखकर अद्वैतवेदान्त का प्रतिपादन किया। अद्वयवाद के प्रबल विरोधक भेदाभेदवादी आचार्य भास्कर ने शांकरभाष्य के सर्वथा निराकरण के लिए ब्रह्मसूत्रभाष्य की रचना की—

सूत्राभिप्राय संवृत्या स्वाभिप्रायप्रकाशनात्
व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये।

इसमें जीव और ईश्वर के भेदाभेद उपपादन के साथ जीव को ईश्वर का अंश बताया गया था। आचार्य भास्कर परिणामवाद के भी समर्थक थे। आचार्य भास्कर के मन्तव्यों का युक्तियुक्त खण्डन मैथिली विद्वान् श्री वाचस्पति मिश्र ने भामती टीका में किया। भामती के महत्त्व को नकारते हुए यद्यपि प्रगटार्थकार ने मिश्र जी को 'मण्डनपृष्ठसेवी सूत्रभाष्यायनिभिज्ञः' कहा है तथापि 'भामती

व्याख्यान कल्पतरु' में मिश्र जी की नीर-क्षीर विवेकी बुद्धि का समर्थन मिलता है। भामतीकार ने मण्डन मिश्र और मीमांसाकारों के मन्तव्यों तथा अनुचित वक्तव्यों का खण्डन करते हुए भी इस बात का ध्यान रखा है कि उनका उचित तथा संगतपक्ष उपेक्षित न हो। मीमांसा के अन्य ग्रन्थ शाबरभाष्य, मीमांसा वार्तिक, बौद्ध ग्रन्थ प्रमाण वार्तिक तथा जैनग्रन्थ आप्तमीमांसा को उद्धृत कर भामतीकार ने शबरस्वामी, कुमारिल भट्ट, धर्मकीर्ति तथा श्रीमन्त भद्र की रचनाओं के प्रति अपनी पूर्ण जानकारी व्यक्त की है। वेदान्त की व्याख्या में भामती एक स्वतन्त्र प्रस्थान है। इसके विपरीत श्री प्रकाशात्म मुनि का 'पञ्चपादिका विवरण' भिन्न प्रस्थान है। स्वामी योगीन्द्रानन्द जी ने ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड की भूमिका में इस प्रस्थानभेद को स्पष्ट किया है। भामती पर प्राचीन ग्रन्थ श्री अमलानन्द सरस्वती कृत कल्पतरु है। इसमें अनुभूति स्वरूपाचार्य के प्रगटार्थ का खण्डन किया गया है। सम्प्रति कल्पतरु पर दो टीकाएँ प्रकाशित हैं (१) अप्पयदीक्षित कृत कल्पतरुपरिमल तथा (२) श्री लक्ष्मीनृसिंह कृत आभोग। एक अपूर्ण टीका ऋजुप्रकाशिका है, शेष टीकाएँ भी अपूर्ण हैं और पाण्डुलिपियों के रूप में सुरक्षित हैं। स्वामी जी ने भामती व्याख्या के साथ शांकर भाष्य प्रकाशित कर एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। मूलग्रन्थ, भाष्य और भामती का एकत्र आकलन कर लेखक ने भामती की हिन्दी व्याख्या दी है।

परिशिष्ट में आत्रेय, आश्मरथ्य, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनी, काशकृत्स्न, जैमिनि बादरायण तथा बादरि नाम घटित २९ सूत्रों की सूची देकर वर्णानुक्रम से बादरायणप्रणीत ब्रह्मसूत्रों की तालिका दी गई है। ग्रन्थ के किस-किस पृष्ठ पर भामती के ११५ श्लोकों में से कौन-कौन उद्धृत हैं, इसका संकेत दिया गया है। तदुपरान्त एक और परिश्रम तथा पाण्डित्यपूर्ण कार्य किया गया है और वह यह कि भाष्य तथा भामती में उद्धृत वाक्यों के उपजीव्य ग्रन्थ कौन हैं तथा वे वाक्य किस ग्रन्थ के किस प्रकरण से लिए गए हैं, इसका विवरण भी आकलित किया गया है। जैसे भाष्य भामती में पृष्ठ, १०२७ पर ज्योतिष्टोम के प्रसंग में 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' मंत्र उद्धृत है, शोधार्थी यदि इसका मूल संदर्भ देखना चाहे तो उसे तैत्तिरीय संहिता देखनी होगी। सम्पादक ने परिशिष्ट में इसका संदर्भ (तै०सं० १।१।४।१) दे दिया है। लगभग २ हजार दो सौ छत्तीस वाक्यों के स्रोतग्रन्थ संदर्भ सहित दिए गए हैं। इनमें 'अक्रोधः सर्वभूतेषु कर्मणा' जैसे १०८ वाक्य ऐसे हैं जिनके मूल स्रोत अभी अज्ञात हैं और नहीं दिए जा सके। वेदान्त के खोजी विद्वानों के लिए यह चुनौती है। आशा है कोई इस ओर भी ध्यान देगा। सम्पादक ने कुछ जगह मात्र ग्रन्थ का उल्लेख किया है उद्धृत श्लोक का संदर्भांक नहीं दिया जैसे पृष्ठ २ पर 'ज्ञानं विरागमैश्वर्यं' को वायु पुराण का बताया गया है पर संदर्भ नहीं दिया गया। पृष्ठ

१३२ पर 'सप्त द्वीपा वसुमती' को महाभाष्य का बताया गया है पर मूल संदर्भ नहीं दिया गया। यही स्थिति पृष्ठ ११५२ पर उद्धृत 'इयमेव जुहूरादित्यः कूर्मः स्वर्गोलोक आहवनीयः' वाक्य की है, इसे छान्दोग्य का कहा गया है पर ठीक स्थान का उल्लेख नहीं। इसी प्रकार पृष्ठ ६४८ पर भामतीकार ने 'येन यस्याभि सम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः' श्लोक बृहट्टीका के नाम से उद्धृत किया है पर इसका भी संदर्भांक उपलब्ध नहीं होता। मूलग्रन्थ में कहीं पर भी संदर्भांक नहीं दिए गए थे। सर्वप्रथम स्वामी जी ने ही इस ग्रन्थ में इन वाक्यों की अकारादिक्रम से सूची बनाकर इनके संदर्भ और संदर्भांक दिए हैं। यह सामग्री जहाँ शोधार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होती है वहाँ स्वामी जी के विशद अध्ययन का परिचय भी देती है। विद्वान् सम्पादक ने सम्पूर्ण ग्रन्थ में उद्धृत ९७ ग्रन्थों के संकेत-विवरण तथा प्रकाशन स्थान भी दे दिए हैं। इनमें वैदिक, पौराणिक तथा वैदिकेतर ग्रन्थ सम्मिलित हैं।

लेखक की भाषा-शैली विषय का निर्भ्रान्त प्रतिपादन करने में समर्थ है। भामतीकार को स्पष्ट करने के लिए अपनी ओर से भी लेखक ने टिप्पणियाँ दी हैं और उन्हें कोष्ठ में रखकर स्वकीय योजना को मूल ग्रन्थकार की योजना से पृथक् भी कर दिया है। जैसे 'सम्बन्धि शब्द प्रत्यय व्यतिरेकेण' प्रकरण में लेखक ने धर्मकीर्ति का 'शब्दज्ञाने विकल्पेन वस्तु भेदानुसारिणा' श्लोक उद्धृत किया है अथवा विष्णुपुराण (६।३।४), वायुपुराण तथा यजुर्वेद (१७।२) के साक्ष्य पर एकत्वादि संख्या की सूचिका रेखा का अपनी पार्श्ववर्तिनी रेखाओं की अपेक्षा दस, सौ आदि विभिन्न शब्दों से व्यवहृत होने को प्रमाणित किया गया है।[1] भामतीकार केवल कहता है—'तथाऽण्वात्ममनसाम् इति'।[2] पर स्वामी जी इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि निरवयव परमाणु का संयोग संभव नहीं अतएव वसुवन्धु ने छहों दिशाओं के साथ संयोग स्थापित करने के लिए छह अवयवों का आपादन किया है—'षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता' (विंशिका ११)।[3] वैशेषिक दर्शन के खण्डन के संदर्भ मे यह विवेचन है। स्वामी जी ने इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी विषय को स्पष्ट करने के लिए अपनी ओर से लिखा है।

भामती की शैली और प्रक्रिया घोर श्रमसापेक्ष हैं। इस क्लेशबहुल कार्य का सम्पादन और भाष्य का विवेचन-विशदीकरण भी सामान्य कार्य नहीं। इस कार्य को वही सम्पन्न कर सकता था—जो भारतीय दर्शनों के उत्स का पारंगत विद्वान् हो तथा दर्शनों के अविरोधी-विरोधी सम्प्रदायों का विलक्षण

१—ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य भामती विवरण—पृष्ठ ६७२

२— वही —पृष्ठ ६७३

३— वही —पृष्ठ ६७३

पण्डित हो। स्वामी योगीन्द्रानन्द जी वैदिक-अवैदिक दार्शनिक धाराओं के गहरे जानकार हैं उनका यह ग्रन्थ जहाँ उनके वेदान्त ज्ञान का दिग्दर्शन कराता है, वहाँ उनके अनुसन्धान सापेक्ष दृष्टिकोण को भी स्पष्ट करता है। इस कृति को हम उनकी प्रतिभा और तलस्पर्शी मेधा, तर्कणा तथा संयोजना का उज्ज्वल निकष मानते हैं।

आशा है, स्वामी जी के अन्य ग्रन्थों की तरह इसका भी पौर्वात्य तथा पाश्चात्य विद्वानों में पूर्ण समादर होगा। जीवभूमि से ब्रह्मभूमि की ओर आरूढ़ होने वालों के लिए भामती सोपान है और इस पर चढ़ा जा सकता है, 'योगीन्द्र' की व्याख्याङ्गुलि पकड़ कर। पुस्तकालयों के लिए तो इसका संग्रह नितान्त अपरिहार्य है।

इस उत्तम ग्रन्थ के आधुनिक वैज्ञानिक शैली पर सम्पादन के लिए स्वामी जी को बधाई।

—डॉ० विष्णुदत्त राकेश

—*—

पुस्तक का नाम	—	**बृहस्पति देवता**
लेखक	—	**वेदमार्तण्ड पंडित भगवद्दत्त वेदालङ्कार**
प्रकाशक	—	श्री सरस्वती सदन, नयी दिल्ली-२९
मूल्य	—	अजिल्द ३० रु०, सजिल्द ४० रुपये

स्वामी दयानन्द के बाद तत्वचिन्तक मनीषियों का ध्यान एक बार फिर वेदों की ओर गया। वेद तथा ब्राह्मण, प्रातिशाख्य, उपनिषद आदि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के प्रकाशन, मुद्रण, भाष्य एवं टीका–टिप्पणियों की जैसे धारा-सी प्रवाहित होने लगी। धीरे-धीरे वेद के एक-एक पक्ष को लेकर विचार चिन्तन का अंकुरण हुआ। इसमें वैदिक धर्म एवं दर्शन पर पूर्व एवं पश्च के मनीषियों की प्रज्ञा से अनेक सुन्दर पुष्प खिले। इसी प्रकरण में वैदिक देवताओं की सुगन्ध ने भी दिग्-दिगन्त को व्याप्त किया।

वैसे तो वैदिक देवों पर इधर अनेकों पुस्तकें प्रकाश में आयीं। स्वयं लेखक की इससे पूर्व ऋभु देवता, विष्णु देवता, सविता देवता आदि भी आ चुकी हैं। उसके बाद यह नयी कृति हमारे सम्मुख है। इन सभी देवों के ऊपर दृष्टिपात् करने से यह स्पष्ट है कि (इन्द्र, अग्नि, रुद्र आदि प्रसिद्ध देवों पर तो बहुतों ने कलम उठाई है) प्रायः लघु देवताओं को ही लेखक ने वरीयता दी है तथा बड़ी सफलता के साथ उनके स्वरूप को चित्रित किया है।

बृहस्पति देवता संहिता और ब्राह्मण इन दो भागों तथा २१ (इक्किस) अध्यायों में विभक्त है। जिनमें बृहस्पति के विभिन्न स्वरूपों को स्पष्ट किया है। उदाहरणार्थ सर्वप्रथम व्युत्पत्ति देते हुए बृहत् शब्द की विस्तृत व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है, जिससे बृहस्पति का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकरण में द्यु लोक से भी उसका सम्बन्ध दिखाया गया है। स्मरणीय है कि बृहस्पति पृथिवी स्थानीय देवता है।

द्वितीय अध्याय में बृहस्पति शब्द से एकदम देव-गुरुत्व का स्मरण होना स्वाभाविक है। गुरु का शिष्यों के साथ सम्बन्ध कैसा हो, जो मन, बुद्धि व इन्द्रियों को सशक्त एवं समर्थ बनाकर उन्हें ज्योतिष्मान पथ पर अग्रसर कर सके, यह तभी सम्भव है जब रज व तम को घर्षित करते हुए सत्वगुण को प्राधान्य प्रदान किया जाए। इस सम्पूर्ण लम्बे व कठिन मार्ग में बृहस्पति का निरन्तर मार्ग–निर्देशन ही शिष्य के मन, बुद्धि व इन्द्रियों को वश में लाता है। इसी को बृहस्पति का गो-रक्षण कहा जाता है।

वैदिक देवों में स्पष्ट रेखाङ्कन सरल कार्य नहीं है। कभी एक कर्म एक ही देवता करता है तो कभी उसी कार्य को अन्य देव के साथ भी जोड़ दिया जाता है। कभी भिन्न प्रतीत होने वाले दो देवता वस्तुतः एक ही होते हैं। यह स्थिति बृहस्पति एवं ब्रह्मणस्पति के बारे में और भी अस्पष्ट है, क्योंकि प्रायः बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति के सूक्त तो अलग-अलग पढ़े गये हैं, पर उनकी व्युत्पत्ति व गुण-धर्म समान हैं। इतना साम्य होते हुए कुछ वैषम्य भी हैं, उदाहरणार्थ संहिताओं में बृहस्पति को कहीं भी पुरोहित का विशेषण नहीं दिया गया, परन्तु ब्राह्मणों में उसे "बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः" ऐतरेय ८.२६ कहा गया है। जबकि ऋग्वेद २-२४-९ (स सन्नयः स विनयः पुरोहितः) में ब्रह्मणस्पति के लिए इस विशेषण का प्रयोग किया गया है, वैसे यह पद अग्नि के लिए विभिन्न स्थलों पर (ऋग्वेद-१-१-१ आदि) प्रयुक्त किया गया है। इन प्रमाणों से बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति की एकता संदिग्ध हो जाती है। साथी ही संहिताओं में ब्रह्म को भी बृहस्पति कह दिया गया है— "ब्रह्म वै बृहस्पति" (मैत्रायणी संहिता-२-२-३)। परन्तु ब्रह्म व बृहस्पति का पार्थक्य सर्वथा स्पष्ट है। इनका यदि और भी स्पष्टीकरण होता तो पाठक के लिए यह विषय और भी सुगम एवं शंकारहित हो सकता था। यद्यपि लेखक ने इस ओर प्रयास किया है।

पुस्तक के चतुर्थ अध्याय का प्रारम्भ भी आदित्य एवं बृहस्पति देवता के सूक्त (अथर्ववेद-४-११) "ब्रह्म जज्ञानं···" से होता है। यह मन्त्र यजुर्वेद-१३-३, सामवेद-१-३२१ में भी प्राप्त होता है। जैसा कि मन्त्र के प्रारम्भिक भाग से ही सूचित होता है इसमें जगत की उत्पत्ति का प्रकरण है। लेखक ने इस मन्त्र के रुक्म धारण में विनियोग का अच्छा स्पष्टीकरण दिया है। तथा इस सूक्त का बृहस्पतिपरक अर्थ भी दिया है जबकि सायणाचार्यादि भाष्यकार केवल आदित्यपरक अर्थ ही करते हैं।

लेखक जब बृहस्पति व गणेश (गणपति) को भी एक ही कहता है तो जिज्ञासा अत्यन्त बढ़ जाती है। लेखक ने "गणानां त्वा गणपति···' आदि मन्त्र (यजुर्वेद-२३-१९) जो अश्वमेध प्रकरण में पढ़ा गया है, का अर्थ का पृथक् किया है। उनके अनुसार अश्व राजा का प्रतिनिधित्व करता है। इससे उन विद्वानों की मान्यता का तो स्पष्ट ही खण्डन हो जाता है जो गणपति को अनार्य देवता कहते हैं। अपने इस भाव की पुष्टि में लेखक ने त्रिचुरापल्ली मद्रास के एक मन्दिर का भित्ति चित्र भी प्रस्तुत किया है। जिसमें राजा पर अश्व आरूढ़ है अर्थात् राष्ट्र में राजा ही अश्व है। जैसे— द्यु-लोक में आदित्य अश्व है।

गणेश व ब्रह्मणस्पति का एकत्व प्रदर्शित करने के लिए लेखक ने अनेक उदाहरण भी दिये हैं जैसे कि ऐतरेय ब्राह्मण-४-४ में कहा गया है कि "गणानां त्वा गणपतिं हवामहे इति ब्राह्मणस्पत्यम्" इसी प्रकार ऋग्वेद-२-२३-१ में भी

गणपति एवं ब्रह्मणस्पति का एक साथ पाठ है। इसी प्रकार मैत्रायणी संहिता-२-२-३ में कहा गया है कि "बृहस्पतिर्गणी, स्वां वा एतद् देवतां भूयिष्ठेनार्पयति सजातैरेनं गणिनं करोति" जिनसे गणेश के स्वरूप पर पुनः विचार आवश्यक हो ही जाता है। इस पक्ष में कुछ अन्य प्रमाण भी लेखक ने प्रस्तुत किये हैं। यथा—बृहस्पतिं हवाम हे विश्वतः सगणं वयम्। …मैत्रायणी संहिता-४-१२-१; बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये…ऋग्वेद-५-५१-१२। इससे देवों के अध्ययन में एक नया मोड़ आ सकता है। इसी प्रकरण में रुद्र के गणपतित्व का भी स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया गया है पर वह और अधिक व्याख्या की अपेक्षा करता है। क्योंकि रुद्र, वसु और आदित्य तो गण देवता हैं किन्तु इन गण देवों में बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति की चर्चा कहीं नहीं प्राप्त होती।

इन्द्र के साथ बृहस्पति के द्वारा भी असुर विनाश का कार्य होता है। असुरों के साथ वाक्-युद्ध में बृहस्पति का महत्त्व स्पष्ट ही है। बहुत से मन्त्रों में इस वाक् युद्ध का वर्णन हमें प्राप्त होता है। यदि बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति को एक मानकर हम पुरोहित (विशेषण) को राजा इन्द्र के साथ संग्रामों में भाग लेते हुए भी देख सकते हैं। पुरोहितों का सग्राम में राजा का साथ देना कोई नयी बात नहीं है। वैसे ब्रह्मणस्पति भी इन आसुरी शक्तियों को समाप्त करने के लिए धनुष धारण करता है (ऋग्वेद– २–२४–८) इसमें ऋत् की ज्या है जो स्पष्ट ही अज्ञान या तम पर ज्ञान या प्रकाश की विजय की सूचक है। इसके अतिरिक्त शम्बर (ऋग्वेद—२–२४–२) पणि, (ऋग्वेद—२–२४–६) का धर्षण भी वे करते हैं। इतना ही नहीं त्रिपुर का भी विनाश करते हैं—"घ्नन वृत्राणि विपुरोदर्दरीति" (ऋग्वेद—६–७३–२) जो रुद्र के लिए प्रसिद्ध है।

ब्रह्म को बृहस्पति मानकर ब्रह्मजाया अर्थात् बृहस्पति की पत्नी एवं बृहस्पति के पशुओं की बड़ी सुन्दर एवं विचारपूर्ण आध्यत्मिक व्याख्या लेखक द्वारा प्रस्तुत की गयी है। "……… तेनजायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुहवं न देवाः ।।"

बृहस्पति के वशा सम्बन्धी मन्त्रों की व्याख्या करके वशा के एक नवीन अर्थ की उद्भावना की गई है। जो सायण या सातवलेकर आदि की अपेक्षा अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होती है। वशा को योगियों का ज्योतिष्पुन्ज (Aura) कहा गया है। जैसा कि अथर्ववेद १०–१०–१९ करता है—

> ऊर्ध्वो बिन्दुरुदचरद् ब्रह्मणः ककुदादधि।
> ततस्त्वं जज्ञिषे वशे ततो होताजायत ।। तथा
> "वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः"

इत्यादि से वशा का गोत्व जाति का प्राणि होना खण्डित हो जाता है।

बृहस्पति का क्रौञ्च पक्षी से सम्बन्ध 'क्रौञ्चः बृहस्पतिः' छान्दोग्योपनिषद्-२-२२-१ तथा प्रसंगवश निरुक्त में वर्णित शन्तनु एवं देवापि की कथा का स्पष्टीकरण भी लेखक ने किया है। इसके साथ ही बृहस्पति का फालमणि से सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है। यहाँ अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत 'खेत' अर्थ को स्वीकार न करते हुए उसका अर्थ दिव्यगुणयुक्त अन्न किया है।

बृहस्पति के बारे में वर्णन करते हुए १६ (सोलह) वें अध्याय में पौरस्त्य तथा पाश्चात्य विद्वानों की बृहस्पति के बारे में सम्मतियाँ दी गई हैं। जो तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें सायण, अरविन्द, दयानन्द, मैक्डानल आदि प्रमुख हैं। यहाँ तक प्रथम भाग समाप्त हो जाता है। शेष ५ (पाँच) अध्याय ब्राह्मणों पर आधारित हैं।

पुस्तक के १७ (सत्रह) वें अध्याय में लेखक ने बृहस्पति व ब्रह्मा का एकत्व सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसलिए बृहस्पति ही यज्ञ का ब्रह्मा है, और ब्रह्मात्व से ही वह यज्ञ के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करता है। १९ (उन्नीस) वें अध्याय में प्रजापति के अपनी दुहिता का पीछा करने की तथा रुद्र द्वारा विद्ध होने एवं प्राशित्र भक्षण की क्रिया का सुन्दर सामञ्जस्य किया है, उसकी व्याख्या भी लेखक की अपनी है। इसी प्रकार वाजपेय यज्ञ का भी बृहस्पति से सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

इन २१ (इक्कीस) अध्यायों के बाद अन्त में बृहस्पति सम्बन्धी मन्त्रों का संकलन करके उनकी व्याख्या की गई है, जिससे पुस्तक और भी महत्वपूर्ण हो गई है। पुस्तक देखते ही अपनी ओर आकृष्ट करती है। कागज़ एवं छपाई सुन्दर है। मुद्रा राक्षसों का अभाव अत्यन्त सन्तोषजनक है। अतः शुद्धि-पत्र लगाने की आवश्यकता नहीं है तथा पाठक के लिए कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती। इसके लिए लेखक व प्रकाशक दोनों ही बधाई के पात्र हैं। विषय की विशदता एवं गम्भीरता के साथ ही लेखक का चिन्तन अपनी स्पष्ट एवं स्थायी छाप छोड़ता है। एक नवीन विचार-चिन्तन की प्रेरणा देने में भी पुस्तक सक्षम है।

—डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार
रीडर, वेद-विभाग

—❀—